

BAPS(N)-301

**अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत
(Theory of International Politics)**



राजनीति विज्ञान विभाग

(समाज विज्ञान विद्याशाखा)

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

BAPS(N)-301

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत

(Theory of International Politics)



उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
तीनपानी बाई पास रोड, ट्रान्सपोर्ट नगर के पास, हल्द्वानी- 263139
फोन नं. 05946 - 261122, 261123
टॉल फ्री नं. 18001804025
फैक्स नं. 05946-264232, ई-मेल info@uou.ac.in
<http://uou.ac.in>

पाठ्यक्रम समिति

प्रो. गिरिजा प्रसाद पाण्डे, निदेशक – समाज विज्ञान विद्या शाखा, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी नैनीताल	
प्रो अशोक शर्मा . राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा	प्रो. मधुरेन्द्र कुमार (विशेष आमंत्रित सदस्य) राजनीति विज्ञान विभाग कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल
प्रो० एम०एम० सेमवाल राजनीति विज्ञान विभाग केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गढ़वाल	डॉ० सूर्य भान सिंह असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय , हल्द्वानी, नैनीताल

पाठ्यक्रम संयोजन एवं सम्पादन

डॉ० सूर्यभान सिंह - असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय , हल्द्वानी, नैनीताल सह सम्पादन - हिमांशु पुनेठा, असिस्टेंट प्रोफेसर- राजनीति विज्ञान, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

इकाई लेखक

इकाई संख्या

डॉ. सुभाष शुक्ल – असिस्टेंट प्रोफेसर-सेंटर फार ग्लोबलाइजेशन एंड डवलपमेंट इलाहाबाद वि.वि.इलाहाबाद	1,2,9
पंकज कुमार झा, दिल्ली विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं	3
प्रवीण कुमार झा - असिस्टेंट प्रोफेसर- राजनीति विज्ञान - दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली दीपक कुमार मिश्र - राजनीति विज्ञान शोधार्थी - दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली रवि कुमार चौधरी - असिस्टेंट प्रोफेसर- राजनीति विज्ञान - दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली	4
प्रवीण कुमार झा - असिस्टेंट प्रोफेसर- राजनीति विज्ञान - दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली दीपक कुमार मिश्र - राजनीति विज्ञान शोधार्थी - दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली	5,7
डॉ. सुमन - सेंटर फार साउथ एशियन स्टडीज, स्कूल आफ इंटरनेशनल स्टडीस (जे.एन.यू.)	6
डॉ. आदित्य नारायण मिश्र सत्यवती कालेज दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली	11
निशा - शोधार्थी - राजनीति विज्ञान - दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली	12
डॉ. सुमन - सेंटर फार साउथ एशियन स्टडीज, स्कूल आफ इंटरनेशनल स्टडीस (जे.एन.यू.) निशा - शोधार्थी - राजनीति विज्ञान - दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली	10
हिमांशु पुनेठा, असिस्टेंट प्रोफेसर- राजनीति विज्ञान, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय	13
दिग्विजय सिंह पथनी, असिस्टेंट प्रोफेसर- राजनीति विज्ञान, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय	14

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष -2025

Published by : उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी नैनीताल , 263139

Printed at :-----

संस्करण :2025 , सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन की प्रति।

सर्वाधिकार सुरक्षित इस प्रकाशन का कोई भी अंश |उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए
बिना मिनियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है

मुद्रित प्रतियां

अनुक्रम

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एवं भारत

BAPS(N) -301

पृष्ठ

संख्या

इकाई क्रम	खण्ड-1 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का परिचय	
1	अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति:परिभाषा, क्षेत्र व प्रकृति, स्वायत्त विषय	1-12
2	अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के उपागम- शास्त्रीय एवमं आधुनिक	13-34
	खण्ड-2 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के निर्धारक तत्त्व	
3	राष्ट्रीय शक्ति, राष्ट्रीय शक्ति के तत्व,	35-47
4	शक्ति सन्तुलन, सामूहिक सुरक्षा	48-67
5	राष्ट्रीय हित	68-80
	खण्ड-3 द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात विश्व राजनीति	
6	शीत युद्ध का उदय व अन्त	81-97
7	नव शीत युद्ध, शस्त्रीकरण की होड	98-110
8	निः शस्त्रीकरण एवं नियन्त्रण के उपाय	111-131
9	भूमण्डलीकरण	132-142
	खण्ड-4 भारत की विदेश नीति	
10	भारत की विदेश नीति , विदेश नीति के निर्धारक तत्त्व	143-159
11	गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एवम् उसकी प्रासंगिकता	160-180
12	भारत की दक्षेश (SAARC) नीति, आशियान एवं पूर्व की ओर देखो नीति	181-192
	खण्ड-5 क्षेत्रीय संगठन और वैश्विक मुद्दे	
13	क्षेत्रीय संगठन: सार्क, आसियान , यूरोपियन यूनियन	193-216
14	मानवाधिकार: मानवाधिकार घोषणा पत्र और मुद्दे	217-237

इकाई -1 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति:परिभाषा, क्षेत्र व प्रकृति, स्वायत्त विषय

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ
- 1.4 परिभाषायें
- 1.5 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र
- 1.6 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति
- 1.7 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वतंत्र विषय के रूप में
- 1.8 नामकरण की समस्या
- 1.9 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा राष्ट्रीय राजनीति
- 1.10 सारांश
- 1.11 शब्दावली
- 1.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 1.13 सन्दर्भ ग्रन्थ
- 1.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.15 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में प्रत्येक राष्ट्र (कर्ता) अपने स्व-प्रस्तावित राष्ट्रीय हितों और अपने उपलब्ध शक्ति संसाधनों के परिप्रेक्ष्य में अपनी नीति और भूमिका का निर्धारण करता है। राष्ट्रीय हित की प्राप्ति की संभावना से ही राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के सम्पर्क में आते हैं। इन्हीं सम्बन्धों की समष्टि को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कहते हैं। लौकिक जगत से जुड़ी अन्य वस्तुओं की भाँति ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी परिवर्तनशील है क्योंकि पर्यावरण के प्रभाव से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इसी परिवर्तनशील अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं और तथ्यों के अध्ययन के लिये अनेक तरीके या उपागम अपनाये जा सकते हैं। ये सभी एक दूसरे के पूरक हैं।

1.2 उद्देश्य

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अब तक के पांच दशकों में राष्ट्रों को इस बात का भली भाँति एहसास हो गया है कि युद्ध से विध्वंश ही हो सकता है, किसी समस्या का स्थायी समाधान नहीं। अब राष्ट्र परस्पर जुड़ कर विकास की यात्रा तय करना चाहते हैं। इस सोच में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति या राष्ट्रों के मध्य राजनीति कुछ ज्यादा सक्रिय और ज्यादा जीवंत हो गयी है।

इस इकाई का उद्देश्य अध्येता को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सामान्य परिचय देना है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप:

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अर्थ, उसके स्वरूप तथा क्षेत्र से परिचित हो सकेंगे।
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय संबंध में विभेद कर सकेंगे।

1.3 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ पहले यूरोप की राजनीति से ही लिया जाता था। उस समय समूचे विश्व में यूरोपीय राष्ट्रों की राजनीति छाई हुई थी। एशिया तथा अफ्रीका में आर्थिक एवं औपनिवेशिक विस्तार के लिये यूरोपीय राज्य युद्ध तथा कूटनीतिक दाव-पेचों में व्यस्त थे। यूरोपीय देश शक्ति सम्पन्न थे उनकी औद्योगिक प्रगति हो चुकी थी तथा उनकी विस्तारवादी महत्वाकांक्षाएँ थी। इसके विपरीत गैर यूरोपीय देशों की राजनीति बहुत कुछ शांत तथा स्थानीय थी।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद से वातावरण बदलने लगा। 1919-1945 के बीच विश्व के एक बड़े भाग में आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और तकनीकी क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अणुशक्ति ने राष्ट्रों की राजनीति और सामरिक नीति को एक नया मोड़ दिया। साम्राज्यवाद के विरुद्ध जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई। विश्व तथा अफ्रीका का प्रभाव एवं प्रभुत्व तेजी से बढ़ा और उनकी उपेक्षा करना साम्राज्यवादी देशों के लिये संभव नहीं रहा। इन सब क्रिया प्रतिक्रियाओं ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को बदल दिया तथा उसके आकार तथा अयामों को सही माने में अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया। इसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति केवल यूरोप मात्र की राजनीति नहीं रह गयी और एक स्वतंत्र विषय के रूप में इसका विकास प्रारम्भ हुआ।

1.4 परिभाषायें

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति को विद्वानों ने अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार विभिन्न रूपों में व्यक्त किया है। पहले हम लोग कुछ परिभाषायें ले रहे हैं उसके बाद उसके विषय क्षेत्र की व्याख्या करेंगे:-

हैनस मार्गेथाऊ Hans Morgenthau : राष्ट्रों के मध्य शक्ति के लिये संघर्ष, तथा उसका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहलाता है।

स्प्राउट Sprout: स्वतंत्र राजनीति समुदायों, अर्थात् राज्यों, के अपने अपने उद्देश्यों, अथवा हितों के आपसी विरोध प्रतिरोध या संघर्ष से उत्पन्न उनकी क्रिया, प्रतिक्रियाओं और संबंधों का अध्ययन ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति है।

के. डबल्यू. थामसन K.W. Thompson: राष्ट्रों के बीच छिड़ी प्रतिस्पर्धा के साथ साथ उनके पारस्परिक संबंधों को सुधारने या बिगाड़ने वाली परिस्थितियों और संस्थाओं के अध्ययन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहते हैं।

हार्टमैन Hartmann: अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों से अभिप्राय उन प्रक्रियाओं के अध्ययन से है जिनके द्वारा राज्य अपने राष्ट्रीय हितों का सामंजस्य अन्य राज्यों के राष्ट्रीय हितों के साथ बैठते हैं।

बर्टन Burton: अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में सामान्य बातों के अतिरिक्त सभी घटनायें और परिस्थितियाँ भी सम्मिलित हैं जिनका प्रभाव एक से अधिक राज्यों पर पड़ता है।

हेन्स मार्गेथाऊ का विचार है कि शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख तत्व है। प्रत्येक राष्ट्र शक्ति के लिये प्रयत्न करता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति की राजनीति है। शक्ति राष्ट्रीय हित को बढ़ाने, प्राप्त करने तथा कार्यान्वित करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर अपनी भूमिका निभाने के लिये अनिवार्य है। मार्गेथाऊ का कहना है कि राष्ट्रों के बीच सभी सम्बन्ध राजनीतिक नहीं होते क्योंकि राष्ट्र साधारणतया ऐसे कार्य भी करते हैं जिनका सम्बन्ध शक्ति से नहीं होता। उदाहरण के लिए राष्ट्रों के अनेक कानूनी, आर्थिक, मानवीय और सांस्कृतिक कार्य कलापों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत नहीं गिना जा सकता। मार्गेथाऊ का निष्कर्ष है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति मूलतः सत्ता के लिए संघर्ष का ही नाम है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के चाहे कुछ भी उद्देश्य हों पर उसका तात्कालिक उद्देश्य हमेशा शक्ति ही रहता है। मार्गेथाऊ के तर्क में बल अवश्य ही है। यद्यपि यह बात भी ध्यान में रखना चाहिए कि शक्ति एक साधन मात्र है साध्य नहीं। राष्ट्र केवल शक्ति के लिये ही कोई राजनीति संचालित नहीं करते। साथ ही शक्ति की अपनी सीमायें होती हैं।

1.5 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र

फेलिक्स ग्रुनफेल्ड Felix Grunfeld, रसेल एच. फिफील्ड Russell H. Fifield आदि विद्वानों ने राष्ट्रों की विदेश नीतियों के अध्ययन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति माना है। यह तर्क दिया गया है कि जब तक हम राष्ट्रों की विदेश नीतियों को नहीं समझ लेंगे तब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को नहीं समझ सकते। इस प्रकार से यह बात स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा राष्ट्रों की विदेश नीतियों में अटूट सम्बन्ध है पर एक बात जो नहीं मानी जा सकती वह यह है कि दोनों एक हैं अथवा विदेश नीतियों का अध्ययन मात्र ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति है।

फ्रेड्रिक ए. साउन्डरमैन Frederick A. Sondermann ("The Linkage between Foreign Policy and International Politics" in the Theory and Practice of International Nations – New Jersey 1966, pp. 16-23) ने लिखा है कि विदेश नीति के अध्ययन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का पर्याय नहीं माना जा सकता। क्योंकि विदेश नीति की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र अधिक विस्तृत है जिसमें विदेश नीति के अध्ययन के अतिरिक्त और भी अनेक विषयों का अध्ययन शामिल है। यह बात सच है कि राष्ट्रीय हितों की रक्षा महत्वपूर्ण ढंग से विदेश नीति द्वारा की जाती है और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की यह महत्वपूर्ण सामग्री है पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन न केवल यह जानने का प्रयत्न करता है कि अमुक देश की विदेश नीति क्या है पर यह भी देखता है कि कौन कौन से तत्व उस देश की विदेश नीति को प्रभावित करते हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन हमें विदेश नीति से निश्चित करने वाली प्रक्रिया से परिचित कराता है। विदेश नीति के अध्ययन को ही सब कुछ मानने के पीछे धारणा यह है कि विदेश नीति के निर्धारक व्यक्ति ही अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को बनाने बिगाड़ने व मोड़ने वाले होते हैं। वे लोग इस तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि कई बार अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण भी नीति निर्माताओं को कोई

विशिष्ट नीति अपनाने के लिए बाध्य कर देता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण तथा विदेश नीति पर पड़ने वाले उसके प्रभाव की जानकारी भी शामिल है।

क्विंसी राइट Quincy Wright ने अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के अन्तर्गत जिन बातों के अध्ययन को शामिल किया है वे इस प्रकार से हैं- विश्व में तनाव एवं हलचल की सामान्य दशा, आर्थिक, सांस्कृतिक राजनीतिक क्षेत्रों में राज्यों की पारस्परिक निर्भरता की मात्रा, कानून एवं मूल्यों का सामान्य स्तर, जनसंख्या तथा साधन, उपज और खपत जीवन के आदर्श, तथा विश्व राजनीति की स्थिति। इन सभी बातों के कारण हैराल्ड तथा माग्रेट स्प्राउट ने विदेश नीति को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक उप-विभाग बताया है।

कुछ अन्य विद्वानों ने अपनी अपनी परिभाषाओं में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र को अपेक्षाकृत विस्तृत या सीमित किया है। चार्ल्स स्लेशर Charles A. Schlesinger ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत सभी अन्तर्राज्य सम्बन्धों को शामिल किया है, यद्यपि वह यह मानता है कि इस प्रकार के सारे सम्बन्ध केवल राजनीतिक ही नहीं होते। पाल्मर पर्किन्स Palmer and Perkins ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का सीधा सम्बन्ध राज्य प्रणाली से जोड़ा है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन क्षेत्र में विचारधारा और राष्ट्रीयता का भी प्रमुख स्थान है। विचारधारा आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख सूत्रधारों में से हैं। साम्यवाद, लोकतंत्र, और व्यक्तिगत स्वतंत्रता आदि विचारधाराएँ अपने आप में प्रबल शक्तियाँ हैं। अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों पर इनका प्रमुख प्रभाव रहता है। एशिया तथा अफ्रीका की राजनीति बहुत कुछ राष्ट्रीयता की राजनीति है जिसका सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर निश्चित प्रभाव पड़ रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ, और उनसे सम्बन्धित उप संस्थाएँ भी काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ, तथा उससे संबंधित अन्य विशिष्ट संस्थाओं, का विश्व राजनीति के क्षेत्र और साधन दोनों रूपों में अपना स्थान है।

शान्ति और युद्ध जैसे विषय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन क्षेत्र में अपने आप ही शामिल हो जाते हैं। अन्त में यह कहा जा सकता है कि जिस देश से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए प्रयास किये जा रहे हैं तथा उसे एक वैज्ञानिक विषय बनाने के लिए सिद्धान्तों की खोज हो रही है, उसके आधार पर अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अपने क्षेत्र में विभिन्न विषयों को समेटने और अपना क्षेत्र समुचित रूप में व्यापक करने को प्रयत्नशील है।

1.6 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति

विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों की राजनीति ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति है। यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राष्ट्र अपने हित साधने के लिये आपसी संबंधों में संघर्ष की जिस स्थिति में रहते हैं उसी का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तीन आवश्यक तत्व होते हैं:

1.राष्ट्रीय हित 2.संघर्ष और 3.शक्ति राष्ट्रीय हित उद्देश्य हैं, संघर्ष स्थिति विशेष है, और शक्ति उद्देश्य प्राप्ति का साधन हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संघर्ष का विशेष महत्व है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज में संघर्ष की स्थिति बनी ही रहती है, अतः शक्ति के माध्यम से सामन्जस्य की प्रक्रिया हमेशा चलती रहती है। संघर्ष की निरंतर उपस्थिति का मतलब यह नहीं है कि संसार के देश हमेशा एक दूसरे से टकराव रखते हैं। जिन देशों के हित समान होते हैं उनमें सहयोग भी होता है। दूसरे शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संघर्ष और सहयोग दोनों ही शामिल हैं। सहयोग भी देखा जाय तो अंतिम रूप से संघर्ष का ही परिणाम है क्योंकि:

- 1- जिन देशों के हित परस्पर समान होते हैं वे आपस में सहयोग इसलिये करते हैं कि दूसरे राष्ट्रों के संघर्ष पर विजय पा सके, और
- 2- सहयोग की आशंका इसलिये की जाती है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्वभावतः संघर्षपूर्ण होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्य किसी भी राजनीति की तरह एक निरंतर क्रिया है - ऐसी क्रिया जिसमें संघर्ष के केन्द्रीय स्थान प्राप्त हैं

1.7 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वतंत्र विषय के रूप में

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को एक स्वतंत्र शास्त्र माना जा सकता है अथवा नहीं इस सम्बन्ध में काफी मतभेद रहे हैं। कुछ विद्वान इसे इतिहास का एक विशिष्ट विषय मानते हैं क्योंकि इस विषय का जन्म इतिहास के भिक्षु के रूप में हुआ है। वेल्स युनिवर्सिटी के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के पहले प्रोफेसर अल्फ्रेड जिमेर्न Alfred Zimmern एक प्रसिद्ध इतिहासज्ञ थे। इसी प्रकार अनेक विद्वान इसे राजनीति शास्त्र के व्यापक विज्ञान का एक स्वायत्त क्षेत्र मानते हैं।

जो विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतंत्र विषय मानते हैं उनमें से प्रमुख हैं- ए. डबलू. मैनिंग A.W. Manning, क्विन्सी राइट, हाफसन। ए. डबलू. मैनिंग का प्रमुख तर्क यह है कि “अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक वृहत विषय तथा विशाल सामाजिक विश्व का अंग है।” इस सम्बन्ध में वो तीन बातें कहते हैं:-

1. सामाजिक विश्व के अन्तर्गत सम्पूर्ण संसार में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक जाल है, अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वतंत्र अध्ययन जरूरी है।
2. इसके लिये एक सर्वव्यापी दृष्टिकोण जरूरी है और यह दृष्टिकोण तब तक सफल नहीं होगा जब तक कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को हम एक स्वतंत्र विषय न मान लें। अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर बहुत सारी घटनायें घटित होती हैं उन्हें समझने तथा सही संदर्भ में परखने तथा उनकी दिशाओं को जानने का यही सबसे अच्छा तरीका है।

3. यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की घटनाओं के सही स्वरूप को न समझ सकें, तथा समस्याओं के समाधान की दिशा में समुचित रूप से विचार न कर सकें, तो इसके अध्ययन का कोई लाभ नहीं होगा।

क्विन्सी राइट के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय आज दूसरे विभिन्न विषयों से लाभ उठाकर समन्वय का ढंग अपनाते हुए लगातार विकास की ओर बढ़ रहा है।

हाफसन यह प्रतिस्थापित करना चाहते हैं कि हम राज्यों के आन्तरिक मामलों का विवेकपूर्ण अध्ययन तभी कर सकते हैं जब उनकी बाह्य क्रियाओं का विशद, गहन और समुचित अध्ययन करें। स्पष्ट है कि इस अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वतंत्र विषय के रूप में उतना ही मान्य है जितना कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शास्त्र में।

कैपर जानसन ने लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को हम इतिहास अथवा राजनीति शास्त्र का अंग नहीं मान सकते क्योंकि इसका क्षेत्र उनसे कहीं अधिक व्यापक है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शास्त्र जो सामग्री इकट्ठी करता है वह दूसरे शास्त्रों की सामग्री से भिन्न है। अतः सामाजिक विज्ञान में उसे एक स्वतंत्र शास्त्र मानना न्याय संगत है।

पी. डी. मर्चेन्ट, राबर्ट लारिंग, कैप्लान, जार्ज केनन आदि विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतंत्र विषय के रूप में मान्यता देने को तैयार नहीं हैं। विरोध में निम्नलिखित तर्क दिया गया है:-

1. पहला तर्क यह दिया जाता है कि किसी भी शास्त्र के लिये तीन बातों का होना आवश्यक है- निश्चित अध्ययन सामग्री, स्पष्ट गवेषणा पद्धति, और सर्वमान्य सिद्धान्त का विकास। परंतु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता।
2. दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मुख्य कार्य राज्यों के पारस्परिक व्यवहारों और उनके प्रेरक तथ्यों का पूरा अध्ययन करना है, और यह अध्ययन वह स्वतंत्र रूप से नहीं कर सकता, अपितु उसे राजनीति शास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि पर निर्भर रहना पड़ता है। इस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतंत्र दर्जा देना ठीक नहीं है। कैप्लान इसे राजनीति शास्त्र अथवा राजनीति शास्त्र के विकास के रूप में मानना चाहता है।

दोनों पक्षों के तर्कों की व्याख्या के उपरान्त निष्कर्ष में हम यह कह सकते हैं-

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की अध्ययन सामग्री लगातार बढ़ रही है और इसका स्वरूप इतना जटिल तथा विशिष्ट बनता जा रहा है कि यह विषय किसी अन्य शास्त्र जैसे राजनीति शास्त्र, इतिहास, अन्तर्राष्ट्रीय कानून या अर्थशास्त्र के अन्तर्गत नहीं रह सकता।
2. आज भले ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वतंत्र रूप पर संदेह किया जाये, लेकिन कल ऐसा नहीं रहेगा। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिये सिद्धान्तों का विवेचन होने लगा है। 1947 में प्रकाशित Politics Among Nations में मार्गेंथाऊ ने पहली बार एक व्यवस्थित सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो यथार्थवादी कहलाता है। विभिन्न राज्यों में अन्तर्राष्ट्रीय

राजनीति के अध्ययन के लिए पृथक विभागों की स्थापना की गई है। विकासशील देश तक इस दिशा में आगे बढ़ चुके हैं। उदाहरण के लिये भारत Indian School of International Studies इसको एक स्वतंत्र विषय के रूप में मान्यता दिलाने की ओर एक साहसिक कदम है।

1.8 नामकरण की समस्या

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय को व्यक्त करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, अन्तर्राष्ट्रीय मामले तथा विश्व राजनीति आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। बहुधा इन शब्दों का प्रयोग यथार्थवादीरूप में किया जाता है जो कि गलत है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में काफी व्यापकता पाई जाती है। उसके अन्तर्गत राष्ट्रों के आर्थिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, कानूनी राजनीतिक खोज एवं अन्वेषण सम्बन्धी, और इसी प्रकार के सभी सम्बन्ध आ जाते हैं। इन शब्दों से वास्तव में विविध राष्ट्रों के सम्पर्क सहयोग, क्रिया-प्रतिक्रिया का बोध होता है। यह शब्द अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सरकारी और निजी दोनों ही अन्तर्राष्ट्रीय क्रियाओं की विस्तृत विविधताओं की ओर संकेत करते हैं। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शब्दावली मुख्यतः राज्यों के राजनीतिक संबंधों तक सीमित है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध से इस प्रकार से हम देखते हैं व्यापक सम्बन्धों को बोध होता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से एक विशेष प्रकार का।

जान बर्टन का कहना है कि विश्व राजनीति के संबंध में हम जिन-जिन बातों का अध्ययन करते हैं उनके लिये अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध सही शब्दावली नहीं है। बर्टन के अनुसार यह शब्दावली केवल राज्यों के राजनीतिक सम्बन्धों को बताती है। इस लेखक का यह विश्वास है कि ऐसे अनेक गैर सरकारी सम्बन्ध और ऐसी बहुत सी गैर सरकारी संस्थाएँ होती हैं जिनके विश्वव्यापी महत्व को नकारा नहीं जा सकता। बर्टन का यह कहना ठीक ही है कि संसार के लोगों की विभिन्न समस्याओं की गहन जानकारी के लिये विभिन्न देशों के लोगों के सरकारी तथा गैर सरकारी दोनों प्रकार के संबंधों का अध्ययन आवश्यक है। पर बर्टन के इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और विश्व समाज के सूचक हैं।

इस सम्बन्ध में दो प्रमुख कठिनाइयाँ हैं-

- 1- विश्व समाज को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के पर्याय के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि विश्व समाज शब्दावली से किसी विषय के अध्ययन के क्षेत्र का पता लग सकता है पर उसे स्वयं कोई अध्ययन का विषय नहीं माना जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की शब्दावली स्वयं में एक अध्ययन विषय की द्योतक है।
- 2- आज की बदलती हुई परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन क्षेत्र अत्यधिक व्यापक बनाने की जरूरत है। तथा आवश्यकता इस बात की है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उन तमाम बातों को शामिल करने का है जो हमारे परम्परागत अध्ययन में अब तक छूटी रही है।

1.9 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा राष्ट्रीय राजनीति

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निषिद्ध विधियों की संख्या, राष्ट्रीय राजनीति में निषिद्ध विधियों के मुकाबले बहुत कम है। उदाहरण के लिए हिंसा धोखाधड़ी और भ्रष्टाचार पर राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में कानूनी रोक रहती है। पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कम से कम सिद्धान्त रूप में युद्ध की अनुमति उपलब्ध है। कुछ समय पहले तक युद्ध में किया जाने वाला ऐसा कोई काम निषिद्ध नहीं माना जाता था जिससे कि विजय प्राप्त होने की आशा हो। इसे युद्ध विधि में सैनिक आवश्यकता का सिद्धान्त कहते हैं। राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय राजनीति का आधार है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का। साधारण तथा राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून से अधिक व्यापक है। इस प्रकार से राष्ट्रीय राजनीति में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की अपेक्षा अधिक व्यवस्था तथा नियमितता पाई जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रमुख उद्देश्य यह रहता है कि इसमें भाग लेने वाले समूहों का अस्तित्व बना रहे। प्रभुता सम्पन्न राज्य का अस्तित्व बनाये रखना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख ध्येय है। किन्तु राष्ट्रीय राजनीति में किसी संप्रभुता सम्पन्न राज्य के अस्तित्व को कोई प्रत्यक्ष खतरा नहीं होता। अधिक से अधिक किसी ऐसे समूह के अस्तित्व को खतरा हो सकता है जिसके हाथों में किसी विशेष समय पर सत्ता की बागडोर हो।

इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की संचालन व्यवस्था राष्ट्रीय राजनीति की संचालन व्यवस्था से भिन्न है। राष्ट्रीय राजनीति को एक ऐसी शासन व्यवस्था के रूप में देखा जाता है जिसमें शान्तिपूर्ण कानून निर्माण और प्रशासन होता हो, समय समय पर चुनाव होते हों और राज्य की सरकार में किसी न किसी प्रकार का स्थायित्व हो। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को विशेष रूप से युद्ध और युद्ध के खतरे की दृष्टि से देखा जाता है। परन्तु इन अन्तरों के बावजूद भी राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कुछ समानता भी है। दोनों ही क्षेत्रों में शक्ति प्राप्त करने के लिये प्रयत्न किये जाते हैं। देशों का आन्तरिक शक्ति संघर्ष कभी कभी गृह युद्ध को जन्म देता है। गृह युद्ध का संबंध राष्ट्रीय राजनीति से होता है और अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध का संबंध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से होता है।

क्विंसी राइट का मत है कि प्रभुता संपन्न राज्यों के बीच की राजनीति को एक संकीर्ण अर्थ में ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहा जा सकता है। राइट का यह भी मत है कि राष्ट्रीय प्रभुसत्ता समाप्त हो जाने पर ही हम सच्चे अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बात सोच सकते हैं परन्तु 1945 से आज तक की अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से स्पष्ट है कि संसार से राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को लोप हुये बिना भी ऐसे समूह बन सकते हैं। उदाहरण के लिये सोवियत गुट, तथा एशियाई अफ्रीकी गुट।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को कुछ लोगों ने विश्व राजनीति की भी संज्ञा प्रदान की है। परन्तु विश्व राजनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक नहीं समझना चाहिए। सामान्य तथा विशेष दोनों ही अर्थों में क्षेत्रों में अंतर है। विश्व राज्य के अभ्युदय के बाद ही विश्व राजनीति की कल्पना की जा सकती है। विश्व राज्य की स्थापना के बाद ही उसमें उस तरह की संस्थाएँ भी होंगी जैसी राष्ट्रीय

राजनीति में होती है। 1945 तक केवल दो एक विश्व संस्थाओं का ही अस्तित्व था, उसके बाद बहुत सारी विश्व संस्थाओं का जन्म हो गया है और भविष्य में ऐसी बहुत सी संस्थाओं का बन जाने की सम्भावनायें हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ का तथा दूसरे विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एक प्रकार की विश्व संस्थायें हैं। आजकल घरेलू राजनीति का दायरा पहले से बहुत विस्तृत हो गया है। आज बहुत सी अधि-राष्ट्रीय supra-national संस्थाओं का जन्म हो चुका है जैसे नाटो, अमेरिकी राज्यों का संगठन, अरब लीग, सोवियत गुट, ब्रिटिश राष्ट्र मंडल और पश्चिमी योरोप के राज्यों की अनेक संस्थायें, इस प्रकार की अनेक अधिराष्ट्रीय संस्थाओं ने महत्वपूर्ण राष्ट्र समूहों का रूप ले लिया है और वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रक्रिया में सक्रिय भाग ले रही हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति द्वारा घरेलू राजनीति के क्षेत्र का विस्तार किया जा रहा है। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और विश्व राजनीति में जो अन्तर है वह समझ लेना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वर्तमान काल की घटना है और विश्व राजनीति भविष्य की।

1. Politics Among Nations का प्रकाशन किस सन में किया गया ?
2. Politics Among Nations के लेखक कौन हैं ?
3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किसने किया ?
4. हैन्स मार्गेथाऊ राष्ट्रों के मध्य शक्ति के लिये संघर्ष, तथा उसका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहलाता है। सत्य/असत्य
5. फेलिक्स ग्रास अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वास्तव में राष्ट्रों की विदेश नीति का अध्ययन ही है। : सत्य/असत्य
6. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ पहले यूरोप की राजनीति से ही लिया जाता था असत्य/सत्य।

1.10 सारांश

मूल रूप से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन है। वैश्वीकरण के वर्तमान युग में यह हर राष्ट्र की मजबूरी है कि वह अन्य राष्ट्रों के सम्पर्क में आये। इसलिये प्रत्येक राष्ट्रीय कर्ता अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अपनी भूमिका का निर्वाह करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में भूमिका निर्वाह के दौरान राष्ट्र का एक ही लक्ष्य होता है। पहले से पूरे हो रहे राष्ट्रीय हित में वृद्धि करना अथवा कम से कम उन्हें यथावत बरकरार रखना। अपने राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा के निमित्त राष्ट्र बलकारी उपाय करने के लिए स्वतंत्र है। लेकिन राष्ट्र हित की सुरक्षा या उसमें अभिवृद्धि करने के लिए क्षमता चाहिए। यही क्षमता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की शब्दावली में शक्ति कहलाती है। यह दूसरे को, उसकी इच्छा के विरुद्ध अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने हेतु बाध्य कर देने की क्षमता है। दूसरे शब्दों में शक्ति वह माध्यम है जिसके द्वारा राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित में

अभिवृद्धि का प्रयास करते हैं। इस रूप में राष्ट्रीय हित और शक्ति में अटूट सम्बन्ध है। एक लक्ष्य है तो दूसरा माध्यम। विदेश नीति की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि अभीष्ट राष्ट्रीय हित और उपलब्ध शक्ति के मध्य समानुपातिक सम्बन्ध हो। मार्गेंथाऊ ने लिखा भी है कि 'शक्ति के संदर्भ में राष्ट्रीय हित ही विदेश नीति है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राष्ट्रों द्वारा शक्ति अर्जित करने की प्रक्रिया का अध्ययन है। यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की अपेक्षा एक संकुचित अवधारणा है क्योंकि इसके अन्तर्गत राष्ट्रों के मात्र राजनीतिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। जबकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के अन्तर्गत राष्ट्रों के सभी प्रकार के सम्बन्धों - आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक का अध्ययन अभीष्ट होता है। चाहे तो हम ऐसे भी कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एक बड़ा वृत्त है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति उसके भीतर विद्यमान एक छोटा केन्द्रीय वृत्त है।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्रमशः लोकतंत्रीकरण होता गया है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में स्वतंत्र कर्ताओं (राज्यों) की संख्या निरंतर बढ़ती गई है। इससे अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मात्र यूरोपीय राजनीति न रह कर सही अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय हो गयी।

परमाणु अस्त्रों के प्रसार ने भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को क्रमशः प्रभावित किया है। इन्होंने युद्ध के स्वरूप को ज्यादा तकनीकी और भयावह बना दिया है। लेकिन इससे शान्ति की संभावनाएं भी प्रबल हुई हैं। क्योंकि राष्ट्र अपने अस्तित्व के खतरे में डाल कर युद्ध के लिये नहीं तैयार होते।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र उन सभी विषयों तक प्रसारित है जो राष्ट्रों के मध्य सम्बन्ध से किसी भी रूप और किसी भी मात्रा में सम्बन्धित हैं इसमें उस पूरे परिवेश का अध्ययन आ जाता है। जिससे राष्ट्र अपनी अन्तः क्रिया करते हैं इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था, राष्ट्रों की शक्ति संरचना, राष्ट्रों की विदेश नीतियों आदि का अध्ययन अभीष्ट होता है।

1.11 शब्दावली

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति - राष्ट्रों के मध्य राजनीति

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध- इसमें काफी व्यापकता पाई जाती है। उसके अन्तर्गत राष्ट्रों के आर्थिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, कानूनी राजनीतिक खोज एवं अन्वेषण सम्बन्धी, और इसी प्रकार के सभी सम्बन्ध आ जाते हैं।

1.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1947, 2. हैन्स मार्गेंथाऊ 3. हैन्स मार्गेंथाऊ, 4. सत्य, 5. सत्य, 6. सत्य

1.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Palmer and Perkins : International Relations.
2. Coloumbis & Wolfe : International Relations – Power and Justice.
3. Prakash Chandra : International Policies
4. Mahendra Kumar : Theoretical Aspects of International Relations.

1.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. मॉरगेन्थाऊ, हैन्स (1960), पॉलिटिक्स एमंग नेशन, मैकमिलन-हिल ह्यूमेनिटीज।
2. कुमार, महेन्द्र (2013), अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक परिपेक्ष्य, शिवलाल अग्रवाल पब्लिकेशनस एण्ड कॉरपोरेशन।
3. फाड़िया, बी.एल. (2008) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
4. खन्ना, बी.एन. (2003) अन्तर्राष्ट्रीय संबंध, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा.लि.

1.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ समझाइये और इसके स्वरूप की व्याख्या कीजिए।
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में क्या अंतर है? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र की विवेचना कीजिये।
3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप और क्षेत्र की चर्चा कीजिये।

इकाई-2 : अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के उपागम- शास्त्रीय एवं आधुनिक

इकाई की संरचना

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के उपागम
 - 2.3.1 यथार्थवाद
 - 2.3.1.1 मार्गेन्थाऊ का यथार्थवाद
 - 2.3.1.2 मार्गेन्थाऊ के यथार्थवाद की प्रमुख सिद्धांत
 - 2.3.1.3 मार्गेन्थाऊ के यथार्थवाद की समालोचना
 - 2.3.1.4 मार्गेन्थाऊ के यथार्थवादी सिद्धान्त का महत्व
- 2.4 नव यथार्थवाद
- 2.5 आदर्शवाद
- 2.6 यथार्थवाद बनाम आदर्शवाद
- 2.7 सारांश
- 2.8 शब्दावली
- 2.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ
- 2.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 2.12 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

जार्ज सिम्पसन George Simpson के अनुसार “उपागम का आशय उस मापदण्ड से है जिसका प्रयोग अनुसंधान के दौरान समस्या और आंकड़े के चयन के लिये किया जाता है। इसका सिद्धान्त से नजदीकी सम्बन्ध है। प्रत्येक विषय के अनेक उपागम होते हैं। या हो सकते हैं। शोधकर्ता सिद्धान्त निर्माण के लिए इन्हीं उपागमों का प्रयोग करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में भी यही सही है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के अनेक उपागम विकसित हो चुके हैं। बर्टन सैपिन Burton Sapin के अनुसार अब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के कुल 27 उपागम विकसित किये जा चुके हैं जबकि क्विन्सी राइट के अनुसार कुल उपागम 23 और पामर परकिन्स के अनुसार 7 हैं। इसके पूर्व के समयकाल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक और संस्थात्मक उपागमों का प्रयोग किया जाता था।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के आदर्शवादी और यथार्थवादी उपागम पूर्ण उपागम माने जाते हैं क्योंकि वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की व्याख्या उसकी समग्रता में करते हैं। जबकि दूसरे उपागम यथा निर्णय उपागम, खेल उपागम, सौदेबाजी उपागम आदि आंशिक उपागम माने जाते हैं।

आदर्शवादी उपागम 1920 और 1930 के दशक में विशेष चर्चित रहा। यह उपागम मनुष्य को एक विवेकशील और स्वाभाविक रूप से एक सामाजिक प्राणी मानता है। यह उपागम बल, संघर्ष और युद्ध का निषेध करता है। इसकी यह मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को मजबूत करके एक शान्तिपूर्ण विश्व की स्थापना की जा सकती है।

इसके विपरीत यथार्थवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को ‘शक्ति के लिये संघर्ष’ के रूप में परिभाषित किया। इस दृष्टिकोण में मनुष्य को स्वाभाव से स्वार्थी माना जाता है। राष्ट्रहित में अभिवृद्धि राष्ट्र का धर्म है, इसकी प्राप्ति के लिये शक्ति का अधिकतम संचयन राष्ट्र की आवश्यकता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के समयकाल में वैज्ञानिकता के प्रभाव के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिये अनेक आधुनिक उपागम विकसित हुए। इन्हें सम्मिलित रूप से वैज्ञानिक या आधुनिक या व्यावहारवादी उपागम कहा जाता है। व्यवस्था उपागम निर्णय निर्माण उपागम, खेल उपागम तथा सौदेबाजी उपागम मुख्य रूप से इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य विद्यार्थियों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के विभिन्न उपागमों और उनके संभावित लाभों और हानियों से अवगत कराना है।

- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के विभिन्न उपागमों का विवेचन कर सकेंगे।
- विभिन्न उपागमों की दुर्बलताओं से अवगत हो सकेंगे।
- एक समन्वित उपागम से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन कर सकेंगे।

2.3 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के उपागम

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में यथार्थवादी तथा आदर्शवादी दृष्टिकोण परस्पर विरोधी हैं। जार्ज केनन तथा मार्गेन्थाऊ यथार्थवादी दृष्टिकोण के प्रवर्तक हैं। वालकिन्स, लासवेल तथा डेविड ईस्टन ने भी यथार्थवादी दृष्टिकोण का ही समर्थन किया है। वुडरो विल्सन तथा बर्ट्रैंड रसेल ने आदर्शवादी दृष्टिकोण का प्रतिपालन किया है।

2.3.1 यथार्थवाद

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यथार्थवाद अनुमान और तर्क पर आधारित है। यह दृष्टिकोण सुरक्षा तथा शक्ति तत्वों पर विशेष बल देता है। इस प्रकार के विचार का आधार यह है कि व्यक्ति में ऐसा विश्वास होता है कि दूसरे लोग उसको नष्ट करने की चेष्टा में रहते हैं। अतः अपनी सुरक्षा के लिये उसे दूसरों को मार डालने के लिये सजग तथा तत्पर रहना चाहिए। यथार्थवादी दृष्टिकोण यह मानकर चलता है कि विश्व के राष्ट्रों के बीच किसी न किसी रूप में संघर्ष तथा वैमनस्य बना रहता है, इस प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय समाज में शक्ति तथा प्रभाव की होड़ हमेशा बनी रहती है। कूटनीति तथा राजनय का प्रमुख कार्य यह है कि शक्ति प्रतिस्पर्धा पर किसी न किसी रूप में अंकुश लगाया जाय। शक्ति स्पर्धा पर लगाये जाने वाले अंकुश एक प्रकार का नया शक्ति संतुलन स्थापित करते हैं। यथार्थवाद शक्ति संघर्ष के स्थायित्व को स्वीकार करता है। इसका विश्वास है कि यह संसार परस्पर विरोधी हितों, और स्वार्थों का रंगमंच है जो आपस में टकराते रहते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि विभिन्न विरोधी स्वार्थों के बीच संतुलन स्थापित किया जाय, तथा संघर्ष को टालने का प्रयत्न किया जाय।

जार्ज केनन तथा हैन्स मार्गेन्थाऊ दोनों का ही यह दृढ़ विश्वास है कि किसी भी बुद्धिमत्तापूर्ण नीति का आधार राष्ट्रीय हित ही होना चाहिए। परन्तु जहाँ तक राष्ट्रीय हित, तथा नैतिक सिद्धान्तों के बीच सम्बन्ध की प्रवृत्ति का प्रश्न है, दोनों ही विचारकों के मत भिन्न हैं। जार्ज एफ. केनन के अनुसार हम केवल अपने ही हितों को जान और समझ सकते हैं। तथा कोई भी समाज दूसरों की घरेलू समस्याओं और आवश्यकताओं का निर्णायक नहीं हो सकता। अतः यह ठीक ही है कि एक ओर तो हम अपनी राष्ट्रीय हितों की आवश्यकताओं के अनुरूप अपनी विदेश नीति तथा वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन करें, तथा दूसरी ओर उन नैतिक तथा आदर्श सिद्धान्तों के अनुसरण की भी कोशिश करें जो हमारी सभ्यता में अन्तर्निहित हैं। पर इस प्रकार के नैतिक सिद्धान्त केवल हमारे अपने लिये ही वैध तथा मान्य हो सकते हैं, दूसरों के लिये नहीं। अतः हमको इन सिद्धान्तों को दूसरों पर थोपने की कोशिश नहीं करनी चाहिए।

जार्ज केनन के इन विचारों के विपरीत हैन्स मार्गेन्थाऊ ने राष्ट्रीय हित ही को सर्वोच्चता प्रदान की है तथा यह विचार व्यक्त किया है कि राष्ट्रीय हित नैतिकता के सिद्धान्तों से ऊपर है। मार्गेन्थाऊ के यथार्थवादी सिद्धान्त का विवेचन हम अलग से करेंगे, यहाँ पर केवल इतना कहना ही काफी है कि यथार्थवादियों में इस बात पर मत की एकता नहीं है कि राष्ट्रीय हित को किस सीमा तक प्रमुखता दी

जाया। इस बात पर कोई मतभेद नहीं है कि विदेश नीति और वैदेशिक सम्बन्धों का आधार राष्ट्रीय हित ही होना चाहिए न कि नैतिक सिद्धान्त।

2.3.1.1 मार्गेन्थाऊ का यथार्थवाद

मार्गेन्थाऊ का यथार्थवादी सिद्धान्त के प्रमुख प्रवक्ता हैं और उन्होंने यथार्थवाद को चिन्तन का एक पृथक तथा स्पष्ट स्वरूप प्रदान किया। वैसे तो यथार्थवाद पर अनेक लेखकों ने लिखा है जैसे कि जार्ज एफ. केनान परन्तु मार्गेन्थाऊ पहला विद्वान है जिसने एक यथार्थवादी प्रतिमान विकसित किया है इस क्षेत्र में मार्गेन्थाऊ के योगदान के कारण यथार्थवाद तथा मार्गेन्थाऊवाद के विद्वान पर्यायवाची मानने लगे हैं।

2.3.1.2 मार्गेन्थाऊ के यथार्थवाद की प्रमुख सिद्धांत

मार्गेन्थाऊ ने अपने राजनीतिक दर्शन में छः मेल तत्व बताये हैं इन्हीं छः तत्वों में उनके यथार्थवादी सिद्धान्त का सार अर्न्तनिहित है।

प्रथम सिद्धांत

पहला तत्व यह है कि राजनीति पर प्रभाव डालने वाले सभी नियमों की जड़ मानव प्रवृत्ति में होती है। मनुष्य जिन नियमों के अनुसार संसार में क्रिया कलाप करता है वे सार्वभौम हैं और यह नियम हमारी नैतिक मान्यताओं से हमेशा अछूते रहते हैं समाज को सुधारने के लिये यह जरूरी है कि पहले उन नियमों को समझ लिया जाए जो समाज के जीवन धारा हैं। मार्गेन्थाऊ का कहना है कि विदेश नीति का मूल्यांकन राजनीतिक गतिविधियों, और उनके सम्भावित परिणामों की परीक्षा करने के बाद ही हो सकता है। किसी देश की विदेश नीति को समझने के लिए यह जरूरी है कि पहले हम उस देश के राजनीतिक नेताओं के विभिन्न कार्यों पर दृष्टि डालें, और फिर तर्क के आधार पर देखें कि उन राजनेताओं के उद्देश्य क्या रहे होंगे।

मार्गेन्थाऊ का कहना है कि राजनीति का स्वरूप मानव प्रवृत्ति पर आधारित होता है इस प्रकार से विश्व मानव प्रवृत्ति का ही प्रतिबिम्ब है। मार्गेन्थाऊ के अनुसार विश्व एक ऐसा स्थल है जहाँ अच्छाई और बुराई, तर्क और भावना, जीवन और मृत्यु, स्वास्थ्य और रोग, तथा शान्ति और युद्ध के बीच में लगातार संघर्ष चला करता है। इस संघर्ष में हमारे विरोधियों की विजय होने की सम्भावना हमेशा बनी रहती है। यह संसार विरोधी हितों, और उनके बीच होने वाले निरंतर संघर्ष का रणक्षेत्र है। मार्गेन्थाऊ का कहना है कि जब कभी हम अपने भाई बन्धुओं को ध्यान में रखकर काम करते हैं तो हम निश्चित रूपसे कोई न कोई पाप करते हैं। अतः मार्गेन्थाऊ का विचार है कि संघर्ष और पाप का मूल श्रोत मानव प्रकृति के दो लक्षणों में पाया जाता है। यह दो लक्षण हैं स्वार्थपरता तथा प्रभुत्व की लालसा। जब हम कोई वस्तु प्राप्त करना चाहते हैं तो उसको प्राप्त करने के मार्ग में बहुत सी बाधाएँ आती हैं क्योंकि दूसरे लोग भी वही वस्तु प्राप्त करना चाहते हैं परिणाम यह होता है कि एक ही वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा रखने वालों में संघर्ष आरम्भ हो जाता है। और हमारी स्वार्थपरता हमें आपसी प्रतियोगिता की ओर ले जाती है।

परन्तु स्वार्थपरता की भी सीमायें होती हैं। मार्गेन्थाऊ कहता है कि स्वार्थपरता की मांगों को काफी हद तक पूरा भी किया जा सकता है। इसलिये मार्गेन्थाऊ कहता है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति जो युद्ध भाव है उसका कारण केवल स्वार्थपरक ही नहीं है पर प्रभुत्व की लालसा भी है जो कि मानव प्रकृति का दूसरा प्रमुख लक्षण है। मानव समाज के इन दो लक्षणों (स्वार्थपरता तथा प्रभुत्व की लालसा) में अन्तर है। स्वार्थपरता सीमित है जबकि प्रभुत्व की लालसा असीमित है। इस लालसा को स्वार्थपरता की तरह न तो संतुष्ट किया जा सकता है और न ही इसे सीमा बद्ध किया जा सकता है। प्रभुत्व की लालसा के संबंध में मार्गेन्थाऊ के विचार हाब्स से मिलते जुलते हैं। मार्गेन्थाऊ का कहना है कि मनुष्य की प्रभुत्व की लालसा तभी पूरी तरह से संतुष्ट होगी जब संसार का प्रत्येक अन्य मनुष्य उसके आधिपत्य में आ जायेगा। जबकि हाब्स ने कहा था कि अगर मनुष्य के पक्ष में हो तो वह यह चाहेगा कि सारी दुनिया उससे डरे और उसकी आज्ञा का पालन करती रहे। मार्गेन्थाऊ का कहना है कि प्रभुत्व की लालसा ही हर प्रकार की राजनीति का सार है।

दूसरा सिद्धांत

मार्गेन्थाऊ के राजनीतिक दर्शन का दूसरा प्रधान तथ्य राष्ट्रहित की प्रमुखता है। मार्गेन्थाऊ ने राष्ट्रहित को शक्ति की संज्ञा दी है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यथार्थवादी सिद्धान्त इस बात की परवाह नहीं करता कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में क्या होना चाहिए, और क्या हो रहा है। अथवा उसमें क्या नैतिक है और क्या अनैतिक। इसका संबंध तो केवल उन सम्भावनाओं से है जो किसी विशेष सतह के काल की किन्हीं क्षेत्र परिस्थितियों के अन्तर्गत आती हैं। अतः विदेश नीति का सम्बन्ध उसकी सफलता की राजनीतिक आवश्यकताओं से होना चाहिए। इस प्रकार से हम देखते हैं कि राजनीतिक यथार्थवाद की दूसरी प्रमुख मान्यता है शक्ति के रूप में परिमापित हित की अवधारणा सरल शब्दों में इसका अर्थ है राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने के लिये शक्ति का प्रयोग। राष्ट्रीय हित का केन्द्र बिन्दु सुरक्षा है। और सुरक्षा के लिये शक्ति अर्जित की जाती है। दूसरे शब्दों में हित की कल्पना शक्ति विहीन सन्दर्भ में नहीं की जा सकती। राजनीति का मुख्य आधार हित और उनकी सुरक्षा है - यही कारण है कि राजनीति को हम शक्ति से अलग रखकर नहीं समझ सकते। तात्पर्य यह है कि शक्ति राजनीति का केन्द्र बिन्दु है। मार्गेन्थाऊ की मान्यता है कि विदेश नीति के निर्माता शक्ति को आधार मानकर ही नीतियों की रचना करते हैं, और इतिहास की इस बात की पुष्टि करता है।

मार्गेन्थाऊ का कहना है कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ “शक्ति के रूप में परिमार्जित हित की दिशा में ही सोचता है। और कार्य करता है। राजनीतिज्ञ का उद्देश्य अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करना होता है। शक्ति के रूप में परिमाणित हित के आधार पर ही हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को सैद्धान्तिक रूप प्रदान कर सकते हैं। यही एक ऐसा विचार है जिसके आधार पर राष्ट्रों की विदेश नीतियों में निरंतरता का आभास मिलता है यदि इनका निर्माण करने वाले समय समय पर बदलते रहे हों, और उनके बौद्धिक स्तर, उद्देश्य, नैतिक गुण आदि भिन्न भिन्न रहे हों। इस दृष्टि से यथार्थवादी सिद्धान्त अपने

आप को दो भ्रान्तियों से बचाना चाहता है 1- मन्तव्यों से संबंधित भ्रान्ति से 2- वैचारिक वरीयताओं से संबंधित भ्रान्तियों से। यदि हम राजनीतिज्ञों के मन्तव्यों को देखकर ही किसी देश की विदेश नीति को समझने का प्रयास करेंगे तो असफल होंगे तथा धोखा खा जाएंगे। मार्गेन्थाऊ का कहना है कि राजनीतिज्ञों के वास्तविक प्रयोजनों के आधार पर हम यह फैसला नहीं कर सकते कि उनकी विदेश नीतियां नैतिक दृष्टि से सराहनीय, तथा राजनीतिक दृष्टि से सफल रहेंगी। विश्व शान्ति और भ्रातृत्व की भावना का उल्लेख लेकर चलने वाली नेहरूवादी विदेश नीति की आलोचना इस आधार पर की गई। वह गैर यथार्थवादी थी। चेम्बरलेन की तुष्टीकरण की विदेश नीति का उद्देश्य संसार में शान्ति स्थापित करना था, किन्तु वही नीति द्वितीय विश्व युद्ध का एक प्रमुख कारण बनी। दूसरी ओर विन्सटन चर्चिल की विदेश नीति का प्रयोजन संकीर्ण स्वार्थ था लेकिन उसके परिणाम राजनीतिक दृष्टि से अधिक उच्चतर माने गए। कहने का तात्पर्य यह है कि यथार्थवादी दृष्टिकोण किसी कार्य का नैतिक तथा राजनीतिक स्तर उसके प्रयोजनों से नहीं बल्कि उसके परिणामों से देखता है। आज के अन्तर्राष्ट्रीय जगत में यह एक सामान्य सी परम्परा बन गई है कि प्रत्येक देश अपनी विदेश नीति को सैद्धान्तिक आवरण पहनाकर आकर्षक बना देता है ताकि युवा जनमत उसकी ओर खिंचता चला जाए।

मार्गेन्थाऊ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मूल आधार राष्ट्र हित है जिसे केवल शक्ति के संघर्ष में देखा जा सकता है। यह दृष्टिकोण उन इकाइयों (अर्थात् राज्यों) पर विशेष ध्यान देता है जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख कार्यकर्ता हैं। इस दृष्टिकोण को यथार्थवादी इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें राष्ट्रहित की महत्ता पर विशेष बल दिया जाता है। यह दृष्टिकोण यह मानकर चलता है कि शक्ति के द्वारा ही राष्ट्रीय हितों को बढ़ाया जा सकता है। जिस सीमा तक इसमें शक्ति पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है उस सीमा तक इसे शक्तिवादी दृष्टिकोण भी कहा जा सकता है। मार्गेन्थाऊ ने स्पष्ट किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्य सभी राजनीतियों की तरह शक्ति के लिए संघर्ष है और यदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अंतिम उद्देश्य कुछ भी हो इसका तात्कालिक लक्ष्य शक्ति प्राप्त करना ही होता है शक्ति के महत्व पर जोर डालते हुए मार्गेन्थो कहता है कि शक्ति का अर्थ है “मनुष्यों का अन्य मनुष्यों के मष्तिस्क, और क्रिया कलापों पर नियंत्रण”। मार्गेन्थो से पहले भी तथा बाद में भी कई लेखकों ने शक्ति के इस दृष्टिकोण पर बल दिया है। 19वीं शताब्दी में ट्रोत्स्के Leon Trotsky तथा नीटशे Friedrich Nietzsche ने शक्ति के विचार तथा शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा का अनुमोदन किया। प्रथम विश्व युद्ध से पहले एरिख काफमैन Erich Kaufmann ने लिखा कि शक्ति के विकास संवर्द्धन और प्रदर्शन में ही राज्य का सार है। फ्रेडरिक वाटकिन्स, हेराल्ड लासवेल, डेविड ईस्टन आदि विद्वानों ने राजनीति के अध्ययन में यथार्थवादी विचारधारा के विभिन्न पहलुओं पर जोर दिया है। इन सभी ने शक्ति राजनीति पर बल दिया है। डेविड ईस्टन का कहना है कि राजनीति विज्ञान शक्ति के प्रयोग, और वितरण से प्रभावित होता है। मार्गेन्थाऊ की तरह ही ई. एच. कर, क्विंसी राइट, जार्ज सेवारजेनबर्गर, मार्टिन राइट, आदि आधुनिक विचारक भी अन्तर्राष्ट्रीय

सम्बन्धों के क्षेत्र में राजनीति विज्ञान की शक्ति सम्बन्धी अवधारणा के विस्तार के समर्थक हैं। पर इन सब से कहीं अधिक कार्य मार्गेन्थाऊ ने किया है। उसने शक्ति के दृष्टिकोण से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों अथवा राजनीति पर सबसे अधिक व्यवस्थित कार्य किया है। अन्य विद्वानों ने मार्गेन्थाऊ द्वारा स्थापित परम्परा को ही आगे बढ़ाया है। पालिटिक्स अमंग नेशन्स में मार्गेन्थाऊ कहता है कि उनका सिद्धान्त यथार्थवादी इसलिये है क्योंकि यह मानव स्वभाव को उसके वास्तविक अथवा यथार्थ रूप में देखता है।

तीसरा सिद्धान्त -

मार्गेन्थाऊ के अनुसार राष्ट्रहित का कोई निश्चित या निर्धारित अर्थ नहीं है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मूल तत्व शाश्वत है। परन्तु परिस्थितियों में कुछ मामूली परिवर्तन होते रहते हैं। अतः एक राजनेता के लिये यह आवश्यक है कि वह मूल तत्वों को बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार ढालने का लगातार प्रयत्न करता रहे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि शक्ति सिद्धान्त को लागू करते समय उसमें कुछ परिवर्तन करना कभी कभी जरूरी हो जाता है। शक्ति सिद्धान्त लागू करते समय हम शक्ति की सीमाओं को भी ध्यान में रखें।

मार्गेन्थाऊ के अनुसार हित दो प्रकार के होते हैं। 1- अन्तर्राष्ट्रीय तथा परिवर्तनशील। राजनीति का गूढ़ तत्व सुरक्षा में निहित है जिसके बगैर किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र का अस्तित्व नहीं रहा सकता। सुरक्षा किसी भी राष्ट्र का न्यूनतम कार्य है। यह सुरक्षा ही कभी न बदलने वाला हित है। यथार्थवाद जैसा कि हमने देखा इस तथ्य से इंकार नहीं करता कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन आते हैं। वास्तव में यथार्थवादी सिद्धान्त तथा परिवर्तन में कोई विरोधाभास नहीं है। राजनीतिक यथार्थवाद केवल इस बात पर बल देता है कि परिवर्तन लाने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि हम राजनीति के गूढ़ तत्व को ही तिलांजलि दे दें।

चौथा सिद्धान्त -

राजनीतिक यथार्थवाद यह स्वीकार करता है कि राजनीतिक कार्यों का नैतिक महत्व भी है। साथ ही साथ यह बात भी मानकर चलता है कि नैतिक मापदंड, तथा राजनीतिक कार्यों के बीच तनाव की स्थिति रहती है, परन्तु हमको यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि सम्पूर्ण नैतिक सिद्धान्त राज्य के कार्यों पर लागू नहीं किए जा सकते। उनका आकलन समय की ठोस कसौटी पर किया जाना चाहिए, और परिस्थितियों को ध्यान में रखकर नैतिक सिद्धान्तों का चयन किया जाना चाहिये। राजनीतिक यथार्थवाद की यह मान्यता है कि राष्ट्रों को नैतिक सिद्धान्तों का पालन विवेक(स्वहित) और सम्भावित परिणामों के आधार पर ही करना चाहिए। विवेक के बगैर राजनीतिक नैतिकता के कोई माने नहीं होते। एक व्यक्ति तो नैतिक सिद्धान्तों के लिए सब कुछ छोड़ सकता है, पर यह बात राज्य पर लागू नहीं होती। कोई भी देश नैतिकता की दुहाई देकर अपनी सुरक्षा खतरे में नहीं डाल सकता। इस प्रकार से हम देखते हैं कि राजनीतिक यथार्थवाद नैतिकता के प्रति उदासीन नहीं है, पर

वह यह मानता है कि काल की परिस्थितियों के अनुसार नैतिक सिद्धान्तों में आवश्यक संशोधन कर लेने चाहिए। साथ ही साथ यथार्थवाद विवेक को राजनीति में उच्चतम मूल्य मानता है।

पाँचवां सिद्धान्त -

राजनीतिक यथार्थवाद का पाँचवां सिद्धान्त यह है कि राष्ट्र के नैतिक मूल्यों तथा सार्वभौम नैतिक मूल्यों को एक नहीं समझना चाहिए। यह दोनों एक दूसरे से पृथक हैं। किसी सार्वभौम नैतिक कानून का पालन किसी देश विदेश के लिये निश्चित रूप से लाभदायक नहीं है। यह भी संभव है कि उनके पालन से भयंकर परिणाम उत्पन्न हो जाएं। नैतिक सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अपने देश के हितों को बलिदान करने वाला व्यक्ति राजनीतिक दृष्टि से बुद्धिमान नहीं समझा जाता। पर दूसरी ओर राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नैतिकता का सर्वथा परित्याग भी इतिहासकारों की आलोचना का विषय बनता है। यह दोनों भ्रान्तियां हैं। और इनसे बचने का उपाय यह है कि प्रत्येक राष्ट्र अपने शक्ति के रूपमें परिभाषित राष्ट्रीय हित की दिशा में कदम उठाए।

मार्गेथाऊ अपने पाँचवें सिद्धान्त के अन्तर्गत राजनीतिज्ञों को चेतावनी देता है कि वे राष्ट्रों के द्वारा दी जाने वाली नैतिकता की दुहाई से अनावश्यक रूप से प्रभावित न हों। प्रत्येक राष्ट्र अपने कार्यों के समर्थन में नैतिकता की दुहाई अवश्य देता है। परन्तु वास्तव में वह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये कार्य करता है और उसके उद्देश्य अपने हितों की सुरक्षा होती है। इतिहास साक्षी है कि नैतिकता की दुहाई देते हुये कई राज्यों ने दूसरे राज्यों को नष्ट कर दिया। व्हाइटमैन बर्देन White Man's Burden के सिद्धान्त के आधार पर एशिया तथा अफ्रीका के निवासियों को सिविलाइज बनाने की आड़ में साम्राज्यवाद का विस्तार किया गया।

राष्ट्र की सहायता करने तथा उसके विकास में मदद देने में भी एक राष्ट्र अपने ही हितों की रक्षा करता है। उदाहरण के लिए यू.एस.ए. यदि दूसरे राष्ट्रों को आर्थिक या नैतिक सहायता देता है तो ऐसा करने से वह अपने ही हितों की रक्षा करता है - Containment of communism साम्यवाद के बढ़ावा को रोकना। यू.एस.ए. 1953 के बाद से लगभग बराबर पाकिस्तान को सैनिक मदद दे रहा है और बदले में वहाँ पर उसके सैनिक सुविधायें प्राप्त की तथा साथ ही साथ उसके हथियारों की जो कि आये दिन बेकार होते रहते हैं उनकी भी खपत होती रहती है। भारत के द्वारा नेपाल व भूटान को भारी आर्थिक सहायता देने के पीछे भी यही उद्देश्य है - इन देशों को चीन के पूर्ण प्रभाव में जाने से रोकना।

मार्गेथाऊ का कहना है कि यदि प्रत्येक राष्ट्र एक ही लक्ष्य की सिद्धि के लिये प्रयत्नशील हैं तो यह संभव है कि सभी राष्ट्र इस आधार पर संतुलित संबंध स्थापित कर लें। और यदि ऐसा हो जाता है तो यह विश्व शांति का प्रबल आधार बन जाएगा। मार्गेथाऊ कहता है कि राष्ट्रों के द्वारा पारस्परिक सूझ बूझ के आधार पर संतुलन स्थापित कर लेना आज के युग की सबसे बड़ी नैतिकता है और यह नैतिकता वांछनीय भी है।

छठा सिद्धान्त -

यथार्थवाद के अपने इस छठे सिद्धान्त में मार्गेन्थाऊ ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतंत्र विषय मानने की बात कही है। वह राजनीति के क्षेत्र की स्वायत्तता में विश्वास करता है। यथार्थवाद गैर राजनीतिक विषयों से अनभिज्ञ नहीं है। पर वह उन्हें राजनीतिक नियमों के अधीन मानता है। यथार्थवाद उन सभी विचारधाराओं का विरोध करता है जो राजनीतिक विषयों पर गैर राजनीतिक नियमों को जबरदस्ती थोपने का प्रयत्न करती हैं। मार्गेन्थाऊ का कहना है कि बौद्धिक रूप से राजनीतिक क्षेत्र उसी प्रकार से एक स्वतंत्र क्षेत्र है जिस प्रकार अर्थशास्त्र अथवा समाजशास्त्र हैं। यथार्थवाद मानव प्रवृत्ति के बहुल स्वरूप पर आधारित है। एक यथार्थवादी व्यक्ति, आर्थिक मानव, राजनीतिक मानव, नैतिक मानव, धार्मिक मानव, आदि का मिला जुला स्वरूप है। किन्तु यदि हम इनमें से किसी एक स्वरूप का गहन अध्ययन करना चाहते हैं तो उसको अन्य स्वरूपों से अलग रखकर ही ऐसा कर सकते हैं तभी यह अध्ययन सुव्यवस्थित होगा। राजनीतिक अध्ययन में मानव प्रवृत्ति के अन्य स्वरूपों का स्थान गौड़ है और यही कारण है कि राजनीतिक यथार्थवाद में राजनीति की स्वतंत्रता में बहुत अधिक बल दिया जाता है। राजनीति के विभिन्न स्वरूपों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भी एक है। अतः यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सुव्यवस्थित, तथा गहन अध्ययन करना चाहते हैं तो उसे अन्य राजनीतिक प्रभावों जैसे आन्तरिक राजनीति आदि से यथासंभव स्वतंत्र रखना होगा। स्पष्ट है कि अन्तर्राज्य का भी अपना स्वतंत्र स्वरूप है। यथार्थवादी दृष्टिकोण की तीन मूलभूत मान्यताएँ हैं। पहली यह कि प्रत्येक देश के राजनेता हमेशा अपने राष्ट्र के हित की सिद्धि के लिये प्रयत्न करते रहते हैं। दूसरी मान्यता यह है प्रत्येक राष्ट्र का हित उसके भौगोलिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक विस्तार में ही निहित है। तीसरी धारणा यह है कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी शक्ति और प्रभाव का उपयोग अपने हितों की रक्षा के लिये करता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक राज्य की विदेश नीति पूरी तरह से शक्ति पर निर्भर है। और यदि हम यह मानते हैं कि शक्ति भी एक प्रकार का प्रभाव है तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक राज्य की विदेश नीति प्रभाव पर आधारित है। इस प्रकार से शक्ति के दृष्टिकोण को प्रभाव का दृष्टिकोण भी कहा गया है। इस प्रकार से शक्ति, प्रभाव व यथार्थवादी दृष्टिकोण एक हैं।

मार्गेन्थाऊ का यह भी कहना है कि शक्ति ही वह वस्तु है जिसके द्वारा मनुष्य दूसरे मनुष्यों पर प्रभुत्व स्थापित करता है। साथ ही साथ वह यह भी कहता है कि जो लोग शक्ति का प्रयोग करते हैं, तथा जिन पर शक्ति का प्रयोग किया जाता है उनके बीच शक्ति से एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक संबंधत स्थापित हो जाता है शक्ति का तात्पर्य है राजनीतिक शक्ति अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति। शक्ति की इस परिभाषा के आधार पर मार्गेन्थाऊ ने शक्ति और हिंसा या बल प्रयोग में भी किया है। कम से कम सैद्धान्तिक स्तर पर शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के साधन भी हैं और साध्य भी है। साधन इसलिये है क्योंकि शक्ति से राष्ट्र हित की पूर्ति होती है और साध्य इसलिये कि शक्ति का आधिपत्य बना रहना राष्ट्रहित के सुगम सिद्धि के लिए आवश्यक है। मार्गेन्थाऊ कहता है कि किसी राज्य के हित न तो

निश्चित होते हैं और न ही सीमित। वे हमेशा फेलते ही जाते हैं अतः राष्ट्रहित के फेलाव के साथ मार्गेन्थाऊ कहता है कि शक्ति का फेलाव भी अपेक्षित है।

मार्गेन्थाऊ के अनुसार शक्ति का सिद्धान्त राजनीति के राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से लागू होता है। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र एक दूसरे से भिन्न नहीं थे। कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सामान्यराजनीति का एक विशिष्ट पहलू है। मार्गेन्थाऊ यह मानता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की परिस्थितियां घरेलू राजनीति की परिस्थितियों से भिन्न हैं। मार्गेन्थाऊ यह भी कहता है कि परिवर्तन तो अन्तर्राष्ट्रीय तथा घरेलू दोनों ही प्रकार की राजनीति में होते हैं, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों में हिंसा का प्रयोग बहुत अधिक होता है। कारण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसी कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं है जो कि विभिन्न राष्ट्रों के शक्ति संघर्ष को नियंत्रित करने का प्रयास करने लगता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का वही सिद्धान्त ठोस माना जा सकता है जिसमें राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर को ध्यान में रखा गया है।

मार्गेन्थाऊ कहता है कि विभिन्न राज्यों की सहज प्रवृत्ति अधिक से अधिक क्षति अर्जित करने की होती है। शक्ति केवल दूसरों पर आधिपत्य या प्रमाण ही स्थापित नहीं करती बल्कि विभिन्न राज्यों की विदेशनीति की प्रवृत्ति भी निर्धारित करती है। राजनेताओं के प्रत्येक कार्य का प्रयोजन शक्ति बनाये रखना, उसे बढ़ाना या उसका प्रदर्शन करना है। मार्गेन्थाऊ का मत है कि जिन राज्यों की शक्ति सीमित है और किन्हीं मजबूरियों के कारण अपनी शक्ति का विस्तार नहीं कर सकते तो वे अपनी शक्ति को वर्तमान स्तर पर बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य केवल वर्तमान के हितों की रक्षा करना होता है। ऐसे राज्य यथास्थिति वाली नीति का अनुसरण करते हैं। इसके विपरीत ऐसे राज्य जिनके पास शक्ति की अधिकता है वह प्रत्येक क्षेत्र में अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयास करते हैं ऐसे राज्यों की नीति परिवर्तनवादी होती है। इस प्रकार से मार्गेन्थाऊ कहता है कि विभिन्न राज्य दो श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं। जब कभी रिवीजनिस्ट राज्य की शक्ति विस्तार की लालसा अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है तो वह दूसरों का शोषण करने लगता है और उस राज्य की नीति साम्राज्यवादी हो जाती है। यथास्थितिवादी राज्य प्रयत्न करते हैं कि मौजूदा शक्ति संतुलन में कोई परिवर्तन न हो और इस संतुलन में जो उनकी स्थिति है वह बराबर बनी रहे। परन्तु परिवर्तनवादी राज्य मौजूदा शक्ति को उलटकर और अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिए तत्पर रहते हैं।

जैसा कि हम देख चुके हैं कि मार्गेन्थाऊ शक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्र मानता है। वह शक्ति को राष्ट्रहित का प्रतिबिम्ब समझता है, और यही कारण है कि प्रत्येक राज्य को अपने राष्ट्रहित का परिपोषण तथा संरक्षण करना चाहिए। किसी देश की विदेश नीति तभी सफल हो सकती है जबकि वह शक्ति अर्थात् राष्ट्रहित पर आधारित हो। परन्तु राष्ट्रहित है क्या? इस प्रश्न पर हम लोग अलग से विचार करेंगे। यहाँ पर हम केवल मार्गेन्थाऊ के विचारों को जान लें। मार्गेन्थाऊ ने

राष्ट्रहित की कोई स्पष्ट परिभाषा न देते हुए केवल इतना कहा है कि राष्ट्रहित का अर्थ काफी व्यापक है, और उसका स्वरूप उन बहुत से सांस्कृतिक तत्वों पर निर्भर है जिनके अन्तर्गत किसी राज्य की विदेश नीति निर्धारित की जाती है। मार्गेन्थाऊके अनुसार राष्ट्रहित के दो प्रमुख पक्ष हैं 1- स्थिर, स्थायी अथवा आवश्यक 2- अस्थिर अथवा अस्थायी। स्थिर पक्ष वह है जो प्रत्येक देश के लिए समान रूपसे महत्वपूर्ण हैं अस्थिर पक्ष का स्वरूप देश की बदलती हुयी परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। राष्ट्रहित की न्यूनतम आवश्यकता राष्ट्र की अस्तित्व की रक्षा होती है। अस्तित्व रक्षा राष्ट्र हित का स्थिर पक्ष होता है परन्तु अस्थायी पक्ष का स्वरूप स्पष्ट रूप से पहचानना कठिन है। राष्ट्रहित के आवश्यक तत्व की निरन्तरता दो बातों से उत्पन्न होती है।

1- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में प्रत्येक राष्ट्र के अस्तित्व को हमेशा खतरा रहता है

2- अस्तित्वरक्षा के लिये शक्ति ही एकमात्र साधन है।

मार्गेन्थाऊका कहना है कि राष्ट्रहित के अस्थिर पक्ष का सही रूप पहचानना काफी कठिन है क्योंकि यह अक्सर कई प्रकार के बाहरी आवरणों के भीतर दब जाता है। इस सम्बन्ध में मार्गेन्थाऊ कुछ विशेष आवरणों का उल्लेख करता है। पहला आवरण किसी देश के उन अन्दरूनी गुटों के कारण होता है जो अपने निजी संकीर्ण हितों को राष्ट्रहित की संज्ञा देते हैं। राजकीय सत्ता प्राप्त करने पर यह गुट अपने निजी हितों को ही राष्ट्र हित कहकर जनता के सामने पेश करते हैं। कभी कभी सत्ता से बाहर रह कर भी यह गुट देश की विदेश नीति को प्रभावित करते हैं। दूसरा आवरण विदेशी हस्तक्षेप के कारण पैदा होता है। यह हस्तक्षेप प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार का हो सकता है। इस हस्तक्षेप का प्रभाव यह पड़ता है कि नीति निर्माता किसी अन्य देश के दबाव में आकर अपने देश का राष्ट्रीय हित निर्धारित करते हैं। कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई भावना के कारण भी राष्ट्रहित का सही स्वरूप छिप जाता है। इस भावना का ही परिणाम है कि आज कल विभिन्न देशों के अलग अलग राष्ट्रहित को सम्पूर्ण विश्व के हितों में मिला देने की आवाज उठने लगी है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि राष्ट्रहित का सही रूप तीन प्रकार के अवस्थाओं में छिप जाता है। पहला आवरण उपराष्ट्रीय है दूसरा अन्य राष्ट्रीय और तीसरा अन्तर्राष्ट्रीय। मार्गेन्थाऊका कहना है कि राजनेताओं का यह पहला कर्तव्य है कि राष्ट्रहित को इन तीनों आवरणों के अवांछनीय प्रभाव से बचायें। इसके बाद उन्हें यह तय कर लेना चाहिए कि देश के विभिन्न लक्ष्यों में कौन से प्राथमिक हैं तथा कौन से गौड़। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि किसी भी देश के पास अपने सभी लक्ष्यों की पूर्ति के लिये पर्याप्त साधन नहीं होते अतः उन्हें अपने उपलब्ध साधनों का प्रयोग विवेकपूर्वक इस प्रकार से करना चाहिए कि प्राथमिक हितों की अधिक पूर्ति हो सके। परन्तु यह तभी हो सकता है जबकि राजनेताओं को राष्ट्रहित के स्थिर एवं अस्थिर तत्वों के भेद का पूरा ज्ञान हो। इसलिए मार्गेन्थाऊ राष्ट्रहित के दोनों तत्वों के बीच संतुलन बनाये रखने की आवश्यकता पर जोर देता है।

राष्ट्रहित संबंधी अपने विचारों को मार्गेन्थाऊ अनैतिक नहीं मानता। उसका यह विश्वास है कि संसार में रहकर पाप और बुराई से बिलकुल बचे रहना संभव नहीं है अधिक से अधिक हम इस बात की कोशिश कर सकते हैं कि अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिये ऐसा रास्ता अपनाएं जिसमें पाप और बुराई का तत्व कम से कम हो। मार्गेन्थाऊ की यह धारणा है कि राजनीति में यह निश्चित कर पाना काफी कठिन है। कि कौन से कार्य पूरी तरह से नैतिक हैं और कौन से पूरी तरह से अनैतिक। इसके अर्थ यह नहीं है कि राजनीतिक कार्य का कोई नैतिक उद्देश्य नहीं होता। वास्तव में शक्ति के माध्यम से अपने मूल्यों को साकार करना हमारे राजनीतिक कार्यों का उद्देश्य है। अतः राष्ट्रहित का पालन करना नीति निर्धारकों का नैतिक धर्म है। मार्गेन्थाऊ का कहना है कि जब तक विभिन्न देशों के पारस्परिक सम्बन्धों को नियमित करने के लिये किसी केन्द्रीय सत्ता की स्थापना नहीं होती तब तक प्रत्येक राज्य को अपने अस्तित्व सत्ता के लिये अपने निजी प्रयासों पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। अतः मार्गेन्थाऊ कहता है कि शक्ति के द्वारा राष्ट्रहित की पूर्ति के लिये प्रयत्न करना नैतिकता की सबसे बड़ी मांग है।

इस प्रकार से मार्गेन्थाऊ ने नैतिकता की अपनी अलग से परिभाषा दी है जिसके अन्तर्गत राष्ट्रहित को सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त है। मार्गेन्थाऊ का कहना है कि राजनेताओं को अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं तथा सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्तों की अपेक्षा राष्ट्रहित की सुरक्षा पर अधिक ध्यान देना चाहिए। मार्गेन्थाऊ नैतिकता तथा अनैतिकता के बीच विवाद को बेकार मानता है। मार्गेन्थाऊ का नैतिकता संबंधी दृष्टिकोण यह है कि राष्ट्रहित की सुरक्षा करना राजनेताओं का सबसे बड़ा नैतिक धर्म है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि प्रत्येक देश इस धर्म को निर्वाहन करने का प्रयत्न करेगा तो विभिन्न देशों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होना अवश्यम्भावी हैं और यदि इस संघर्ष पर किसी तरह का कोई नियंत्रण नहीं किया जाता है तो युद्ध का संकट बना रहेगा। ऐसी स्थिति में मार्गेन्थाऊ विश्व शान्ति की लिये अब तक किये गये विभिन्न उपायों को जांच पड़ताल करता है। मार्गेन्थाऊ इन उपायों को तीन भागों में बाँटता है।

- 1- प्रतिबन्ध द्वारा शान्ति इसके अन्तर्गत निस्स्त्रीकरण समूहिक सुरक्षा, शान्तिपूर्ण परिवर्तन, न्यायिक समझौते और अन्तर्राष्ट्रीय सरकार आते हैं।
- 2- दूसरा वर्ग परिवर्तन द्वारा शान्ति का है इसके अन्तर्गत विश्व समाज की स्थापना की जाती है।
- 3- तीसरा वर्ग परस्पर युद्ध द्वारा उपायों का है इस वर्ग के अन्तर्गत डिप्लोमेसी को रखता है।

मार्गेन्थाऊने इन सभी उपायों की व्यवहारिकता की आलोचनात्मक विवेचना की है। निस्स्त्रीकरण तभी उपयोगी हो सकता है जबकि दुनिया के सभी देशों के बीच इस सम्बन्ध में कोई कारगर समझौता हो जाय। इसी प्रकार से सामूहिक सुरक्षा को भी मार्गेन्थाऊ व्यवहारिक नहीं मानता। उसके अनुसार सामूहिक सुरक्षा की सफलता की तीन शर्तें हैं

- 1- सम्भावित आक्रमणकारी का मुकाबला करने के लिये पर्याप्त शक्ति हो

- 2- सामूहिक सुरक्षा में भाग लेने वाले देशों के बीच सुरक्षा की समस्या के बारे में मतैक्य हो।
 - 3- सभी देश अपने निजी हितों को सामूहिक हित के लिए बलिदान करने को तैयार हों।
- मार्गेन्थाऊ कहता है इतिहास गवाह है कि यह तीनों शर्तें कभी भी पूरी नहीं हो सकती। और विश्व शान्ति की समस्या सामूहिक सुरक्षा के द्वारा हल नहीं की जा सकती। मार्गेन्थाऊ कहता है कि न्यायिक समझौतों के द्वारा भी युद्ध की समस्या हल नहीं की जा सकती। न्यायिक समझौतों से केवल कानूनी झगड़ों को निपटाया जा सकता है। परन्तु युद्ध के प्रायः राजनीतिक कारण अधिक हुआ करते हैं इसी प्रकार से शांतिपूर्ण परिवर्तन को भी मार्गेन्थाऊ प्रभावकारी नहीं मानता है। उसका कहना है कि यह योजना केवल आन्तरिक मामलों में ही कारगर हो सकती है। मार्गेन्थाऊ को अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की योजना भी मान्य नहीं है।

मार्गेन्थाऊ इस बात से भी सहमत नहीं हैं कि विश्व राजसत्ता की स्थापना के द्वारा स्थायी विश्व शांति स्थापित की जा सकती है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि विश्व राजसत्ता के स्थायित्व में मार्गेन्थाऊ का विश्वास नहीं है वह यह मानता है कि विश्व राज्यसत्ता के बगैर स्थायी विश्व शान्ति संभव नहीं है। पर आज संसार में जो परिस्थितियां व्याप्त हैं। उन्हें देखते हुए कहा जा सकता है कि विश्व राजसत्ता की स्थापना संभव नहीं है।

इस प्रकार से प्रतिबंध अथवा परिवर्तन द्वारा शांति स्थापना के किसी भी प्रयास को मार्गेन्थाऊ उपयोगी नहीं मानता। वह उन लोगों से भी सहमत नहीं है जो अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता, विश्व जनमत या अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा शांति स्थापना सम्भव मानते हैं। मार्गेन्थाऊ कहता है कि इतिहास में आज तक अन्तर्राष्ट्रीयवाद पर राष्ट्रवाद की ही विजय होती आयी है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी इसलिये प्रभावहीन है। क्योंकि विश्व में अभी तक कोई ऐसी केन्द्रीय सत्ता नहीं है जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण कर सके और उसकी सही व्याख्या करके सभी देशों को उसका पालन कर लेने के लिये बाध्य कर सके। अतः मार्गेन्थाऊ स्पष्ट रूप से कहता है कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता, विश्व जनमत, या अन्तर्राष्ट्रीय विधि के द्वारा शान्ति संघर्ष पर रोक नहीं लगा सकती।

इन सभी प्रयासों को अनुपयोगी बताकर मार्गेन्थाऊ अन्त में परस्पर सहयोग, अर्थात् नीति कुशलता के द्वारा शांति स्थापित करने की बात करता है। मार्गेन्थाऊ के अनुसार कुशलता के दो महत्वपूर्ण कार्य हैं। एक प्रत्यक्ष और दूसरा अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष रूप से नीति कुशलता अन्तर्राष्ट्रीय विवाद को नियंत्रित करती है। और, अप्रत्यक्ष रूप से विश्व समुदाय के विकास में सहायता करती है। पर मार्गेन्थाऊ कहता है कि नीति कुशलता अपने इन दोनों कार्यों को ठीक से तभी सम्पन्न कर सकती है जबकि वह निम्नलिखित नौ नियमों से बंधी हो।

- 1- नीति कुशलता, धर्म युद्ध की मध्यता से सदैव मुक्त रहनी चाहिये।
- 2- विदेश नीति के लक्ष्य राष्ट्रहित की मांग के आधार पर निर्धारित किये जाने चाहिए। इन लक्ष्यों की पर्याप्त शक्ति द्वारा रक्षा करनी चाहिए।

- 3- राजनीतिक स्थिति का विश्लेषण करते समय दूसरे देशों के हित तथा दृष्टिकोण को भी ध्यान में रखना चाहिए।
- 4- जरूरत पड़ने पर समझौता करने के लिए राष्ट्रों को सहज ही तैयार हो जाना चाहिए।
- 5- राष्ट्रों को अनुमानित लाभों की अपेक्षा वास्तविक लाभों की अधिक चिन्ता करनी चाहिए।
- 6- राष्ट्रों को इस प्रकार की स्थिति नहीं पैदा करना चाहिए, जहाँ से हटना बाद में असम्भव हो जाय। और वहाँ से आगे बढ़ने में खतरनाक स्थिति उत्पन्नहोने की आशंका हो।
- 7- अपने से कमजोर किसी मित्र राष्ट्र को अपने लिये स्वयं निर्णय करने की छूट नहीं देनी चाहिए।
- 8- राज्य की सैनिक शक्ति हमेशा ही राजनीतिक शक्ति के अधीन रहनी चाहिए।
- 9- सरकार को जनता का सेवक नहीं बल्कि उसके नेता के रूप में कार्य करना चाहिए। मार्गेन्थाऊ का विश्वास है कि यदि इन नौ नियमों का पालन करते हुए नीति कुशलता का प्रयोग किया जाय तो शान्ति की समस्या काफी हद तक हल हो सकती है।

मार्गेन्थाऊ का यह भी कहना है कि कूटनीति के अतिरिक्त दो अन्य साधनों के द्वारा भी शान्ति की रक्षा की जा सकती है। इसमें से एक तो हैं शक्ति संतुलन, और दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय कानून। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और जनमत के बन्धन। परन्तु सबसे बड़ी समस्या यह है कि इन बन्धनों को प्रभावशाली कैसे बनाया जाय।

2.3.1.3 मार्गेन्थाऊ के यथार्थवाद की समालोचना

मार्गेन्थाऊ के राजनीतिक यथार्थवाद के सिद्धान्त की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अनेक विद्वानों ने आलोचना की है। स्टेनली एच. हाफमैन का कहना है कि यह सिद्धान्त असंगतियों से भरा हुआ है। हाफमैन ने व्यवस्थित ढंग से मार्गेन्थाऊ के सिद्धान्त का आलोचनात्मक विश्लेषण किया है।

1. हाफमैन मार्गेन्थाऊ के शक्ति सम्बन्धी विचारों से असहमत हैं यदि हम मार्गेन्थाऊ के शक्ति के यथार्थवादी विश्लेषण को सही मान लें तो ऐसा लगेगा कि चिर काल से विश्व में केवल शक्ति की पुनरावृत्ति के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो रहा है। शक्ति की इसी भूमिका के आधार पर मार्गेन्थाऊ ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतंत्र विषय माना है। हाफमैन का कहना है कि मार्गेन्थाऊ का यथार्थवादी राजनीति का सिद्धान्त एकपक्षीय हो गया है। मार्गेन्थाऊ यह भी स्पष्ट नहीं कर सके हैं कि वे स्वायत्तता की बात किस आधार पर कर रहे हैं जबकि स्वायत्तता मार्गेन्थाऊ के यथार्थवाद का एक प्रमुख तत्व है।
2. हाफमैन का कहना है कि राजनीति को शक्ति का पर्यायवाची बना देना, और शक्ति संघर्ष को ही राजनीति का सब कुछ मान लेना उचित नहीं है। राजनीतिक मानव से आर्थिक मानव धार्मिक मानव, आदि भी शामिल हैं। अतः उसके केवल एक पक्षीय स्वरूप पर ही बल देने और उसे सम्पूर्ण राजनीति मान लेने का दृष्टिकोण युक्त है। हाफमैन का कहना है कि मार्गेन्थाऊ द्वारा शक्ति की व्याख्या एक दोषपूर्ण तथा घातक विचार है यदि इसे स्वीकार कर

लिया जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि राजनीति केवल बुराई है पर यह राजनीति का एक विकृत स्वरूप होगा। यथार्थ नहीं राजनीति को केवल बुराई ही नहीं कहा जा सकता क्योंकि मानव प्रवृत्ति में निहित तत्व अच्छे और बुरे दोनों ही होते हैं और इन्हीं तत्वों की अभिव्यक्ति राजनीति में भी होती है।

3. हाफमैन यह मानने को तैयार नहीं हैं कि सभी मानव कार्यों के मूल में उसकी प्रवृत्ति सन्निहित हैं परिस्थितियों के प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कई बार मनुष्य स्वभाव के कारण नहीं बल्कि परिस्थितिक बुराई कर बैठता है इस प्रकार से मार्गेन्थाऊ का यथार्थवाद मानव प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भी एक दोषपूर्ण तथा बहुत कुछ एकांगी विचार पर आधारित है।
4. हाफमैन ने एक आलोचना यह की है कि मार्गेन्थाऊने शक्ति पर कुछ अधिक ही बल दिया है। मार्गेन्थाऊ शक्ति या राजनीतिक कार्यों का साध्य मानता है जबकि वास्तविकता यह है कि शक्ति के द्वारा राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सकती है। इस प्रकार से शक्ति एक साधन है न कि साध्य। शक्ति के स्वरूप और उसकी मात्रा का निर्धारण इस बात पर निर्भर करता है कि उद्देश्य क्या है? यदि मार्गेन्थाऊ के उद्देश्यों के अध्ययन पर सही बल दिया होता तो वह शक्ति को साध्य बना देने की भूल न करता। हाफमैन इस बात पर खेद व्यक्त करता हैं कि मार्गेन्थाऊ ने उन सभी मान्यताओं को नकारा है जिनके आधार पर उद्देश्यों को निर्धारित किया जाता है।
5. इसके अतिरिक्त अध्ययन पद्धतियों के दृष्टिकोण से भी केवल शक्ति के विचार पर ही बल देना ठीक नहीं हैं शक्ति स्वयं विभिन्न तत्वों का सम्मिलित स्वरूप हैं। शक्ति की इन विभिन्नताओं की उपेक्षा करके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र को अच्छी प्रकार से नहीं समझा जा सकता। मार्गेन्थाऊ ने 18 वीं तथा 19वीं शताब्दी के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया है और इस तथ्य की उपेक्षा की है कि आधुनिक 20वीं शताब्दी के संसार में विभिन्नता और टकराव की जो स्थितियां मौजूद हैं वैसी पहले नहीं थीं। राष्ट्रों की आन्तरिक राजनीतिक घटनाओं की विदेश नीतियों को प्रभावित करती है। विभिन्न और परस्पर विरोधी राजनीतिक गुट तथा दबाव समूह, निरंतर सक्रिय रहकर विदेश नीति के निर्णायक कर्ताओं को प्रभावित करते हैं। नीतियों को प्रभावित करने वाली शक्तियां आज तिजनी प्रबल हैं उतनी 19वीं व 18वीं शताब्दियों में नहीं थी। उस समय की राजनीतिक सरकारें आज जैसे राजनीतिक प्रभावों और दबावों से बहुत कुछ मुक्त थीं।
6. हाफमैन ने मार्गेन्थाऊ के राष्ट्रहित सम्बन्धी विचारों की भी आलोचना की हैं तथा उन्हें दोषपूर्ण बताया है। हाफमैन का कहना है कि मार्गेन्थाऊकी राष्ट्रहित की कल्पना उस युग के लिये ठीक हो सकती थी जिसमें समाज एकरूपता लिये हुए हो लेकिन आधुनिक समाज ऐसे नहीं हैं। आधुनिक समाज में अन्तरविरोधियों की भरमार है। आज के अन्तर्राष्ट्रीय

जगत में राष्ट्रहित पर कहीं भी मत की एकता नहीं पाई जाती। आज का युग महान प्राविधिक और वैज्ञानिक विकास का है। जिसमें कि आए दिन राजनीतिक उथल पुथल हुआ करती है। भौगोलिक स्थितियों, प्रावृत्तिक साधनों तथा औद्योगिक क्षमताओं के बारे में हमारी पूर्व मान्यतायें बदल रही हैं। इन परिवर्तित स्थितियों, तथा मान्यताओं को ध्यान में रखते हुये यह कहा जा सकता है कि मार्गेन्थाऊ के राष्ट्रहित सम्बन्धी विचारों में केवल एक ही दृष्टिकोण अपनाया गया है जो कि दोषपूर्ण है।

7. यदि मार्गेन्थाऊ के सिद्धान्त को मान लिया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केवल एक पहलू है और वह यह है - विभिन्न राष्ट्रों के हितों में टकराव अतः हमें अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के विचार को हमेशा के लिए तिलांजलि देना होगा।
8. मार्गेन्थाऊ की यथार्थवादी राजनीति का एक तत्व विवेक है और मार्गेन्थाऊ ने विदेश नीति के विवेक पक्ष पर बहुत अधिक बल दिया है जबकि हाफमैन का कहना है कि आज का क्रान्तिकारी युग जटिलताओं से पटा पड़ा है, तथा कुछ राष्ट्र ऐसी विदेश नीतियों का अनुसरण करते हैं जो सर्वथा अविवेकपूर्ण लगती हैं। फिर भी वह उनके अपने हित में होती हैं।
9. मार्गेन्थाऊ के यथार्थवादी सिद्धान्त का आधार मानव प्रवृत्ति है परन्तु मानव प्रवृत्ति संबंधी धारणायें वैज्ञानिक न होकर बहुत कुछ अनुमान पर आधारित हैं।
10. राजनीतिक यथार्थवाद में नैतिकता के तत्व की भी आलोचना की गई है। मार्गेन्थाऊ का कहना है कि राष्ट्रहितों की पारस्परिक मान्यता के आधार पर विश्व के राष्ट्र संतुलित सम्बन्धों को स्थापित कर सकते हैं और यही सर्वोच्च नैतिकता है किन्तु इस प्रकार की मान्यता, उसी संदर्भ में उचित हो सकती है जिसमें राष्ट्रहित विवादग्रस्त विषय न हो।
11. विद्वानों ने तो मार्गेन्थाऊ के सिद्धान्त को यथार्थवादी मानने से ही इन्कार कर दिया है। उनका आरोप है कि मार्गेन्थाऊ ने जगह जगह पर वस्तु स्थिति का उल्लेख करने के साथ साथ “चाहिए” जैसे आदर्श सूचक शब्द का भी प्रयोग किया है इस प्रकार से आलोचना यह की गई है कि मार्गेन्थाऊ के विचारों को मानव प्रवृत्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रामाणिक तथा यथार्थवादी आधार नहीं माना जा सकता। मार्गेन्थाऊ के विचारों में असंगतियां हैं। एक ओर तो उसने यथार्थवादी तथा आदर्शवादी तत्वों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है दूसरी ओर नियतिवाद, तथा पुरुषार्थवाद जैसे विरोधी विचारों में तालमेल बैठाने की कोशिश की है। विश्लेषण से पता चलता है कि मार्गेन्थाऊ का सिद्धान्त यथार्थवादी होने के साथ साथ मूल्य परक भी है। इसी प्रकार से हम देखते हैं कि कूटनीति के द्वारा शान्ति स्थापना के प्रयोग में मार्गेन्थाऊ ने योग्य राजनीतिज्ञों की आवश्यकता पर बल दिया है किन्तु वह यह स्पष्ट नहीं करता कि जब तक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति संघर्ष पर आधारित है और संघर्षों का समाधान कूटनीति के द्वारा ही संपन्न है तो इस

प्रकार की स्थिति में बेचारे शांतिवादी राजनीतिक किस प्रकार से प्रवेश पा सकेंगे। और शान्ति स्थापना का आदर्श किस प्रकार से प्राप्त करेंगे। आलोचकों का कहना है कि मार्गेन्थाऊ ने परस्पर विरोधी तत्वों और विचारों का सहारा लेकर अपने सिद्धान्त में विभिन्न सैद्धान्तिक जटिलताओं को पैदा कर दिया है।

2.3.1.4 मार्गेन्थाऊ के यथार्थवादी सिद्धान्त का महत्व

मार्गेन्थाऊ का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों के लिए भारी वाद विवाद का विषय बना हुआ है। हाफमैन तथा बेनो वासरमैन जैसे विद्वानों ने इसकी कटु आलोचना की है तो केनेथ डब्ल्यू. थामसन तथा डेविड सिंगर जैसे विद्वानों ने इस सिद्धान्त की काफी प्रशंसा की है। हेराल्ड स्प्राउट, क्विन्सी राइट जैसे विद्वानों ने मार्गेन्थाऊ की देन को स्वीकार करते हुए उसे अपूर्ण कहा है।

मार्गेन्थाऊ के यथार्थवादी सिद्धान्त की आलोचनाएं सबल हैं किन्तु पूर्ण सत्य नहीं हैं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में यथार्थवादी सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस सिद्धान्त ने राष्ट्रीय हितों और उनकी प्राप्ति के लिये शक्ति के प्रयोग सम्बन्धी गम्भीर विचारों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का पहली बार व्यापक विश्लेषण किया है और इस प्रकार से इस विषय को सैद्धान्तिक आधार दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हितों के महत्व और उनके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले संघर्षों आदि तथ्यों को नकारा नहीं जा सकता। यह एक कटु सत्य है कि आज का युग एक बड़ी सीमा तक शक्ति संघर्ष का युग है जिसमें राजनीति के सभी दांव पेशों का प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक राष्ट्र अपने हित को ध्यान में रखकर ही अपनी विदेश नीति का संचालन करता है।

प्रत्येक राष्ट्र अपने स्वार्थ पूर्ति में संलग्न है और उसका स्वार्थ यह है कि वह अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करें। इस बात पर जोर देकर यथार्थवादी विचारधारा दो प्रमुख संदेश देती है पहला संदेश यह है कि विदेश नीति ऐसी बनायी जाये जो शक्ति बढ़ाने तथा उसको बनाए रखने में अधिक से अधिक सहायता कर सके। दूसरा संदेश यह है कि हम अपनी विदेश नीति का निर्माण करते समय यह भी ध्यान में रखें कि दूसरे देश का राष्ट्रीय हित क्या है, तथा वह यथासंभव हमारे हित से टकराए नहीं।

इसके अतिरिक्त चूंकि यथार्थवादी सिद्धान्त का आधार बुद्धि है अतः इससे प्रभावित होकर विदेश नीति की वृद्धि तथा तर्क पर आधारित होगी। इस प्रकार की विदेश नीति राजनीतिक रूप से सफल होती है तथा नैतिक रूप से भी उसकी प्रशंसा की जाती है। यह विदेश नीति का एक बड़ा गुण माना जाता है कि वह यथार्थवादी हो।

पिछले कई वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को वैज्ञानिक आधार पर अधिक से अधिक व्यवस्थित रूप देने की कोशिश की गई है और अनेक दृष्टिकोण प्रस्तुत किये गये हैं जैसे रिचर्ड स्नाइडर का नीति निर्धारण सम्बन्धी दृष्टिकोण, कैपलान का व्यवस्था विश्लेषण, चार्ल्स मैकमिलन का सामान्य व्यवस्था सम्बन्धी दृष्टिकोण, जार्ज लिस्का का साम्यावस्था सम्बन्धी दृष्टिकोण, यह सब प्रयास इस ओर संकेत करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र मार्गेन्थाऊ के सिद्धान्त से काफी आगे बढ़ चुका है। व्यवस्था दृष्टिकोण को आज यथार्थवादी दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक विकसित माना

जाता है। लेकिन यह सारी बातें मार्गेन्थाऊ की देन इस रूप में भी कम नहीं हैं कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय को वैज्ञानिक आधार प्रदान कर दूसरे विचारकों को भी इस दिशा में कार्य करने के लिए प्रेरित किया। केनेथ डबल्यु. थम्पसन का लिया है। कि मार्गेन्थाऊका सिद्धान्त अभी विकास की अवस्था में है।

2.4 नव यथार्थवाद

केनेथ वाल्टज का ढाँचागत यथार्थवाद Structural Realism of Kenneth Waltz

केनेथ वाल्टज के ढाँचागत यथार्थवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के विद्वानों पर गहरा प्रभाव डाला है। उसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में राज्यों के व्यवहार को तय करने का प्रमुख कारक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का ढाँचा है। उसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में कोई केन्द्रीय सत्ता व्यवस्था बनाये रखने के लिये नहीं है।

दूसरी प्रमुख बात वाल्टज के नव यथार्थवाद (Neorealism) की है वह है उसकी शक्ति की अवधारणा। जहाँ परम्परागत यथार्थवाद शक्ति के विभिन्न तत्वों में सैन्य शक्ति को सबसे अधिक महत्व देता है। वहीं वाल्टज इससे सहमत नहीं है। उसका कहना है कि शक्ति का सबसे महत्वपूर्ण तत्व सिर्फ सैन्य शक्ति ही नहीं है क्योंकि किसी भी देश की शक्ति उसकी संयुक्त क्षमताओं से आती है। वैसे वह परम्परागत यथार्थवाद से इस बात पर सहमत है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में व्यवस्था कायम रखने के लिए शक्ति के संतुलन की आवश्यकता होती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ मात्र अस्तित्व में रहने से प्रभावी नहीं होती हैं जैसा कि नव उदारवाद का मानना है, बल्कि उनके प्रभावी होने के लिये उनको विश्व की प्रमुख शक्तियों का समर्थन आवश्यक है।

तीसरा अंतर वाल्टज के यथार्थवाद और पारम्परिक यथार्थवाद में यह है कि जहाँ पारम्परिक यथार्थवाद अराजकता को अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की एक परिस्थिति मानता है वहीं नवयथार्थवाद का मानना है कि अराजकता स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को परिभाषित करती है। जहाँ परम्परागत यथार्थवाद के अनुसार अराजकता की स्थिति में राज्य अपने क्षेत्रफल, जहाँ पर वे स्थित हैं, घरेलू राजनीति तथा नेतृत्व के गुणों के आधार पर क्रिया-प्रक्रिया करते हैं वहीं वाल्टज के अनुसार राज्य अपनी शक्ति और क्षमताओं के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय जगत की अराजकता से निपटते हैं क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय जगत को अराजकता ही परिभाषित करती है इसलिये वह हर राज्य के लिये एक समान है।

जोसेफ ग्रीको Joseph Grieco का नवयथार्थवाद Neorealism

उसके अनुसार राज्य अपनी शक्ति और प्रभाव को बढ़ाने में रुचि रखते हैं इसलिये वे अपनी क्षमताओं को बढ़ाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अन्य कारकों एवं राज्यों से सहयोग करते हैं। परन्तु वे किसी भी सहयोगात्मक प्रयास में अन्य राज्यों द्वारा अर्जित शक्ति और प्रभाव पर भी नजर रखते हैं तथा उससे किसको अधिक लाभ हो रहा है आज के प्रतिस्पर्धात्मक माहौल में।

नव यथार्थवाद के प्रमुख तत्व:

1. राज्य एवं अन्य कारक एक अराजक माहौल में कार्य करते हैं जिसमें कि कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं रहती है।
2. व्यवस्था का ढाँचा कारकों के व्यवहार को निर्धारित करता है।
3. राज्य स्वार्थपरक होते हैं तथा अराजक एवं प्रतिस्पर्धात्मक व्यवस्था राज्यों को अपने स्वार्थ को सहयोगात्मक व्यवहार के आगे प्राथमिकता देने के लिये मजबूर करती है।

4. राज्य बुद्धिपरक कारक है जो अपने लाभ को बढ़ाना और नुकसान को कम करना चाहेंगे।
5. अराजकता द्वारा प्रस्तुत सबसे गम्भीर समस्या है अपने अस्तित्व को बचाये रखना।
6. राज्य दूसरे राज्यों को भावी शत्रु तथा अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये खतरा मानते हैं।

आक्रामक नव यथार्थवाद (Offensive Neorealism) और सुरक्षात्मक नव यथार्थवाद (Defensive Neorealism) आक्रामक यथार्थवाद के प्रमुख प्रवक्ता जॉन मीयरशार्डमर John Mearsheimer हैं। यह परम्परागत यथार्थवाद की तरह मानता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में संघर्ष तो रहना ही है तथा राजनेताओं को शक्ति का विस्तार करने वाले राष्ट्रों से सावधान रहना चाहिए। वहीं सुरक्षात्मक यथार्थवाद (केनेथ वाल्ट्ज Kenneth Waltz) युद्ध की कीमतों को समझता है तथा युद्ध को समाज की अतार्किक शक्तियों का परिणाम मानता है। विस्तारवादी शक्तियाँ जो सैन्य शक्ति का प्रयोग करना चाहते हैं वे संसार में बिना शस्त्र के रहना कठिन कर देते हैं। सहयोग तो मित्र देशों के साथ ही सम्भव है। आक्रामक यथार्थवाद का मानना है कि राज्यों के आपसी हितों एवं लक्ष्यों के बीच सामन्जस्य न हो पाने से अन्तर्राष्ट्रीय जगत में संघर्ष अवश्यम्भावी है तथा इसलिये राष्ट्रों को अपने रक्षा बजट में कटौती नहीं करना चाहिये क्योंकि वे अपने को फिर उन राष्ट्रों के हमले का ठिकाना बना लेंगे जो अपनी शक्तियों का विस्तार करना चाहते हैं।

2.5 आदर्शवाद

यथार्थवादियों के विपरीत, आदर्शवादी शक्ति राजनीति को इतिहास तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अस्थाई पक्ष मानते हैं। उनका कहना है कि यथार्थवाद एक ऐसी अवधारणा है जो इतिहास के वास्तविक अर्थ को तोड़ती, मरोड़ती तथा भ्रष्ट करती है। आदर्शवाद समाज के क्रमिक विकास में विश्वास रखता है। इस दृष्टिकोण का प्रारम्भ 18वीं शताब्दी में हुआ था और यह फ्रेन्च तथा अमरीकी क्रान्तियों के पीछे प्रेरणा का एक प्रमुख श्रोत था। कान्दरसेट (Condorcet) इस दृष्टिकोण का प्रथम प्रमुख विचारक था। 1795 में उसने अपनी पुस्तक, स्केच फार अ हिस्टोरिकल पिक्चर आफ दि प्रोग्रेस आफ दि ह्यूमन स्पिरिट, में एक ऐसी आदर्श विश्व व्यवस्था की कल्पना की है जिसमें युद्ध, विषमता तथा अत्याचार का सर्वथा अभाव हो, तथा विवेक शिक्षा, विज्ञान आदि के माध्यम से मानव कल्याण की धारा बहे।

संक्षेप में, आदर्शवाद Idealism भावी अन्तर्राष्ट्रीय समाज की वह तस्वीर खींचता है जिसमें शक्ति राजनीति, हिंसा, तथा अनैतिकता आदि के लिये कोई स्थान नहीं है। आदर्शवादियों का विचार है कि समुचित शिक्षा तथा प्रभावशाली अंतर्राष्ट्रीय संगठन की सहायता से हम आज की अपेक्षा एक अधिक अच्छे संसार का निर्माण कर सकते हैं। उनका तर्क है कि अतीत में जो राजनीतिक संघर्ष हुए, वह शक्ति या प्रभाव के लिये नहीं हुए, बल्कि परस्पर विरोधी आदर्शों के बीच होने वाले संघर्ष थे। कल्पनाविवादी आदर्शवादियों का सुझाव है -

- 1- अन्तर्राष्ट्रीय जगत में परम्परागत शक्ति नीति का परित्याग, तथा नैतिक सिद्धान्तों का पालन किया जाए।
- 2- लोकतंत्र विरोधी सर्वाधिकारवादी शक्तियों के प्रभाव को समाप्त करने का हर संभव प्रयास किया जाए।
- 3- एक विश्व सरकार की स्थापना द्वारा शक्ति राजनीति को समाप्त किया जाए।

2.6 यथार्थवाद बनाम आदर्शवाद

राजनीतिक यथार्थवाद और राजनीतिक आदर्शवाद में परस्पर विरोध का सबसे बड़ा केन्द्र बिन्दु शक्ति की समस्या है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद वुड्रो विल्सन तथा द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बी.रसेल आदर्शवाद के प्रवर्तक रहे हैं। दो महायुद्धों के बीच, यथार्थवाद और आदर्शवाद के बीच विरोध काफी खुलकर सामने आया। यथार्थवाद को

राष्ट्रीयता और आदर्शवाद को अन्तर्राष्ट्रीयता से सम्बद्ध समझा गया। साथ ही इस धारणा को भी बल मिला कि यथार्थवाद की नीतियाँ शांति विरोधी हैं, तथा उनका उद्देश्य राष्ट्रीय शक्ति का प्रसार है। इसके विपरीत साधारणतया यह समझा गया कि आदर्शवाद की नीतियाँ शांति को प्रोत्साहन देने वाली हैं। वास्तव में यदि देखा जाए तो हम कह सकते हैं कि यथार्थवाद और आदर्शवाद के बीच संघर्ष का प्रमुख कारण यह है कि यथार्थवादी यह तय नहीं कर पाए हैं कि शक्ति का अनुसरण एक लक्ष्य है अथवा साधन। एक ओर तो उन्होंने शक्ति को सर्वोच्च मूल्य माना है, जिसकी प्राप्ति के लिये राज्य को प्रभावशील रहना चाहिए, तथा दूसरी ओर शक्ति को साधन के रूप में भी स्वीकार किया है।

यथार्थवाद तथा आदर्शवाद इन दोनों दृष्टिकोणों ने वास्तव में अतिवादी दृष्टिकोण अपना रखा है। एक उत्तर की ओर जाता है तो दूसरा दक्षिण की ओर। आवश्यकता इस बात की है कि समय और जरूरत के अनुसार दोनों दृष्टिकोणों की अच्छाइयों को अपनाया जाए। राजनीतिक रूप में यह उपयुक्त है कि राष्ट्रीय हितों के अनुसार सफलतापूर्वक कार्य किया जाए, पर साथ ही नैतिक और राजनीतिक विवेक की मांग है कि यथा सम्भव अधिक से अधिक नैतिक मार्ग का भी इस तरह से अनुसरण किया जाए कि आदर्शवादी और यथार्थवादी दोनों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

आभ्यास प्रश्न

१. आदर्शवाद समाज के क्रमिक विकास में विश्वास रखता है ? सत्य/असत्य
२. स्केच फार अ हिस्टोरिकल पिक्चर आफ दि प्रोग्रेस आफ दि ह्यूमन स्पिरिट, पुस्तक किस सन में प्रकाशित हुई थी ?
३. मार्गेन्थाऊ के यथार्थवाद के कितने सिद्धांत हैं ?
४. यथार्थवादी सिद्धान्त के प्रमुख प्रवक्ता कौन हैं ?

2.7 सारांश

इस इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के निमित्त विकसित प्रमुख उपागमों का वर्णन किया गया।

उपागम का आशय उस मापदण्ड से है जिसका प्रयोग अनुसंधान के दौरान समस्या और आंकड़े के चयन के लिये किया जाता है। प्रत्येक विषय के अपने निश्चित उपागम होते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कुछ प्रमुख उपागम हैं: **परम्परागत ऐतिहासिक संस्थात्मक उपागम, आदर्शवादी उपागम, यथार्थवादी उपागम तथा वैज्ञानिक/व्यवहारवादी उपागम।**

ऐतिहासिक संस्थात्मक उपागम 18वीं और 19वीं शताब्दी और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में विशेष लोकप्रिय रहा। ऐतिहासिक उपागम वर्तमान की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विश्लेषण भूतकाल के घटनाक्रम के आधार पर करना चाहता है। संस्थात्मक उपागम दोनों विश्व युद्धों के बीच के समयकाल में विशेष लोकप्रिय हुआ। इस उपागम में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के माध्यम से विश्व शान्ति करने पर विशेष बल दिया गया।

आदर्शवादी उपागम 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक चार दशकों में विशेष चर्चित रहा। यह उपागम मनुष्य को एक विवेकशील प्राणी मानता है और तदनुसार इसकी यह मान्यता है कि राष्ट्रों के मध्य सामन्जस्य पूर्ण सम्बन्धों की स्थापना की जा सकती है।

यथार्थवादी उपागम 18वीं और 19वीं सदी में लोकप्रिय रहा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यह पुनः चर्चा में आया। हैन्स जे. मार्गेन्थाऊ को इस उपागम का प्रतिनिधिकारी विचारक माना जाता है। इस उपागम की यह मान्यता है कि

मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी होता है। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्य सभी राजनीति की भाँति, शक्ति के लिये संघर्ष है। यह दृष्टिकोण राष्ट्रीय हित, शक्ति और संघर्ष को सर्वाधिक महत्व देता है और यह मानता है कि 'शक्ति के संदर्भ में परिभाषित राष्ट्रीय हित ही विदेश नीति है।

1945 के बाद समयकाल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अनेक व्यवहारवादी उपागम विकसित हुए। ये सभी उपागम वैज्ञानिक भी कहे जाते हैं। ये अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राज्यों के व्यवहार के बारे में सामान्यीकरण करने के लिये परिमाणन और संख्यकीय विश्लेषण का प्रयोग करते हैं। व्यवस्था उपागम राष्ट्रों के मध्य अन्तः क्रिया पर बल देता है। निर्णय निर्माण उपागम निर्णय निर्माण कर्ताओं द्वारा लिये गये निर्णयों का अध्ययन करके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के व्याख्यायित करना चाहता है। इस उपागम से जुड़े कुछ विद्वानों का मत है कि निर्णय निर्माण में सबसे प्रमुख भूमिका पर्यावरण या वातावरण की होती है। कुछ दूसरे विद्वानों का मत है कि निर्णय निर्माण में सबसे प्रमुख भूमिका निर्णय लेने वाले के व्यक्तित्व की होती है। खेल उपागम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को 'रणनीति का खेल' मानता है। सौदेबाजी का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय वार्ताओं के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की व्याख्या का प्रयास करता है।

2.8 शब्दावली

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति - राष्ट्रों के मध्य राजनीति

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध - इसमें काफी व्यापकता पाई जाती है। उसके अन्तर्गत राष्ट्रों के आर्थिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, कानूनी राजनीतिक खोज एवं अन्वेषण सम्बन्धी, और इसी प्रकार के सभी सम्बन्ध आ जाते हैं।

कूटनीति- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति को विदेश नीति को यथार्थ रूप में क्रियान्वित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। मार्गेन्थाऊ जैसे विचारक इसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आँख और कान भी कहते हैं।

2.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. सत्य , २. 1975 , ३. 6 , ४. मार्गेन्थाऊ,

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Stanley Hoffman : Conflicting Approaches to the Study of International Relations
2. Trevor Taylor : Theories of International Relations.
3. Mahendra Kumar : Theoretical Aspects of International Relations.(Hindi Edition also)
4. Prakash Chandra : International Policies
5. बाबू लाल फाड़िया: अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

2.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

-
1. मॉरगेन्थू हैन्स (1960), *पॉलिटिक्स अमोंग नेशन*, मैकमिलन-हिल ह्यूमेनिटिज़।
 2. ऑरगेन्सकी (1958), *वर्ल्ड पॉलिटिक्स*, द यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया।
-

2.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के परम्परागत उपागम की चर्चा कीजिए।
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के यथार्थवादी उपागम की विवेचना कीजिए।
3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के व्यवहारवादी उपागमों की विवेचना कीजिए।

ईकाई-3 : राष्ट्रीय शक्ति, राष्ट्रीय शक्ति के तत्व

ईकाई की संरचना

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 राष्ट्रीय शक्ति के तत्व
 - 3.3.1 भूगोल
 - 3.3.2 संसाधन
 - 3.3.3 आबादी
 - 3.3.4 तकनीक
 - 3.3.5 राष्ट्रीय मनोबल
 - 3.3.6 कूटनीति
 - 3.3.7 शासन का गुण
 - 3.3.8 नेतृत्व
 - 3.3.9 विचारधारा
 - 3.3.10 इंटेलिजेंस
 - 3.3.11 आर्थिक विकास व औद्योगिक क्षमता
- 3.4 राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने वाले तत्व
 - 3.4.1 शक्ति संतुलन
 - 3.4.2 अंतर्राष्ट्रीय कानून
 - 3.4.3 अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता
 - 3.4.4 विश्व जनमत
 - 3.4.5 अंतर्राष्ट्रीय संगठन
 - 3.4.6 सामूहिक सुरक्षा
 - 3.4.7 निःशस्त्रीकरण व शस्त्र नियंत्रण
- 3.5 सारांश
- 3.6 शब्दावली
- 3.7 संदर्भ ग्रंथ
- 3.8 सहायक/ उपयोगी पाठ्यक्रम
- 3.9 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को यदि गहनतापूर्वक विश्लेषण करें तो स्पष्ट है कि यथार्थ रूप में निःसंदेह यह राज्यों के बीच शक्ति-संघर्ष के इर्द-गिर्द परिक्रमा करती है। शक्ति उन मूल्यों व हितों की प्राप्ति के लिये आवश्यक है जिन्हें राष्ट्र बनाए रखना तथा बढ़ाना चाहते हैं। यह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को सीमित करने वाला भी तत्व के रूप में देखा जाता है क्योंकि प्रत्येक राज्य अपने संसाधनों व सामर्थ्य व साथ-साथ दूसरे राष्ट्रों की शक्ति द्वारा सीमित होता है जो कि इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति में रुकावट उत्पन्न करता है। एक बड़े स्थूल अर्थ में 'राष्ट्रीय शक्ति या शक्ति एक ऐसी सामर्थ्य या योग्यता है जिसके अंतर्गत दूसरों को नियंत्रित करने, उससे अपना मनचाहा व्यवहार कराने व उससे अपने मनचाहा व्यवहार करने से रोकना है'। स्पष्ट है कि राष्ट्रीय शक्ति की अवधारणा को स्पष्ट करते हुये होलस्टी ने कहा है 'राष्ट्रीय शक्ति दरअसल राज्य की सामान्य क्षमता है जिसके अंतर्गत वह राज्य दूसरे राज्यों के व्यवहारों को नियंत्रित करता है' (on the general capacity of states to control the behavior of others.) इसी को और व्यवस्थित तरीके से स्पष्ट करते हुये वी.वी. डार्क ने राष्ट्रीय शक्ति को बलपूर्वक क्रिया में देखा है। डार्क के अनुसार, 'शक्ति इच्छा से माने गये प्रभाव से अलग बलपूर्वक मनवाया गया प्रभाव है' (Coercive, influence, distinguished from persuasive influence.) गौरतलब है कि राष्ट्रीय शक्ति को संघर्ष के रूप में रेखांकित करते हुये मॉरगेन्थाऊ ने कहा है कि शक्ति दो राजनीतिक इकाइयों के मध्य संबंधों की प्रतीक है। उसका अभिप्राय यह है कि एक राज्य यानि A के पास इतनी क्षमता होती है कि वह B के कार्यकलापों को नियंत्रित कर सके। इसी को और व्यवस्थित रूप से परिभाषित करते हुये वह लिखते हैं कि शक्ति एक व्यक्ति की वह सामर्थ्य है जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों के मस्तिष्क व कार्यों को नियंत्रित करता है (man's control over the minds and action of other men.)

3.2 उद्देश्य

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति को प्राप्त करने की चाह व इच्छा किसी राष्ट्र का परम उद्देश्य के रूप में देखा जाता है। प्रत्येक राष्ट्र अधिकाधिक शक्ति विस्तार, उसका प्रदर्शन व उसकी अभिवृद्धि का प्रयास करता है। अपनी शक्ति को अधिकाधिक विस्तार देने के लिये कई बार कई राष्ट्र दूसरे पर अपनी इच्छा का आरोपीकरण भी करते हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हुये जार्ज श्वार्जबर्जर ने शक्ति को अपनी इच्छा का दूसरों पर आरोपीकरण तथा अपालन की स्थिति में प्रभावकारी क्षमता के रूप में देखा है। यही कारण है कि कई बार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को शक्ति के लिये संघर्ष के रूप में भी परिभाषित किया जाता है। शीतयुग काल तक ऐसा ही प्रतीत होता था कि कोई राष्ट्र केवल अपने शक्ति बढ़ाने के लिये राजनीतिक शक्ति का ही प्रयोग कर सकता है। परंतु 1990 के बाद सोवियत संघ के विघटन के उपरान्त ऐसा लगा मानों दुनिया एक ध्रुवीय विश्व की ओर उन्मुख हो रही है।

भूमंडलीय व सूचना तकनीकी क्रांति के बाद राष्ट्रीय शक्ति के स्वरूप में भी परिवर्तन आ रहा है। 21वीं सदी में वही देश शक्तिशाली बनने की चाह रखता है जो व्यापार-वाणिज्य के साथ-साथ सूचना तकनीकी क्रांति की नज़रिये से भी सर्वोच्च हो।

3.3 राष्ट्रीय शक्ति के तत्व

शक्ति के अनेक अवयव या तत्व हैं, मोटे तौर पर इन अवयवों को शक्ति के निर्धारक तत्व भी कहा जाता है, परंतु ऐसा कहना पूर्णतया सत्य नहीं होगा। कारण यह है कि ये अवयव शक्ति का निर्धारण नहीं करते शक्ति का निर्धारण तो शक्ति के अवयवों के कुशलतापूर्वक उपयोग से संभव होता है। जो भी राष्ट्र इन अवयवों का कुशलतापूर्वक, दक्षतापूर्वक व कूटनीतिपूर्वक प्रयोग करता है वह विश्व राजनीति में अपना परचम लहराता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि राष्ट्रीय शक्ति के प्रमुख अवयव या तत्व निम्नलिखित हैं-

3.3.1 भूगोल

भूगोल Geography से संबद्ध विशेषज्ञों का मानना है कि राष्ट्रीय शक्ति का मूल तत्व भूगोल है। किसी भी राष्ट्र की शक्ति की जड़ उसके भूगोल में निहित होती है। भूगोल ऐसा तत्व है जिसे चाहकर भी कोई राष्ट्र परिवर्तित नहीं कर सकता है यह आपको पहले से प्राप्त होता है। गौरतलब है कि भूगोल से तात्पर्य किसी देश का क्षेत्रफल, जलवायु, स्थलाकृति व उसकी अवस्थिति में निहित है।

क्षेत्रफल(Area) की वृद्धि होने से किसी देश की शक्ति में वृद्धि होती है क्योंकि बड़ा क्षेत्र वाला राष्ट्र अधिक आबादी संभाल सकता है। वेटिकन सिटी, इंडोनेशिया जैसे देश कभी महाशक्ति नहीं बन सकते हैं क्योंकि यह बहुत छोटे देश हैं। क्षेत्रफल बड़ा होने से सैनिक सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं जिससे राष्ट्र की शक्ति बढ़ती है। क्षेत्रफल बड़ा होने के कारण ही रूस में नेपोलियन और जापान की सेना को भी चीन में मात खानी पड़ी थी। युद्ध के समय बड़ा देश पीछे हट आने के बाद भी बाकी बचे क्षेत्र में शक्ति संग्रह करके जवाबी हमले की तैयारी कर सकता है। क्षेत्रफल के बड़ा होने का एक फायदा यह भी है कि राष्ट्र अपने उद्योगों को सीमांतों से दूर रख सकता है जिससे विदेशी हमलों का प्रतिरोध किया जा सकता है।

जलवायु (Climate) राष्ट्रीय शक्ति की उत्पत्ति का एक और महत्वपूर्ण भौगोलिक तत्व है। ज़ाहिर है कि किसी राष्ट्र की महाशक्ति बनने ना बनने के पीछे उसका जलवायु महत्वपूर्ण रूप से जिम्मेदार होता है। स्पष्ट रूप से दक्षिणी ध्रुव व सहारा का रेगिस्तान शक्ति की अभिवृद्धि के लिये उपयुक्त प्रदेश नहीं है। सामान्य रूप से यह धारणा है कि ऊष्ण कटिबंध के सब प्रदेश और रेगिस्तानी इलाके शक्ति बनने की संभावनाओं से वंचित रहते हैं, परंतु विशेष अर्थों में रेगिस्तानी इलाके शक्ति के नज़रिये से महत्वपूर्ण बन गये हैं क्योंकि रेगिस्तानों में यूरेनियम युक्त खनिज मिलते हैं और यूरेनियम परमाणु अस्त्र बनाने के लिये आवश्यक है। प्रमुख शक्ति बनने के लिये शीतोष्ण जलवायु का होना जरूरी है

क्योंकि जलवायु से ही लोग उस प्रकार के कामों में लगते हैं जो किसी आधुनिक औद्योगिक राष्ट्र के लिये आवश्यक है।

स्थलाकृति (**Relief or Topography**), भौगोलिक तत्व जो किसी राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति के वृद्धि में महत्वपूर्ण स्थान रखता है अपने गर्भ में स्थलाकृति को भी समेटे हुये हैं। स्थलाकृति की भूमिका जलवायु से भी महत्वपूर्ण मानी जाती है जिससे राष्ट्रों के बीच की प्राकृतिक सीमाओं का निर्धारण होता है और इस प्रकार उनके प्राकृतिक फैलाव की अधिकतम सीमा निश्चित हो जाती है नदियों, पर्वतों या समूहों से घिरे हुये राष्ट्र उन देश देशों से अधिक सुरक्षित होते हैं जिनकी सीमाएँ प्राकृतिक नहीं है, जिन राष्ट्रों के मध्य पर्वत या नदी या समुद्र के जरिये प्राकृतिक सीमा रेखा होती है उनमें प्रायः सीमा संबंधी विवाद नहीं होते हैं। स्थलाकृति की विशेषता को राष्ट्रों के संदर्भ में आंक सकते हैं। पेरेनीज पर्वत श्रृंखला के कारण किस प्रकार स्पेन यूरोप के राजनीतिक व फौजी विवादों की लपेट से परे रहा उसी प्रकार इंग्लिश चैनल ने ब्रिटिश को काफी लंबी समय तक सुरक्षा प्रदान की इसी क्रम में अटलांटिक व प्रशांत महासागर ने अमेरिका व आल्प्स पर्वत श्रृंखलाओं ने इटली को सुरक्षा प्रदान की।

अवस्थिति (Location), भौगोलिक तत्व के अंतर्गत अवस्थिति का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है। अवस्थिति का नीति पर प्रभाव पड़ता है क्योंकि इससे शक्ति पर ही नहीं, बल्कि राष्ट्रीय हित के स्वरूप पर भी असर पड़ता है। अवस्थिति और विदेश नीति का आपसी संबंध इतना बुनियादी है कि इससे भू-राजनीति का जन्म हुआ है जो यह मानती है कि किसी राज्य की अभिवृद्धि का प्रतिरूप या दर्शा उसके भूगोल पर निर्भर करता है। अमेरिका की अवस्थिति स्थल विस्तार और समुद्रों की दृष्टि से ऐसी है कि इन दोनों से वह स्थल व समुद्री शक्ति बना है। कभी-कभी अवस्थिति के कारण ही किसी देश का सामरिक महत्व बढ़ जाता है। उदाहरण के लिये ग्रीनलैण्ड व ओकिनावा का सामरिक महत्व अधिक है क्योंकि अमेरिका वहाँ ऐसा सैनिक अड्डा स्थापित करना चाहता है जहाँ से वह अपने संभावित शत्रुओं पर आसानी से बमबारी कर सके। इसी प्रकार सोवियत संघ व चीन का पड़ोसी होने के कारण ही भारत को गुटनिरपेक्षता की नीति अपनानी पड़ी। परंतु कभी-कभी भौगोलिक स्थिति कुछ राज्यों के लिये हानिकारक भी होती है जैसे स्वेज नहर के महत्वपूर्ण जलमार्ग के निकट अवस्थित होने के कारण मिस्र पर ग्रेट ब्रिटेन ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

3.3.2 संसाधन-

प्राकृतिक संसाधन (Natural Resources) भी राष्ट्रीय शक्ति का एक महत्वपूर्ण अवयव या तत्व है। चाहे वह शक्ति प्राकृतिक हो या कृत्रिम। आधुनिक सैनिक बल के लिये अनेक प्रकार के कच्चे सामान की जरूरत होती है। अरब के देशों के उदाहरण से यह पता चल सकता है कि शक्ति के प्रसंग में प्राकृतिक संपदा का कितना महत्वपूर्ण स्थान है। महाशक्तियाँ उसका लिहाज तेल संपदा के कारण करती है इसी प्रकार अर्जेंटीना के गोमांस व श्रीलंका की रबड़ का ध्यान रखकर ही अन्य राष्ट्रों को उनके साथ अपने संबंध बनाने पड़ते हैं। राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण पर सबसे सीधा प्रभाव डालने वाली

तीन प्राकृतिक वस्तुएँ हैं लोहा, कोयला व तेल (पेट्रोल)। यहाँ यह भी बताना महत्वपूर्ण है कि प्राकृतिक संपदा के होने मात्र से शक्ति प्राप्त नहीं हो सकता है इस संपदा का विकास केन्द्रित होना चाहिये व इसके स्वामी का इसकी ब्रिकी आदि पर कठोर नियंत्रण होना चाहिये। निष्कर्षतः जब तक इन प्राकृतिक संसाधनों का उचित दोहन व इस्तेमाल नहीं किया जायेगा तब तक यह किसी भी राष्ट्र की क्षमता व शक्ति को बढ़ाने में बहुत अधिक कारगर नहीं होगा।

3.3.3 आबादी-

आबादी(Population) शक्ति का एक और महत्वपूर्ण प्राकृतिक अवयव है यदि यूरोपीय आधुनिक इतिहास पर नज़र डाले तो स्पष्ट है कि यूरोप की राजनीति में जिन देशों का सबसे अधिक महत्व रहा है जिन्हें शक्तिशाली स्थिति प्राप्त हुई है वे सब आबादी के लिहाज़ से काफी घनी थे। मुसोलिनी ने इटलीवासियों से आबादी बढ़ाने का आग्रह करते हुये कहा था 'बात साफ-साफ सोचना ही ठीक होगा। नौ करोड़ जर्मनों व बीस करोड़ स्लावों के सामने चार करोड़ इटालियनों की क्या हस्ती है'। परंतु यहाँ आबादी का आशय सक्रिय व जबाबदेह आबादी से है। निष्क्रिय व गैर जिम्मेदार आबादी किसी राष्ट्र के लिये कई बार मुसीबत ही बन जाती है।

बड़ी आबादी का एक महत्वपूर्ण उपयोग सैनिक कार्यवाही में और आर्थिक उत्पादन में जनशक्ति के रूप में किया जा सकता है। कोरिया व हिंद-चीन के युद्धों से यह अच्छी तरह सिद्ध हो गया है कि अब भी पैदल सेना के स्थान की पूर्ति और किसी चीज से नहीं की जा सकती है। यहाँ यह बात ध्यान देना आवश्यक है कि यदि किसी राष्ट्र के पास अपार जन शक्ति हो पर सैनिक संगठन में बंधी न हो तो इससे उसकी राष्ट्रीय शक्ति की वृद्धि नहीं हो सकती है। यदि किसी राष्ट्र के आर्थिक उत्पादन का परिणाम अनेक कारकों में से इस कारक पर भी निर्भर करता है कि देश के पास श्रमिक बल या मजदूर दल कितना है जो ठीक अर्थव्यवस्था के लिये सर्वथा आवश्यक है। मॉरगेन्थाऊ लिखते हैं कि घनी आबादी के बिना यह असंभव है कि आधुनिक युद्धों को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिये आवश्यक औद्योगिक कारखाने निर्मित व संचालित किये जा सकें और न यह संभव है कि बड़ी संख्या में लड़ने वाले सिपाहियों की टुकडीयाँ स्थल, जल व वायु में लड़ने के लिये प्रस्तुत की जाये।

3.3.4 तकनीक

राष्ट्रीय शक्ति को वृद्धि करने वाले प्रमुख तत्व के रूप में तकनीक(Technology) का महत्वपूर्ण स्थान है। तकनीक या प्रौद्योगिकी के अंतर्गत आविष्कार से जुड़े सभी साधन आते हैं जिनसे राष्ट्र की भौतिक समृद्धि में सहायता मिलती है। क्विन्सी राइट के अनुसार, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के प्रशिक्षण के रूप में तकनीकी ज्ञान वह विज्ञान है जो आविष्कार और भौतिक संस्कृति की प्रगति को विश्व राजनीति से संयुक्त करता है। यह यांत्रिक पद्धतियों के विकास तथा युद्ध-कूटनीति, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, यात्रा व संसार में उनके प्रयोग की कला है। स्पष्ट है कि चिरकाल से ही तकनीक ने राष्ट्रीय शक्ति की स्थिति के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है और यह माना जाता है कि तकनीकी ज्ञान की दृष्टि से एक राष्ट्र जितना आगे बढ़ जाता है वह उतना ही शक्ति की नज़रिये से भी आगे आ

जाता है। यहाँ यह देखना दिलचस्प होगा कि किस तरह से तकनीकी प्रगति के कारण ही संयुक्त राज्य अमेरिका और रूस की गणना संसार के महाशक्तियों में होती रही है। गौरतलब है कि तकनीकी प्रगति के अंतर्गत प्रमुख रूप से सैनिक तकनीक, औद्योगिक तकनीक व संचार तकनीक आता है।

3.3.5 राष्ट्रीय मनोबल

राष्ट्रीय मनोबल (**National Morale**) प्रमुख रूप से राष्ट्रीय शक्ति का एक महत्वपूर्ण तत्व है। किसी राष्ट्र के लोगों में राष्ट्र हित को व्यक्तिगत हितों से ऊपर रखने की तत्परता के रूप में जो गुण होते हैं उन सबको मिलाकर राष्ट्रीय मनोबल कहा जा सकता है। इस गुण का प्रमुख अंश है बलिदान की तत्परता (**Willingness to Sacrifice**)। इस तत्परता का किसी राष्ट्र की सेना पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। अफसरों का मनोबल और आम जनता का मनोबल दो सर्वथा भिन्न वस्तुएँ हैं पर किसी राष्ट्रीय संकट के समय संकट का मुकाबला करने के लिये बलिदान करने व मुकाबला करने की तत्परता आम जनता में होनी भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी सशस्त्र सेनाओं पर बलिदान की तत्परता युद्धकाल में ही नहीं बल्कि शांतिकाल में भी राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण करने में सहायक होती है। स्पष्ट है कि मनोबल को राष्ट्रीय चरित्र, संस्कृति, लोकप्रिय नेतृत्व, सुयोग्य सरकार व परिस्थिति काफी प्रभावित करती है।

3.3.6 कूटनीति

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति (**Diplomacy**) का महत्वपूर्ण स्थान है। मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, किसी राष्ट्र की कूटनीति की उत्तमता इस बात पर निर्भर करती है कि यह तत्व कितना ही अस्थायी क्यों ना हो। गौरतलब है कि यदि मनोबल राष्ट्रीय शक्ति की आत्मा है तो कूटनीति उसका मस्तिष्क है। यदि कूटनीति का दृष्टिकोण दूषित है, उसके निर्णय गलत हैं उनके निश्चय कमजोर हैं तो भौगोलिक स्थिति के तमाम लाभ, खाद्य पदार्थ, कच्चे माल, औद्योगिक उत्पादन की आत्म-निर्भरता, सैनिक तैयारी तथा आदमी के गुण व संख्या के लाभ में एक राष्ट्र के लिये कम योगदान दे पायेंगे। एक राष्ट्र जो कि इन लाभों पर गर्व कर सकता है, यदि उसकी कूटनीति चातुर्यपूर्ण नहीं है तो वह अपनी प्राकृतिक पूंजी के बल पर केवल क्षणिक सफलताएँ प्राप्त कर सकता है। ऐसे राष्ट्र को उस राष्ट्र के सम्मुख झुकना पड़ेगा जिसकी कूटनीति शक्ति दक्ष व पूर्ण है। अपने राष्ट्र की शक्ति संभावनाओं का पूर्ण लाभप्रद करके एक योग्य कूटनीति अपने राष्ट्र की शक्ति उस सीमा से अधिक बढ़ा सकती है जितना अन्य तत्वों के समन्वय के पश्चात कोई आशा कर सकता है। उत्तम श्रेणी की कूटनीति वैदेशिक नीति के लक्ष्य तथा साधन कर राष्ट्रीय शक्ति की उस सीमा से कहीं अधिक बढ़ा सकती है, जितना की कोई अन्य तत्वों से शक्ति वृद्धि के बारे में कतई नहीं सोच सकता है।

3.3.7 शासन के गुण

राष्ट्रीय शक्ति की अभिवृद्धि में राज्य में शासन का गुण (**Governance Quality**) यानि चरित्र (**Character**) कैसा है इस बात का भी काफी फर्क पड़ता है। हालांकि यह हमेशा से विवादास्पद रहा है कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के लिये कौन सी प्रणाली अधिक उत्तम है। लोकतंत्रीय और

एकाधिकारवादी दोनों ही प्रणाली को अन्य राज्यों के व्यवहार पर कारगर प्रभाव डालने में सफलता मिली है और इसलिये अपनी-अपनी सफलता की दृष्टि से दोनों प्रकार के राष्ट्र शक्तिशाली रहे हैं। अलबत्ता शासन का स्वरूप चाहे कुछ भी हो, परंतु राष्ट्रीय शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि राष्ट्र में सुशासन है अथवा नहीं।

3.3.8 नेतृत्व

राष्ट्रीय शक्ति का एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व नेतृत्व (Leadership) है। राष्ट्र को दृढ़ करने के लिये प्राकृतिक साधनों, कच्चे माल, तकनीक, औद्योगिक क्षमता, सैनिक शक्ति तथा विचारधारा का उपयोग उस नेतृत्व पर निर्भर करता है जो राज्य की सरकार चलाता है। सैनिक व असैनिक योजनाएँ बनाना राजनीतिक नेताओं का काम है। विदेश नीति का निर्माण व उसे कार्यान्वित करने का उत्तदायित्व विशेष रूप से निर्णय निर्माताओं का काम है। नेतृत्व के मुख्य रूप से दो कार्य हैं जिनसे वह राष्ट्रीय शक्ति की अभिवृद्धि में सहायक होता है। प्रथम, नेतृत्व राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्वों के बीच समन्वय की स्थापना करता है, दूसरा, राष्ट्र अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त कर सके इसके लिये भी उच्च गुणों वाले नेतृत्व का अस्तित्व आवश्यक होता है। स्पष्ट है कि नेतृत्व का स्पष्ट रूप से युद्ध काल में देखा जा सकता है। युद्ध काल में कुशल नेतृत्व निर्देशन व युद्ध नीति निर्माण का विशेष ध्यान रखता है। खाद्य सामग्री के भंडारों का संरक्षण, औद्योगिक कच्चे माल की रक्षा, राष्ट्रीय मनोबल को बढ़ाने आदि कार्य करने होते हैं। स्पष्ट रूप से ऐसे कार्यों का निष्पादन कुशल नेतृत्व द्वारा ही होता है। स्पष्ट रूप से शांतिकाल में भी देश में राजनीतिक नेतृत्व का अच्छा खासा महत्व होता है। शांतिकाल में सभी प्रकार की व्यवस्था सुचारु रूप से गतिवान बनी रहे यह कुशल नेतृत्व पर ही टिका होता है।

3.3.9 विचारधारा

विचार व विचारधारा (Ideology) एक राज्य की शक्ति के तत्व रहे हैं। सरकार की जो विचारधारा होती है वह एकता व लोगों के समर्थन का साधन होती है। साम्यवाद की विचारधारा साम्यवादी राष्ट्रों के 1947 से 1989 के बीच शक्ति का साधन बनी रही। विचारधारा के द्वारा ही वे विश्व स्तर पर अपने प्रभुत्व का विकास व विस्तार कर सकता है। विचारधारा देश में रहने वाले लोगों व देश के बाहर रहने वालों के लिये एकता का साधन होती है। इसी तरह लोकतांत्रिक समाजवाद को अपनाकर भारत पश्चिमी लोकतंत्र व समाजवाद समर्थकों के साथ सहयोग व मैत्री का संबंध कायम कर सकता है।

3.3.10 आसूचना (इंटेलिजेन्स)

राष्ट्रीय शक्ति का एक प्रमुख तत्व आसूचना (Intelligence) है। इंटेलिजेन्स उस कार्य का नाम है जिससे विदेशी मामलों के बारे में सरकारी निर्णय समझदारी व दूरदर्शिता से किया जा सके। सच पूछा जाये तो सब शक्ति का प्रकार है। विशेष रूप से युद्ध के समय इसका काफी महत्व होता है। जब दुश्मन

के हमले के समय हमले के स्थान तथा उसकी प्रबलता के बारे में पूर्व जानकारी हो तो विजय की संभावना बढ़ जाती है। इसी प्रकार शत्रु की किसी खास कमजोरी का ज्ञान भी सहायक हो सकता है।

3.3.11 आर्थिक विकास व औद्योगिक क्षमता

राष्ट्रीय शक्ति के अवयवों में आर्थिक विकास व औद्योगिक क्षमता (Economic development and industrial capacity) महत्वपूर्ण स्थान रखता है जहाँ तक आर्थिक विकास का संबंध है किसी राष्ट्र की शक्ति का आधार उसका आर्थिक संगठन यानि उसके उद्योग विस्तार की मात्रा होती है। किसी देश की प्राकृतिक साधन संपदा से उसकी शक्ति में वृद्धि उसी हालत में हो सकती है। जब उन साधनों का पूरी तरह विकास किया जाये। विकास का यह प्रश्न प्रौद्योगिकी और आर्थिक संगठन के विषय से सीधा जुड़ा हुआ है। इस संगठन का बड़ा आवश्यक तत्व यह है कि किसी उद्योग बहुल देश के पास अपने उपभोग की आवश्यकता से अधिक उत्पादन कर सकने की क्षमता हो। दूसरे शब्दों में, उनके पास फालतू संसाधन होना चाहिये। संतोषजनक आर्थिक संगठन वाला राज्य शक्ति की अनेक विधि का उपयोग कर सकता है जैसे पुरस्कार देना, अपने ऊँचे स्तर से अनुनय की शक्ति बढ़ाने के कारण दूसरों पर अनुनय द्वारा प्रभाव डालना।

3.4 राष्ट्रीय शक्ति की सीमाएँ

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में राष्ट्रों के मध्य शक्ति संघर्ष एक विवाद रहित सच्चाई के रूप में सामने दिखाई पड़ती है। राष्ट्र-राज्य अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का मुख्य कर्ता है और वे अपने राष्ट्रीय हितों के उद्देश्यों की प्राप्ति शक्ति द्वारा करना चाहते हैं। इस सत्य के समर्थकों का विचार है कि राष्ट्रीय हितों व स्वार्थों का जन्म राष्ट्रीय शक्ति द्वारा होता है। इसलिये अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में प्रत्येक देश शक्ति प्राप्त करना चाहता है। शक्ति साधन भी है और साध्य भी। प्रायः प्रत्येक राष्ट्र शक्ति प्राप्त करना चाहता है, शक्ति प्रदर्शन करता है, शक्ति प्रयोग करता है तथा शक्ति में बढ़ोतरी चाहता है जिससे अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शक्ति संघर्ष एक प्रमुख विशेषता बन जाती है। परंतु राज्य द्वारा अपार व असीमित शक्ति के प्रयोग से युद्ध छिड़ सकता है और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में अराजकता व अव्यवस्था फैल सकती है। समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अनेक ऐसे तत्वों की सहायता ली गई है जिनसे राष्ट्रीय शक्ति का परिसीमन होता है। राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने वाले बाहरी तत्व हैं –

3.4.1 शक्ति संतुलन (Balance of Power)

शक्ति संतुलन एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें शक्ति प्रबंधन व शक्ति परिसीमन होता है। शक्ति संतुलन के बिगड़ने के खतरे से किसी भी देश को अनुचित रूप में शक्तिशाली बनने की आज्ञा नहीं होती है। यदि कोई राज्य अनुचित रूप से शक्तिशाली बनता है अथवा बनने का यत्न करता है तो दूसरे राज्य अकेले या सामूहिक रूप से अपनी शक्तियों को इकट्ठा करके उस राज्य के विरुद्ध शक्ति की प्रबलता खड़ी कर देते हैं। इस प्रकार ये राज्य युद्ध अथवा दूसरे साधनों के द्वारा चुनौती देने वाले राज्य की शक्ति को कम करके शक्ति-संतुलन को बनाये रखते हैं। इस सिद्धांत को 19वीं सदी में यूरोपीय देशों

द्वारा अपने आपसी संबंधों की रक्षा हेतु प्रयोग में लाया गया था। 1815-1914 के वर्षों के दौरान बड़े युद्धों को रोकने के लिये यह व्यवस्था सफल रही। परंतु अब शक्ति संतुलन व्यवस्था में कई प्रकार के संरचनात्मक परिवर्तन से अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में शक्ति नियंत्रण व शक्ति प्रबंधन में अपने महत्व को खो दिया है।

3.4.2 अंतर्राष्ट्रीय कानून (International Law)

को भी अंतर्राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने वाले बाहरी तत्व है। अंतर्राष्ट्रीय कानून एक ऐसी व्यवस्था है जिसके नियमों को राष्ट्र-राज्यों ने स्वीकार किया है और वे इसे मानने के लिये बाध्य ही हैं। इसी से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में उनका व्यवहार नियंत्रित होता है किसी राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति पर अंतर्राष्ट्रीय कानून का महत्वपूर्ण अंकुश है। अंतर्राष्ट्रीय परस्पर व्यवहार में जो देश लगे हुये हैं यह कानून उनके व्यवहार को नियंत्रित करता है और उन्हें निर्देशित करता है। युद्ध व शांति में सुचारु रूप से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को चलाने के लिये अंतर्राष्ट्रीय कानून एक कानूनी ढांचा है।

3.4.3 अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता (International Ethics)

अंतर्राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने वाले तीसरा बाहरी तत्व है। जिस प्रकार समाज में मानवीय व्यवहार को नियंत्रित करने के लिये कुछ नैतिक नियम होते हैं। उसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय वातावरण में राज्यों के व्यवहार को परिसीमन करने के लिये अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता होती है। शांति, व्यवस्था, समानता, अच्छाई, आपसी सहयोग, सभी लोगों के जीवन और उनकी स्वतंत्रता की समानता ऐसे मूल्य हैं जिन्हें प्रत्येक राज्य को एक अधिकार अथवा अच्छे मूल्य के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिये और उनको व्यवहारिक रूप देना चाहिये। अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता व्यवहार की ऐसी नैतिक संहिता है जिसका पालन प्रायः सभी देश अपने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में करते हैं। यह नैतिक भावना प्रत्येक देश की राष्ट्रीय शक्ति का परिसीमन करने वाला एक तत्व बनती है।

3.4.4 विश्व जनमत (World public opinion)

अंतर्राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने वाला चौथा तत्व है। विदेश नीति के लोकतंत्रीकरण व संचार क्रांति ने समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में एक संगठित व शक्तिशाली विश्व जनमत को जन्म दिया है। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में यह एक महत्वपूर्ण तत्व बनकर उभरा है। संसार में शांति आंदोलन, परमाणु शस्त्रों का नियंत्रण के लिये आंदोलन, पृथ्वी के वातावरण संतुलन की सुरक्षा के लिये शक्तिशाली व स्वस्थ वातावरण आंदोलन तथा ऐसे ही अनेक दूसरे आंदोलन हैं जिनसे विश्व जनमत के अस्तित्व का पता चलता है। राष्ट्रीय शक्ति का परिसीमन करने के लिये यह एक बड़ी तेजी से उभरती हुई शक्ति है। विपरीत जनमत के डर से कई बार किसी देश को किसी विशेष नीति का अनुसरण करना छोड़ना पड़ता है। वैसे विश्व जनमत की अपनी कुछ सीमाएँ हैं, यह अक्सर शक्तिशाली व आक्रामक राष्ट्रवाद की भावना से लोहा लेने में असमर्थ हो जाता है।

3.4.5 अंतर्राष्ट्रीय संगठन(International Organisations)

किसी राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने में अंतर्राष्ट्रीय संगठन महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। 1919 से लेकर आजतक एक विश्व संस्था विद्यमान रही है। 1945 से संयुक्त राष्ट्र संघ कार्यरत है। अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के लगभग सभी देश संगठन के सदस्य हैं। इसके चार्टर में कुछ उद्देश्यों की चर्चा की गई है जिन्हें प्राप्त करने के लिये प्रत्येक सदस्य देश वचनबद्ध है। यह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को शांतिमय व व्यवस्थित तरीके से चलाने के लिये एक भूमंडलीय मंच है। खाड़ी देश के बाद सोवियत संघ के विघटन के बाद तथा शीतयुद्ध की समाप्ति के काल में संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका में एक सकारात्मक परिवर्तन हुआ है तथा यह संस्था और अधिक सक्रिय हो गई है।

3.4.6 सामूहिक सुरक्षा(collective security)

किसी देश की राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने में सामूहिक सुरक्षा एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में स्थित है। सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था शक्ति प्रबंधन का एक अंतर्राष्ट्रीय साधन है और यह भी राष्ट्र शक्ति पर अंकुश रखती है। सामूहिक सुरक्षा अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा के उद्देश्य के सिद्धांत पर आधारित है। सामूहिक सुरक्षा सिद्धांत के अंतर्गत किसी एक राष्ट्र की सुरक्षा का सवाल सभी से जुड़ा होता है।

3.4.7 निःशस्त्रीकरण व शस्त्र नियंत्रण (disarmament and arms control)

किसी देश की राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने में निःशस्त्रीकरण व शस्त्र नियंत्रण को रखा जाता है। सैनिक शक्ति राष्ट्रीय शक्ति का एक बड़ा आयाम है इसलिये शस्त्रीकरण इसका अपरिहार्य भाग है। निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण को राष्ट्रीय शक्ति के परिसीमन के लिये एक विधि माना जाता है। शस्त्र नियंत्रण का अर्थ है शस्त्र दौड़ पर अंकुश लगाना विशेषतया परमाणु शस्त्रों की दौड़ को अंतर्राष्ट्रीय निर्णयों, नीतियों व योजनाओं द्वारा रोकने का यत्न करना। निःशस्त्रीकरण व शस्त्र नियंत्रण की दिशा में जितनी सफलता मिलेगी उतना ही राष्ट्रीय शक्ति का परिसीमन हो सकेगा।

3.5 सारांश

समग्र रूप से देखा जा सकता है कि राष्ट्रीय शक्ति किसी भी अंतर्राष्ट्रीय देश में संलग्न राष्ट्रों के बीच आपसी प्रतिस्पर्धा को बढ़ाने का महत्वपूर्ण कारक होता है। परंतु यह बात महत्वपूर्ण है कि राष्ट्रीय शक्ति को प्राप्ति करने संबंधी बहुत सारे तत्व हैं मसलन भूगोल, प्राकृतिक संसाधन, जनसंख्या, तकनीक विचारधारा, राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्रीय मनोबल, नेतृत्व। स्पष्ट है कि इन सभी शक्तियों के तत्व के साथ-साथ बहुत सारे अन्य तत्व भी होते हैं जो राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने के लिये कारगर होते हैं। शक्ति संतुलन, अंतर्राष्ट्रीय कानून, अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता, वैश्विक जनमत संग्रह आदि महत्वपूर्ण हैं। समग्र रूप से आज के बदलते वैश्विक युग में शक्ति के संबंध में बहुत सारे कारक उपलब्ध होते हैं। इनमें से कुछ कारक बहुत महत्वपूर्ण व अपरिहार्य होते हैं वहीं कुछ कारक थोड़ा कम महत्वपूर्ण। परंतु सभी कारक कहीं ना कहीं काफी महत्वपूर्ण व प्रासंगिक माने जाते हैं। आज के

वैश्विक ग्राम की दुनिया में राष्ट्रीय शक्ति की अवधारणा के बदलते स्वरूप की मीमांसा बहुत जटिल परंतु रोचक है। आज के समय राजनीतिक युद्ध के स्थान पर विज्ञान व तकनीकी प्राधान्यता देखने को मिलती है। आज राष्ट्रीय शक्ति के विस्तार के लिये मिडिल किंगडम जैसी विस्तारवादी मान्यता के स्थान पर विकासवादी मान्यता पर बल दिया जा रहा है। अतएव कोई भी राष्ट्र आज शक्ति को यदि प्राप्त करना चाहता है उसे विज्ञान व तकनीकी रूप से शक्तिशाली व समृद्ध होना चाहिये। समकालीन समय में शक्ति के विकासवादी परिप्रेक्ष्यों को शामिल करते हुये कोई भी राष्ट्र आज विकास के चरम पर पहुँच सकता है। इसलिये यदि विश्व व्यवस्था में समतामूलक विकास को अंदाज देना हो, प्रगति व उन्नति के क्षेत्र में नया इतिहास लिखना हो तो ऐसे मुल्क के लिये शक्ति का वरण करना अपरिवार्य ही नहीं अनिवार्य होगा।

3.6 शब्दावली

शक्ति संघर्ष – अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति संघर्ष एक अनिवार्य सच्चाई के रूप में प्रतीत होती है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी प्रतिष्ठा, पैठ व अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी में अपना दबदबा बनाने के लिये इसका प्रयोग करता है।

शक्ति संतुलन – शक्ति संतुलन एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें शक्ति प्रबंधन व शक्ति परिसीमन होता है। इसके अंतर्गत अनुचित रूप से शक्तिशाली साधनों के प्रयोग की अनुमति नहीं होती है।

अंतर्राष्ट्रीय कानून – अंतर्राष्ट्रीय कानून एक ऐसी व्यवस्था को बहाल करता है जिसके नियमों को राष्ट्र-राज्यों ने स्वीकार किया है और वे इसको मानने के लिये बाध्य होते हैं। किसी भी राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति पर अंतर्राष्ट्रीय कानून का महत्वपूर्ण अंकुश होता है।

अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता – कानून के अलावा नैतिकता भी मानवीय व्यवहारों को नियंत्रित व निर्देशित करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। यह राज्यों के व्यवहारों को नियंत्रित करने का काम करता है। नैतिक भावना जब अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रवेश करती है तब यह विश्व बंधुत्व को बहाल करने का काम करती है।

विश्व जनमत – विदेश नीति के लोकतंत्रीकरण व संचार क्रांति ने समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में एक संगठित व शक्तिशाली विश्व जनमत को जन्म दिया है।

- क- राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने वाले प्रमुख कारकों को लिखें
- ख- कूटनीति

क- राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने वाले बहुत सारे कारक शामिल हैं। इसमें प्रमुख रूप से शक्ति संतुलन, अंतर्राष्ट्रीय कानून, अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता, विश्व लोक जनमत, अंतर्राष्ट्रीय संगठन, सामूहिक सुरक्षा, निःशस्त्रीकरण व अस्त्र नियंत्रण। शक्ति संतुलन अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में तनाव की स्थिति से उबारने व शक्ति के प्रबंधन तथा परिसीमन पर आधारित है। अंतर्राष्ट्रीय कानून, किसी भी राष्ट्र की

शांतिकाल व युद्धकाल दोनों ही स्थितियों में एक व्यवस्था बनी रहे इसके लिये जरूरी होता है। इस प्रकार यह कानून एक कानूनी ढांचा के रूप में होता है। इस कानून को नहीं मानने पर किसी भी राष्ट्र पर प्रतिबंध लगाया जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता समाज में नैतिकता पूर्ण व्यवहार को बनाये रखने के लिये अपरिहार्य है। अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता एक नैतिक पूर्ण व्यवहार को बहाल करने संबंधी नैतिक संहिता है। विश्व जनमत, विदेश नीति के लोकतंत्रीकरण व संचार संबंधी नज़रियों को बढ़ाता है। राष्ट्रीय शक्ति को परिसीमन करने के लिये यह एक बड़ी तेजी से उभरती हुई शक्ति है। अंतर्राष्ट्रीय संगठन, राष्ट्रीय शक्ति को परिसीमित करने के लिये काफी कारगर उपाय माना जाता है। इससे संबंधित महत्वपूर्ण संस्था है संयुक्त राष्ट्र संघ। इसके चार्टर में कुछ उद्देश्यों की चर्चा की गई है जिसको प्राप्त करने के लिये सभी देश वचनबद्ध रहते हैं। सामूहिक सुरक्षा भी राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने संबंधी महत्वपूर्ण तत्व है। सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था शक्ति प्रबंधन का एक अंतर्राष्ट्रीय साधन है और यह भी राष्ट्रीय शक्ति पर अंकुश रखती है। निःशस्त्रीकरण व शस्त्र नियंत्रण किसी राष्ट्र की शक्ति को नियंत्रित करने से जुड़ी एक महत्वपूर्ण तत्व है।

ख- कूटनीति अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण रणनीति के रूप में प्रयोग किया जाता है। यदि मनोबल राष्ट्रीय शक्ति की आत्मा है तो कूटनीति उसका मस्तिष्क है। स्पष्ट है कि मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, एक कुशल राजनय या कूटनीति जो शांति संरक्षण के लिये तत्पर है, अंतिम कार्य है कि वह अपने ध्येयों की प्राप्ति के लिये उपयुक्त साधनों को चुने। राजनय को तीन प्रकार के साधन प्राप्त होते हैं, अनुनय, समझौता व शक्ति की धमकी।

3.7 संदर्भ ग्रन्थ

- 1.मॉरगेन्थू, हैन्स (1960), *पॉलिटिक्स अमॉग नेशन*, मैकमिलन-हिल ह्यूमेनिटिज़।
- 2.ऑरगेन्सकी (1958), *वर्ल्ड पॉलिटिक्स*, द यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया।
- 3.फाड़िया, बी.एल (2008), *अंतर्राष्ट्रीय राजनीति*, साहित्य भवन पब्लिकेशन : आगरा

3.8 सहायक उपयोगी/ पाठ्य सामग्री

- 1.एंड्रयु, हैवुड (2011), *ग्लोबल पॉलिटिक्स*, पेलग्रेव मैकमिलन।
- 2.हंटिंगटन (1919), *वर्ल्ड पावर एण्ड इवोल्यूशन*, येल यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हेवेन।

3.9 निबंधात्मक प्रश्न

- 1.राष्ट्रीय शक्ति के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुये इसके प्रमुख तत्वों को स्पष्ट करें व साथ-साथ इसको सीमित करने संबंधी तत्व को रेखांकित करें?

इकाई- 4 : शक्ति सन्तुलन, सामुहिक सुरक्षा

इकाई की संरचना

- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 उद्देश्य
- 4.3 शक्ति सन्तुलन: अर्थ
- 4.4 शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त का ऐतिहासिक विकास
- 4.5 नयी शक्तियों का उदय और बदला शक्ति सन्तुलन
- 4.6 शीत युद्ध के दौर में शक्ति सन्तुलन
- 4.7 शीत युद्ध का अंत तथा शक्ति सन्तुलन का अवमूल्यन
- 4.8 विचारधारा के रूप में शक्ति सन्तुलन
- 4.9 शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के साधन
 - 4.9.1 क्षतिपूर्ति
 - 4.9.2 हस्तक्षेप
 - 4.9.3 मध्यवर्ती राज्य
 - 4.9.4 शस्त्रीकरण
 - 4.9.5 विभाजन तथा शासन
 - 4.9.6 मैत्री सन्धियाँ
- 4.10 शक्ति सन्तुलन का मूल्यांकन
 - 4.10.1 सामूहिक सुरक्षा
 - 4.10.2 मूलभूत सिद्धांत
 - 4.10.3 मूलभूत समस्याएं
 - 4.10.4 असफलता के कारण
- 4.11 सारांश
- 4.12 शब्दावली
- 4.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 4.14 संदर्भ ग्रन्थ
- 4.15 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 4.16 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

शक्ति सन्तुलन (Balance of Power) का सिद्धान्त शक्ति और शक्ति-संघर्ष की अवधारणा के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। इसके मूल में यह निहित है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय किसी भी एक शक्ति को दूसरे से इतना अधिक शक्तिशाली नहीं बनने दिया जा सकता कि वह उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सके या तमाम अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम को अपनी इच्छानुसार एकाधिकारी ढंग से प्रभावित करने की क्षमता उसे हासिल हो जाए। जिस शक्ति-संतुलन की बात अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में की जाती है वह वास्तव में यूरोपीय इतिहास की पृष्ठभूमि में ही अच्छी तरह समझी जा सकती है। शक्ति सन्तुलन पिछली चार शताब्दियों से यूरोप तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बड़ी भूमिका अदा करता रहा है। अतः इस सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का एक मौलिक सिद्धान्त तथा राजनीति का एक आधारभूत नियम माना जाता है। शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के लिए राज्यों को सदैव प्रयत्नशील रहना पड़ता है। शक्ति सन्तुलन किसी विशिष्ट राजनीतिक व्यवस्था का आवश्यक लक्षण नहीं है लोकतांत्रिक और सर्वाधिकारवादी दोनों प्रकार के राज्य इसका प्रयोग कर सकते हैं। शक्ति सन्तुलन के खेल में केवल बड़े राष्ट्र ही खिलाड़ी होते हैं छोटे राष्ट्र इसका शिकार बनते हैं अथवा दर्शक के रूप में रहते हैं। शक्ति सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक स्थिति, एक प्रक्रिया, एक नीति और व्यवस्था के रूप में चित्रित किया जा सकता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि वर्तमान समय में शक्ति सन्तुलन के लिए आवश्यक दशाएँ नहीं हैं अतः शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त वर्तमान समय में लागू नहीं हो सकता। दूसरी ओर कुछ विचारक शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त को आज भी सार्थक मानते हैं। उनका कहना है कि शक्ति पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय समाज के लिए शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त अनिवार्य है। माँगेन्थाऊ का कथन है कि “शक्ति सन्तुलन और उसे बनाए रखने का उद्देश्य लेकर चलने वाली नीतियाँ केवल अपरिहार्य ही नहीं हैं, बल्कि प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्रों के समाज के अपेक्षित्व स्थायित्व लाने वाले तत्व हैं।” इस प्रकार शक्ति सन्तुलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। यह सच है कि विश्व की राजनीतिक स्थिति में बदलाव के कारण इस सिद्धान्त को कमतर करके आका जाता है। परन्तु फिर भी यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सारभूत सिद्धान्त है जिसका अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना महत्व है।

4.2 उद्देश्य

शक्ति सन्तुलन व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य शान्ति तथा सुरक्षा कायम रखना है। इस व्यवस्था के द्वारा शान्ति को स्थायित्व प्रदान किया जाता है। शक्ति सन्तुलन में छोटे राज्यों का उद्देश्य होता है कि उनकी स्वाधीनता की सुरक्षा बनी रही। शक्ति सन्तुलन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व को कायम रखा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्रियान्वयन शक्ति सन्तुलन पर ही आधारित है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सन्तुलन का उद्देश्य है शक्तियों का समान वितरण। यह इस मान्यता पर आधारित है कि शक्ति सन्तुलन की उपेक्षा से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के तत्व की उपेक्षा प्रकट होती है। शक्ति सन्तुलन का उद्देश्य होता है कि राज्यों के व्यवहार को इस प्रकार नियमित करने का प्रयास किया जाए कि आक्रमण तथा विस्तावाद को असंभव बना दिया जाए।

4.3 शक्ति सन्तुलन: अर्थ

शक्ति सन्तुलन की अवधारणा का अर्थ स्पष्ट करना बड़ा कठिन है। “रिचार्ड कॉबडेन” (Richard Cobden) के शब्दों में “शक्ति सन्तुलन एक विचित्र उलझन भरा शब्द है, जो केवल भ्रमात्मक मिथ्या सत्य ही नहीं वरन् ऐसी अव्यक्त व्यवस्था का परिचायक है जिसकी कभी स्थापना नहीं की जा सकती।”

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिपेक्ष्य में शक्ति सन्तुलन से अभिप्राय है कि विभिन्न राष्ट्रों के बीच कम से कम स्थूल सन्तुलन कायम होना। “श्लीचर” के शब्दों में “शक्ति सन्तुलन व्यक्तियों तथा समुदायों की सापेक्ष शक्ति की ओर संकेत करता है।” “क्लांड” के अनुसार “शक्ति सन्तुलन एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें विभिन्न स्वतन्त्र राष्ट्र अपने आपसी शक्ति सम्बन्धों को बिना किसी बड़ी शक्ति के हस्तक्षेप के स्वतन्त्रतापूर्वक संचालित करते हैं। इस प्रकार यह एक विकेन्द्रित व्यवस्था है जिसमें शक्ति व नीति निर्णायक इकाइयों के हाथों में ही रहती है। “कॉल्डेन” के अनुसार “एक राष्ट्र को स्वयं अपनी तथा अपने पड़ोसी राष्ट्रों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए शक्ति सन्तुलन की स्थापना करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। स्वतन्त्रता, शान्ति, स्थिरता तथा सार्वजनिक सुरक्षा के लिए शक्ति सन्तुलन आवश्यक है, क्योंकि एक निश्चित सीमा के बाद एक राज्य की बढ़ती हुई शक्ति अन्य सभी राज्यों को प्रभावित करने लगती है। इतना ही नहीं, एक राज्य का अत्यधिक शक्तिशाली होने का अर्थ है अन्य राज्यों का विनाश और पराजय। पड़ोसी राष्ट्रों में स्थिरता और शान्ति स्थापित करने का केवल एक ही उपाय है कि सब राष्ट्रों की शक्ति करीब-करीब समान और तुल्य ही रहे।” “डिकिंसन” के मतानुसार सन्तुलन शब्द का प्रयोग समानता और असमानता दोनों ही अर्थों में किया जाता है। लेखा सन्तुलन का अर्थ होते हैं समानता, लेकिन जब सन्तुलन किसी एक के हित में हो तो इसका अर्थ होता है असमानता। शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त प्रथम अर्थ का दावा करता है किन्तु दूसरे के लिए प्रयत्नशील रहता है।

एक अन्य विद्वान “जॉन स्पिकमैन” ने इसका सुन्दर विश्लेषण करते हुए कहा है कि “राज्यों को केवल इस बात में दिलचस्पी होती है कि तुला का पलड़ा अपने पक्ष में झुका हुआ हो, क्योंकि अपने सम्भावित शत्रु के मुकाबले उस जैसा शक्तिशाली होने में कोई वास्तविक सुरक्षा नहीं है। सुरक्षा केवल इस बात में निहित है कि आप अपने शत्रु से अधिक शक्तिशाली हों।” यह तथ्य इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि 1914 के प्रथम विश्वयुद्ध से पहले यूरोप के राज्य दो गुटों में बंटे हुए थे एक गुट फ्रांस, ब्रिटेन और रूस का था और दूसरा गुट जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी तथा टर्की के राज्य का। इन

दोनों की शक्ति लगभग सन्तुलित थी और दोनों पक्ष इस प्रयत्न में थे कि वे इस सन्तुलन को किस प्रकार अपने पक्ष में करें। इटली युद्ध छिड़ने पर काफी समय तक किसी पक्ष के साथ खुल्लमखुल्ला सम्मिलित होने में हिचकिचाता रहा, यद्यपि उसने जर्मनी के साथ गुप्त संधि की हुई थी। युद्ध में मित्र राष्ट्रों का पलड़ा भारी होने पर वह उनकी ओर से लड़ाई में सम्मिलित हुआ।

उपरोक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि शक्ति सन्तुलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक स्थिति, एक प्रक्रिया, एक नीति और व्यवस्था के रूप में चित्रित किया जा सकता है। शक्ति सन्तुलन विशिष्ट स्थिति का द्योतक है जिसमें शक्ति संबंध लगभग बराबरी के आधार पर होता है। कैनेथ टॉमसन, मॉरगेन्थाऊ, चर्चिल आदि ने शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त को विदेश नीति के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया है। वे यह मानते हैं कि सन्तुलन शक्ति खरतनाक होती है। विदेश नीति की दृष्टि से राष्ट्र उसी समय शक्ति सन्तुलन की अवधारणा स्वीकार करते हैं जबकि वे अन्य राज्यों की तुलना में प्रबल हों। चर्चिल ने शक्ति सन्तुलन को ब्रिटिश विदेश नीति की अद्भुत परम्परा बताया था। मार्टिन वाइट, ए.जे.पी. टेलर, चार्ल्स लर्च आदि शक्ति सन्तुलन को एक पद्धति मानते हैं। आधुनिक विश्व में जहाँ बहुत सारे राज्य हैं, शक्ति सन्तुलन द्वारा एक व्यवस्था स्थापित की जा सकती है।

हॉन्स जे. मॉरगेन्थाऊ ने शक्ति के चार अर्थ बताए हैं -

1. राज्यों में शक्ति के वितरण पर जोर देने वाली नीति।
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थवादी स्वरूप का चित्रण करने वाला सिद्धान्त।
3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति का समान वितरण।
4. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राजनीतिक शक्ति वितरण को प्रकट करने वाली शब्दावली।

इसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यथार्थवादी सिद्धान्त कहा जाता है। यह इस मान्यता पर आधारित होता है कि शक्ति सन्तुलन की उपेक्षा से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के तत्व की उपेक्षा प्रकट होती है।

4.4 शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त का ऐतिहासिक विकास

जहाँ कहीं राज्य व्यवस्था की बहुल प्रणाली विद्यमान रहती है, शक्ति सन्तुलन की अवधारणा का अस्तित्व रहता है। प्राचीन समय में भी इस सिद्धान्त का प्रयोग होता था, विशेष रूप से यूनान के नगर राज्यों की व्यवस्था में तथा मिस्र, बेबीलोन, भारत तथा चीन की राज्य प्रणाली में। “डेविड ह्यूम ने अपने एक निबंध “ऑफ द बायलेन्स ऑफ पावर” में इसे ए प्रेवेलिंग नेशन ऑफ एनसियन्ट टॉइम” कहा है। भारत के भी शासक शक्ति सन्तुलन, सिद्धान्त का व्यवहार करते रहते थे। “कौटिल्य” के “मण्डल सिद्धान्त” में शक्ति सन्तुलन की धारणा के बीज निहित हैं।

शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त की वास्तविक शुरुआत 15वीं शताब्दी से होती है। इटली के राज्यों की राजनीति के परिचालन में इस सिद्धान्त का प्रयोग होता रहा है। ‘मैकियावेली’ के ‘प्रिंस’ में इस ओर संकेत किया गया है। वेनिस नाम के नगर राज्य तो सन्तुलनकर्ता की भूमिका का निर्वाह भी

करने लगा था। सोलहवीं शताब्दी में फ्रांस और हैप्सबर्ग के बीच अधिभावी शक्ति सन्तुलन चलता था। इंग्लैण्ड ने शक्ति सन्तुलन की कूटनीति का आश्रय लिया और उसने फ्रांस एवं रोमन राज्य के मध्य सन्तुलन बनाए रखने का प्रयत्न किया। सन् 1648 की वेस्टफेलिया की सन्धि ने राष्ट्रीय-राज्य की स्थापना की और शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त की भूमिका और अधिक सार्थक दिखाई देने लगी। 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्तरी यूरोप में एक पृथक शक्ति सन्तुलन का विकास स्वीडन की शक्ति के द्वारा बाल्टिक सागर के निकटवर्ती राष्ट्रों को दी गयी एक चुनौती से हुआ। 18वीं शताब्दी का काल खासतौर से 1713 की यूट्रेक्ट की सन्धि से पोलैण्ड के प्रथम विभाजन (1772) तक का समय शक्ति सन्तुलन अवधारणा के विकास का स्वर्ण युग माना जाता है।

18वीं शताब्दी के अंतिम चरण में और 19वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर पाँच राज्य ऐसे थे जो बड़ी शक्ति के रूप में पहचाने जाते थे। इनमें से पहला ग्रेट ब्रिटेन था जो अकार और जनसंख्या की दृष्टि से अन्य बड़ी ताकतों से बहुत छोटा था पर औद्योगीकरण के युग का सूत्रपात करने के कारण और अपने एशियाई साम्राज्य के संसाधनों के स्वामित्व के कारण, उनसे कहीं अधिक ताकतवर और प्रभावशाली बन गया था। जब से सर फ्रांसिस ड्रेक ने स्पेन की नौसेना को जबरदस्त शिकस्त दी थी, तब से ब्रिटेन की नौसेना को चुनौती देने वाला कोई नहीं बचा था। दूसरी बड़ी ताकत फ्रांस था, नेपोलियन के शासनकाल में कई बार ऐसा लगता कि वह ब्रिटेन को पीछे धकेल अव्वल बन बैठेगा परन्तु नेपोलियन की हार के बाद फ्रांस राजनैतिक उथल-पुथल के दौर से गुजरता रहा और ब्रिटेन को चुनौती देना उसके लिए सहज-संभव नहीं रहा। तीसरी बड़ी शक्ति प्रशा था। प्रशा के सम्राट सैनिक दृष्टि से ताकतवर थे, पर अनेक सूबों के स्थानीय शासक अपनी अलग सांस्कृतिक-आर्थिक पहचान बनाये हुए थे। यूरोप में उन्हें पहले दर्जे की ताकत मानने वाले कम थे। उनका प्रभुत्व ज्यादा से ज्यादा आस्ट्रिया-हंगरी वाले प्रतिद्वंद्वी साम्राज्य तक ही सीमित रहता था। चौथी बड़ी शक्ति आस्ट्रिया-हंगरी था। यह एक बहुराष्ट्रीय राज्य था जिसकी एकता का एकमात्र सूत्र हैप्सबर्ग राजवंश था। पाँचवी बड़ी शक्ति रूस था। रूस का फैलाव किसी भी दूसरी शक्ति से कहीं ज्यादा था, परन्तु उसका आकार ही उसे यूरोप में सक्रिय हस्तक्षेप से रोकता था। उसकी पहचान एक यूरेशियाई ताकत के रूप में थी जो दूसरे यूरोपीय देशों से कहीं अधिक पिछड़ा और दकियानूस था। उसे अन्य बड़ी शक्तियाँ अपने संयुक्त सैनिक मोर्चे को ताकतवर, अजेय बनाने के लिए ही गाढ़े वक्त में बुलाती थी, अन्यथा उसे उसी के हाल पर छोड़ दिया जाता था। रूस को भी इसमें ज्यादा एतराज नहीं था। जब नेपोलियन ने रूस पर आक्रमण किया इसके बाद से यूरोप के अन्य बड़ी ताकतों ने इसी में अपना भला समझा कि यूरोपीय शक्ति सन्तुलन में जोड़-तोड़ करते वक्त, रूस को औरों के बराबर नहीं समझा जाए।

4.5 नयी शक्तियों का उदय और बदला शक्ति सन्तुलन

यह समझना गलत होगा कि शक्ति सन्तुलन बुनियादी तौर से बदलता नहीं था। जिन दो बातों ने स्थिति को आमूल-चूल बदल डाला था, उनमें रूस में बोल्शेविक क्रान्ति और इसके पहले जापान का एक ताकतवर सैनिक शक्ति के रूप में उदय था। प्रथम विश्वयुद्ध में बहुत बड़े पैमाने पर नरसंहार हुआ था और सैनिकों के साथ-साथ निर्दोष नागरिकों को भी हताहत होना पड़ा था। सबसे ज्यादा तबाही फ्रांस और जर्मनी को झेलनी पड़ी थी इसी कारण इन दो देशों के बीच कड़वाहट बहुत ज्यादा बढ़ गई। पारम्परिक रूप से यूरोप के नेतृत्व के लिए प्रतिस्पर्धी इन दो देशों का बैर काफी खतरनाक बन गया था। जर्मनी पर वर्षाय की संधि थोपा गया यह तमाम परिस्थिति नाजी पार्टी के उत्थान में सहायक सिद्ध हुई। जर्मनी 1919 से 1936-37 तक इस स्थिति में नहीं था कि उसे दूसरी बड़ी ताकते बराबरी का दर्जा दे, शक्ति सन्तुलन को नियंत्रित करने के लिए अपने साथ रख सके। फ्रांस भले ही जीतने वाले पक्ष के साथ था, परन्तु उसकी अर्थव्यवस्था ध्वस्त हो चुकी थी और वह भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बड़ी शक्ति समझे जाने लायक नहीं रही थी। रूस, सोवियत संघ में बदल चुका था, और वह अपनी सीमाओं के भीतर ही नई साम्यवादी व्यवस्था को सुरक्षित रखने को आतुर था। इसी क्रान्ति के कारण प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान नई सोवियत सरकार ने जर्मनी के साथ अलग सन्धि कर ली थी और शक्ति सन्तुलन की अवधारणा को खास जबर्दस्त धक्का लगा दिया था। रूस में इस क्रान्ति के पहले तभी से बदलाव दिखाई देने लगा था जब वह जापान से पराजित हुआ था। किसी एशियाई शक्ति के हाथों पराजित होने वाला वह पहला यूरोपीय देश है।

इस पराक्रम के बाद जापान की गिनती बड़ी शक्तियों में होने लगी थी और उसे भी यूरोपीय शक्ति सन्तुलन के संदर्भ में महत्वपूर्ण समझा जाने लगा था। वाशिंगटन के नौ-सैनिक सम्मेलनो में उसकी भूमिका खासी महत्वपूर्ण रही थी। दो विश्वयुद्धों के अंतराल में जो नया शक्ति संगठन उभर कर सामने आया वह 19वीं सदी के परस्पर विरोधी, प्रतिस्पर्धी सैनिक संगठनों से बहुत फर्क नहीं था। इसके साथ 20वीं सदी में एशिया और अफ्रीका के उपनिवेशों में मुक्ति संग्राम गतिशील हुए। यूरोप के प्रतिस्पर्धी देशों ने अपने प्रतिद्वंद्वी को कमजोर करने के लिए उसके प्रभुत्व वाले उपनिवेशों में स्वाधीनता संग्राम को प्रोत्साहन देन लगा। इस सब का नतीजा यह हुआ कि 1945 में युद्ध विराम तक पारम्परिक शक्ति सन्तुलन को फिर से स्थापित करना असंभव हो चुका था, विश्व पर द्वितीय विश्वयुद्ध का खतरा मंडराने लगा। द्वितीय विश्वयुद्ध के विनाश के कारण अब कोई भी यूरोपीय राष्ट्र वास्तव में ताकतवर नहीं रह गया था। एटमी हथियारों के प्रयोग ने शक्ति की परिभाषा ही बदल डाली थी। एटमी हथियारों के बिना अब कोई भी देश अपने को बड़ी शक्ति नहीं कह सकता था। अमरीका विश्व में नई शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया। दूसरी ओर सोवियत संघ को भले ही युद्ध में भारी क्षति पहुँचा हो फिर भी वह दूसरी शक्ति के रूप में उभर कर आयी।

4.6 शीत युद्ध के दौर में शक्ति सन्तुलन

शीत युद्ध(cold war) के वर्षों में दो महाशक्तियों के बीच भले ही आतंक का सन्तुलन राजनयन के लिए निर्णायक महत्व का रहा हो, क्षेत्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में पारम्परिक शक्ति सन्तुलन और कुछ दशक तक प्रभावशाली रहा। प्रारम्भिक वर्षों में पूंजीवादी पश्चिम देश, अमेरिका और यूरोप साम्यवादी खेमे के सोवियत संघ और चीन को सन्तुलित करते रहे पर शीघ्र ही दोनों खेमों में सहयोगियों के बीच असंतोष की सुगन्ध गहकने को मिलने लगी। जनरल द गॉल ने फ्रांस के ऐतिहासिक राष्ट्रीय गौरव का झंडा लहराते हुए अमेरिकी प्रभुत्व को चुनौती दी और सोवियत संघ तथा चीन के साथ अपने राष्ट्रीयहित को अलग से समायोजित करने की चेष्टा की। इन्हीं वर्षों में यूरोपियन साम्यवाद का उफान देखने में आया जिसमें स्तालिनवादी-लेनिनवादी रूसी अथवा माओवादी चीनी साम्यवाद की अन्तर्राष्ट्रीय स्थापनाओं को नकारते हुए, यूरोपीय साम्यवादी विकल्प तलाशने की सार्थक कोशिश की गई थी। 1950 के मध्य से ही यह बात जगजाहिर हो चुकी थी कि पूर्वी यूरोप के अनेक साम्यवादी देश सोवियत संघ के उपग्रह या उपनिवेश बने रहने को तैयार नहीं। चीन में माओवादी साम्यवाद, सोवियत साम्यवाद से अलग सैद्धान्तिक स्थापनाएँ करता था। सोवियत चीन कलह ने भी अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति सन्तुलन को काफी प्रभावित किया। इस तमाम घटनाक्रम के कारण गुटनिरपेक्ष देशों को यह मौका मिला कि वे अपेक्षाकृत स्वायत्त स्वाधीन विदेश नीति का अनुसरण कर सकें। इस पूरे दौर में शक्ति सन्तुलन खासा लचीला और निरन्तर परिवर्तनशील रहा।

4.7 शीत युद्ध का अंत तथा शक्ति सन्तुलन का अवमूल्यन

1970 के दशक के आरम्भ में अमेरिकी विदेश सचिव, हेनरी किसिंजर ने नए सिरे से 19वीं सदी के नमूने वाले शक्ति सन्तुलन को एक बार फिर स्थापित करने का प्रयत्न किया। किसिंजर ने एक साथ संयुक्त राज्य अमेरिका के संबंध तात्कालीन सोवियत संघ और माओवादी चीन के साथ सुधारने की सफल कोशिश की। इसी के साथ-साथ उन्होंने दक्षिण पूर्व एशिया से अमेरिकी सेनाओं की वापसी का मार्ग प्रशस्त किया। मध्य पूर्व में किसिंजर के प्रयासों से ही कैप - डेविड समझौता सम्पन्न हुआ। इन सभी घटनाओं ने महाशक्तियों के बीच तनाव घटाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और शक्ति सन्तुलन के बारे में फिर से सोचा जाने लगा। 1971 के तेल संकट और 1973 का अरब-इजराइली संघर्ष ने पश्चिमी देशों के गठबंधन में असुरक्षा का भाव बढ़ा दिया था। 19वीं सदी की तरह इस वक्त भी शक्ति सन्तुलन का आकर्षण सामूहिक सुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण बन चुका था। परन्तु इस नए शक्ति सन्तुलन के स्थापित होने के पहले ही अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य एक बार फिर नाटकीय ढंग से बदल गया। वाटर गेट कांड में फंसने के बाद निक्सन को पद त्याग करना पड़ा। चीन में माओ युग का अवसान होने लगा। सोवियत संघ के विघटन और विलय की प्रक्रिया ब्रेजनेव के देहांत के साथ ही

शुरू हो गई थी। इस सब के कारण किसिंजर ने जिस शक्ति सन्तुलन की कल्पना की थी वह 1990 के दशक तक बिल्कुल ही निरर्थक लगने लगा था।

4.8 विचारधारा के रूप में शक्ति सन्तुलन

मॉरगेन्थाऊ ने शक्ति सन्तुलन की अवधारणा को एक विचारधारा के रूप में प्रस्तुत किया है। मॉरगेन्थाऊ के अनुसार शक्ति सन्तुलन उन राष्ट्रों की आत्मरक्षा की युक्ति है जिनकी स्वतन्त्रता एवं अस्तित्व को दूसरे राष्ट्रों की शक्ति में असंगत वृद्धि से भय है। शक्ति सन्तुलन का प्रयोग विशुद्ध रूप में आत्मरक्षण के स्पष्ट प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होता है। राष्ट्रों में व्याप्त शक्ति की प्रतिस्पर्द्धा सिद्धान्तों पर हावी हो जाता है। वे उन सिद्धान्तों को छिपाने, उनको युक्तियुक्त सिद्ध करने एवं स्वयं को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए उनको विचारधाराओं में रूपान्तरित कर देते हैं। साम्राज्य स्थापित करने के लिए उत्सुक राष्ट्र ने बहुधा यही दावा किया है कि वह केवल साम्यावस्था चाहता है। राष्ट्रों की सापेक्ष शक्ति स्थितियों के सही मूल्यांकन की कठिनाइयों ने शक्ति सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विचारधाराओं में से एक बना दिया है। पश्चिम देशों में शक्ति सन्तुलन की बात वह करता है जोकि गैर-अमेरिकी राष्ट्रों की नीतियों द्वारा विक्षुब्ध हो सकता है। इसी प्रकार भूमध्य सागर में सन्तुलन की बात वह करता है जिसकी रूसी घुसपैठ से रक्षा होनी चाहिए। एक विचारधारा के रूप में शक्ति सन्तुलन का प्रयोग शक्ति सन्तुलन की यांत्रिकी में अन्तर्निहित कठिनाई पर जोर देता है। इस प्रकार शक्ति सन्तुलन ऐसी वास्तविकता और क्रिया का प्रदर्शन करता है जो वास्तव में उसमें नहीं है। इसीलिए इसमें वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को बनावटी रूप देने युक्तिसंगत सिद्ध करने तथा न्यायसंगत ठहराने की प्रवृत्ति रहती है।

4.9 शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के साधन

शक्ति सन्तुलन के लिए राज्य कौन-कौन से साधन अपनाते हैं? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के समीक्षकों ने मोटे तौर से छः साधन बताए हैं जिनसे राष्ट्र शक्ति सन्तुलन अपने पक्ष में करने की कोशिश करते हैं:

4.9.1 क्षतिपूर्ति (Compensation)

क्षतिपूर्ति या मुआवजे की नीति से अभिप्राय है कि एक राज्य को उतना दो जितना उससे ले लिया गया है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय तुल्यभारिता बनी रहे। युद्धों के पश्चात् शान्ति सन्धियों में इसी आधार पर राज्यों के क्षेत्रों में प्रदेशों का आदान-प्रदान होता है और सीमाओं में परिवर्तन किया जाता है कि राज्यों की तुलनात्मक शक्ति यथापूर्व बनी रहे। सन् 1713 में यूट्रेक्टर सन्धि द्वारा प्रथम बार स्पेन द्वारा अधिकृत भूमि को बांटकर शक्ति सन्तुलन स्थापित करने की कोशिश की गयी थी। इस प्रकार पोलैण्ड का तीन बार विभाजन 1772, 1793 तथा 1795 में किया गया और तीनों बार उसका बंटवारा इस प्रकार किया गया कि सन्तुलन कायम रहे। भू-भागों के वितरण में केवल क्षेत्रफल को ही ध्यान में नहीं रखा जाता वरन् उसकी उर्वरता, औद्योगिक क्षमता तथा साधनों की प्रचुरता का भी

ध्यान रखा जाता है। मॉरगेन्थाऊ के अनुसार “राजनीतिक समझौते को जन्म देने वाली राजनयिक वार्ताओं की सौदेबाजी भी अपने सामान्यतम रूप का सिद्धान्त ही है और इस प्रकार वह शक्ति सन्तुलन का एक अंग है।”

4.9.2 हस्तक्षेप (Intervention)

कभी-कभी शक्तिशाली राज्य सन्तुलन स्थापित करने की दृष्टि से अन्य राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करते हैं। एक देश शस्त्रीकरण, औद्योगीकरण एवं उत्पादन बढ़ाकर शान्तिप्रिय राज्य के स्थान पर आक्रामक राज्य बन सकता है जिसका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पड़ता है। अतः ऐसी स्थिति में अन्य राज्य या तो मूक-दर्शक बना रह सकता है अथवा प्रत्यक्ष हस्तक्षेप कर सकता है। 1648 में वेस्टफेलिया की सन्धि के बाद से यूरोप की राजनीति का यह मुख्य सिद्धान्त रहा है कि कोई भी राज्य अन्य राज्यों की अपेक्षा बहुत अधिक शक्ति सम्पन्न न हो, सब राज्यों में शक्ति सन्तुलन बना रहे। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त ब्रिटेन ने जोर्डन में, अमरीका ने ग्वाटेमाला, क्यूबा, लेबनान, लाओस, कम्बोडिया और वियतनाम तथा सोवियत संघ ने उत्तरी कोरिया, पूर्वी जर्मनी, चकोस्लोवाकिया एवं अफगानिस्तान में हस्तक्षेप किया है। ये समस्त हस्तक्षेप यथापूर्व स्थिति को बनाए रखने अथवा शक्ति सन्तुलन को अपने पक्ष में मोड़ने के लिए किए गए। हस्तक्षेप की अन्तिम उग्र स्थिति युद्ध होता है। जबकि युद्ध के उपरान्त शक्ति सन्तुलन की स्थिति बदल जाती है।

4.9.3 मध्यवर्ती राज्य (Buffer State)

शक्ति सन्तुलन स्थापित करने का तीसरा तरीका है मध्यवर्ती राज्य। एक ऐसा तटस्थ बफर राज्य स्थापित किया जाए जो दुर्बल हो और दो बड़े गैर-मित्र देशों के बीच में स्थित हो। ऐसे मध्यवर्ती राज्यों का काम है दोनों बड़े अमित्र राष्ट्रों को अलग रखकर उनमें युद्ध छिड़ने की गुंजाइश कम करना। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले रूस और जर्मनी के बीच पोलैण्ड, फ्रांस तथा जर्मनी के बीच बेल्जियम और हॉलैण्ड तथा भारत और चीन के बीच तिब्बत मध्यवर्ती राज्य का काम करता था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व दो शक्तिशाली गुटों में विभक्त हो गया और उनके बीच सन्तुलन स्थापित करने के लिए मध्यवर्ती राज्य के अस्तित्व का महत्व बढ़ गया था जो अवरोधक का काम करें।

4.9.4 शस्त्रीकरण (Armament / Militarization)

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार जिन प्रधान साधनों द्वारा एक राष्ट्र अपनी शक्ति से शक्ति सन्तुलन बनाए रखने अथवा उसको पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करता है, अस्त्र-शस्त्र हैं। जब कभी कोई राष्ट्र अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाता है तब इसके प्रतियोगी राज्य भी इसकी बराबरी में आने के लिए शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा में पड़ जाते हैं। शस्त्रीकरण की यह होड़ यद्यपि सन्तुलन के लिए होती है तथापि इसके कारण गतिशील शक्ति सन्तुलन की स्थिति का निर्माण होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमरीका और सोवियत संघ में शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्धा कुछ ऐसी ही थी।

4.9.5 विभाजन तथा शासन (Divide and Rule)

शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के लिए राज्य शत्रुपक्ष के साथी राष्ट्रों में फूट डालने का भी प्रयत्न करते हैं जिससे उसके शत्रु आपस में न मिल सके, उनमें फूट रहे और वे कमजोर बने रहें। फ्रांस की नीति जर्मनी तथा शेष यूरोप के साथ सोवियत संघ की नीति। 17वीं शताब्दी से द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत तक फ्रांसीसी विदेश नीति का अपरिवर्तनीय सिद्धान्त रहा है कि या तो वह जर्मनी साम्राज्य के बहुत से छोटे स्वतंत्र राज्यों में विभाजन का पक्ष ले या एक एकीकृत राष्ट्र के रूप में ऐसे राज्यों का सम्मेलन न होने दे। इसी प्रकार सोवियत संघ ने निरन्तर यूरोप के एकीकरण की सभी योजना का विरोध इस मान्यता पर किया कि यूरोपीय राष्ट्रों का एक पाश्चात्य गुट में एकीकरण सोवियत संघ के शत्रुओं को इतनी शक्ति दे देगा, जिससे उनकी सुरक्षा को खतरा हो जाएगा।

4.9.6 मैत्री सन्धियाँ (Treaties of Friendship / Alliances)

मैत्री सन्धियाँ शक्ति सन्तुलन स्थापित करने का मुख्य आधार रही हैं। परमार तथा पर्किन्स के अनुसार यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि राज्यों की प्रत्येक सन्धि का संबंध शक्ति सन्तुलन से रहता है, चाहे उसका विस्तार क्षेत्रीय हो, गोलाब्दीय हो या विश्वव्यापी। जब भी कोई एक राज्य अन्य राज्यों की तुलना में शक्तिशाली होने लगता है, अन्य राज्य आशंकित हो उठते हैं। ये सभी भयभीत राज्य आपस में मैत्री संधियाँ करके इस शक्तिशाली राज्य के विरुद्ध संगठित हो जाते हैं। इनके संगठित होने से शक्तिशाली राज्य अपने को अकेला अनुभव करता है और प्रत्युत्तर में प्रतिसंधियाँ करने लगता है। इस प्रकार का क्रम तब तक चलते रहता है जब तक कि विश्व के सभी राष्ट्र स्पष्ट रूप से विरोधी गुटों में संगठित हो कर बँट नहीं जाते। मैत्री संधि और प्रतिमैत्री संधियाँ यूरोपीय राजनीति का मुख्य अंग रही हैं।

इस प्रकार अपने अनुकूल शक्ति सन्तुलन बनाए रखने के लिए राज्य इन छः में से कोई भी तरीका अपनाते रहते हैं।

4.10 शक्ति सन्तुलन का मूल्यांकन

आइनिस् क्लाइड ने लिखा है कि शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त के सफल क्रियान्वयन के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं –

प्रथम, शक्ति थोड़े से स्थानों पर केन्द्रित होकर व्यापक रूप से बहुत से राज्यों के बीच विभाजित होनी चाहिए।

द्वितीय, नीति का नियंत्रण उन लोगों के द्वारा होना चाहिए जो कूटनीतिक खेल के चातुर्यपूर्ण खिलाड़ी हैं और जो किसी विचारधारा के साथ बंधे हुए नहीं हैं।

तृतीय, शक्ति के तत्व सीधे-सादे स्थायी होने चाहिए।

चतुर्थ, युद्ध पर होने वाला खर्च इतना अधिक होना चाहिए कि राज्य आसानी से आश्रय न ले सके।

पंचम, यथापूर्व स्थिति की व्यवस्था को दी जाने वाली चुनौतियाँ क्रान्तिकारी नहीं होनी चाहिए।

षष्ठ, यथासम्भव एक सन्तुलनकर्ता होना चाहिए। परन्तु आज शक्ति पहले जैसे बोधगम्य नहीं है, वे दिन-प्रतिदिन दुरूह होते जा रहे हैं। कार्ल जे फ्रेडरिक के मत में “अब यह सिद्धान्त बिल्कुल अर्थहीन हो गया है क्योंकि यह किसी समस्या का समाधान नहीं करता। न न्याय की स्थापना करता है न अन्तर्राष्ट्रीय घटना का विश्लेषण करने में सहायक होता है और न ही सद्भावना बढ़ाने में।” शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त राज्य को शक्ति संचय के लिए प्रेरित करता है। इसमें राज्य भयग्रस्त रहते हैं। क्योंकि अधिकतम शक्ति को प्राप्त करने की इच्छा सार्वभौमिक है ताकि कभी ऐसा न हो कि विरोधी उनको शक्ति स्थिति से वंचित कर दें। शक्ति सन्तुलन शक्ति का आदर्श वितरण नहीं है। मॉरगेन्थाऊ के अनुसार “शक्ति सन्तुलन के पलड़े कभी भी यथावत सन्तुलित नहीं होंगे। न समता का सही बिन्दु पहचानने योग्य ही होते हैं, न उसके पहचानने की आवश्यकता ही है।” शक्ति सन्तुलन युद्धों का कारण बने हैं। चार्ल्स पंचम से हिटलर तक के बहुत से उदाहरण विद्यमान हैं। मॉरगेन्थाऊ ने शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त की आलोचना करते हुए इसे एक अनिश्चित, अवास्तविक और अपर्याप्त सिद्धान्त बताया है।

इन कमियों के बावजूद भी शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सारभूत सिद्धान्त है। यह सच है कि अमरीका तथा सोवियत संघ के बीच शक्ति के एक नए द्वि-ध्रुवीकरण के जन्म से तथा साथ ही किसी सन्तुलनकर्ता के अभाव के कारण वर्तमान में यह सिद्धान्त पुराना पड़ गया है। तथापि फ्रांस और चीन ने द्विध्रुवीय व्यवस्था को चुनौती देना प्रारम्भ कर दिया था। जर्मनी और जापान विश्व राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने की आकांक्षा रखते हैं अतः निकट भविष्य में शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त का महत्व और भी अधिक बढ़ने वाला है। जब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्र-राज्य प्रणाली पर आधारित रहेगी शक्ति सन्तुलन उसका अनिवार्य तत्व रहेगा। भले ही सैद्धान्तिक रूप से उसमें कितनी ही कमियाँ क्यों न रह जाएं। फ्रेडरिक के मत में “आज की अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता की तुलना में शक्ति सन्तुलन कहीं अधिक वांछनीय है, यद्यपि शक्ति सन्तुलन भी मानव स्वभाव और विश्व राजनीति की अपूर्णता का ही द्योतक है।

4.10.1 सामूहिक सुरक्षा (Collective Security)

सुरक्षा हेतु किया जाने वाला सामूहिक प्रयास दुनिया में यदि शांति स्थिरता लानी है तो इसके लिए सभी को प्रयास करने होंगे। इसके लिए सामूहिक प्रयास जरूरी होगा। यह तभी संभव हो पाएगा जब सभी राष्ट्र किसी भी आक्रमण को रोकने का सामूहिक प्रयास करेंगे। यह कैसे होगा यह-संगठन द्वारा होगा। जब इस सामूहिक प्रयास को एक संगठन का रूप देंगे तभी यह संभव हो पाएगा। फलस्वरूप दो संगठन बने --

1 - प्रथम विश्व युद्ध के बाद League of Nation (राष्ट्र संघ)

2 - द्वितीय विश्व युद्ध के बाद United Nation Organization (संयुक्त राष्ट्र संगठन)

सामूहिक सुरक्षा एक ऐसी कानूनी रूप से स्थापित यांत्रिकी की ओर संकेत करता है जिसे किसी राज्य द्वारा किसी अन्य राज्य पर आक्रमण रोकने या दबाने के लिए आकार दिया जाता है। अर्थात्,

सामूहिक सुरक्षा एक तंत्र की स्थापना की बात करता है क्योंकि यदि कोई राज्य किसी अन्य राज्य पर आक्रमण करता है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय शांति स्थिरता के लिए दबाया रोका जा सके। /

4.10.2 मूलभूत सिद्धांत :

ONE FOR ALL AND ALL FOR ONE अर्थात् एक सभी के लिए और सभी एक के लिए एक राज्य पर आक्रमण सभी राज्यों पर आक्रमण माना जाएगा और सभी राज्य द्वारा उस आक्रमणकर्ता का मुकाबला किया जाएगा। यहां आक्रमण का आधार व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होता है जो सामूहिक सुरक्षा के लिए जरूरी भी है यह तभी संभव है जब सभी राष्ट्र एक तंत्र से जुड़े हों।

इसके तहत दो तरह की बातें -

1. जिस पर आक्रमण हुआ है - वास्तविक पीड़ित (Real Victim)
2. जिसने आक्रमण किया है - वास्तविक आक्रमणकारी (Real Aggressor)

वास्तविक क्यों ?

क्योंकि यहां यह संकेत मिलता है कि पहले यह पहचान करना होगा कि आक्रमण किसने और किसपर किया गया। वही ऐसा न हो जाए अपने उपर हमला करने हल्ला करे कि हमारे उपर आक्रमण हुआ है। और इस आधार अपने व्यक्तिगत दुश्मनों पर निशाना साध पाए।

कदम ऐसे हो जिससे वास्तविक पीड़ित की सम्प्रभुता सुरक्षित हो सके सैन्य, आर्थिक मदद, शांति सेना की मदद वास्तविक आक्रमणकारी के लिए सामूहिक धमकी या दण्ड दिया जाएगा - कूटनीतिक दबाव, प्रतिबंध द्वारा या सैन्य कार्यवाई द्वारा।

4.10.3 मूलभूत समस्याएं

1. आक्रमणकारी की पहचान करना अर्थात् किसी सशस्त्र संघर्ष में सभी राष्ट्र इस बात पर एकमत हो कि कौन आक्रमणकर्ता है। सभी की रजामंदी हो तभी कार्यवाही संभव होगी।
2. सुरक्षा के प्रति समान दृष्टिकोण अर्थात् सभी राष्ट्र इस बात पर समान रुचि रखते हो कि आक्रमण को रोका जाए चाहे वह किसी भी स्रोत से संबंधित हो, जुड़ा हो। भले ही वह किसी का मित्र हो या किसी से उसका हित जुड़ रहा हो। अपनी संकीर्ण राष्ट्रहित को परे रखकर कदम उठाना होगा। उदाहरण अरब- इजराइल युद्ध इसमें हमेशा संयुक्त राज्य अमेरिका का हित इजराइल के साथ रहा, USSR का अरब से साथ, ऐसा नहीं होना चाहिए।
3. सभी राष्ट्र आक्रमणकर्ता के विरुद्ध कार्यवाही में भाग लेने के लिए स्वतंत्र व सक्षम हो। अर्थात् सभी राष्ट्र को इस सामूहिक कार्यवाही में शामिल किया जाय जिसमें उसकी सहमति भी होनी चाहिए।

4. सामूहिकता की कुल शक्ति इतनी पर्याप्त हो कि वो आक्रमण को परास्त कर सके। (ऐसा न हो कि नेपाल, भूटान, बंगलादेश, श्रीलंका जैसे देश चल पड़े संयुक्त राज्य अमेरिका से लड़ने)।
5. इस उद्देश्य को आकार देने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता होती है। जिसके कानूनी आधार, कुछ सिद्धांत हो और जिसके बातों को सभी सदस्य मानने को तत्पर रहते हों।

NATO इसलिए नहीं हो सकता है, क्योंकि यह क्षेत्रीय सैन्य संगठन तथा संकीर्ण हित से संबंधित है जबकि संयुक्त राष्ट्र संगठन विश्व शांति की बात करता है, इसका दायरा बहुत ही विस्तृत है।

प्रश्न उठता है कि आखिर क्यों सामूहिक सुरक्षा से राज्य जुड़ना चाहते हैं? क्योंकि

1. यह सभी राज्यों की सुरक्षा की वायदा करना है न केवल शक्तिशाली राज्यों की चूँकि सभी राष्ट्र युद्ध की धमकी से डरते हैं इसलिए वे इसमें शामिल होने की पहल करते हैं। (संयुक्त राष्ट्र संगठन के रूप में)।
2. सैद्धांतिक रूप से सामूहिक सुरक्षा का सिद्धांत अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को और अधिक निश्चितता प्रदान करता है कम से कम युद्ध के खिलाफ एकजुट प्रत्युत्तर देकर। संबंधों में निश्चितता इसलिए आती है क्योंकि सभी राष्ट्र युद्ध को रोकना चाहते हैं प्रथम विश्व युद्ध तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न हुए नए प्रकार का संबंध।
3. सामूहिक सुरक्षा स्पष्ट समस्या पर ध्यान देता है जो कि आक्रमण की होती है जिसे किसी सदस्य राज्य की भौगोलिक एकता व राजनैतिक स्वतंत्रता के सैनिक उल्लंघन के रूप में देखा जाता है सामूहिक सुरक्षा अपने उद्देश्यों के लिए अस्पष्ट नहीं है उद्देश्य बिल्कुल ही स्पष्ट है।

भौगोलिक एकता तथा राजनीति स्वतंत्रता ये किसी राष्ट्र का राष्ट्रहित है जो सामूहिक सुरक्षा की संकल्पना से जुड़ जाता है क्योंकि कोई भी राष्ट्र अपनी माँगों एकता तथा राजनीतिक स्वतंत्रता खोना नहीं चाहेगा। अतः सामूहिक सुरक्षा तथा राष्ट्रीय हित में कोई मतभेद नहीं है। राष्ट्रीय हित व सामूहिक सुरक्षा एक दूसरे के पूरक है उसमें किसी भी तरह का विरोध नहीं है। इसी पूरकता की आड़ में कोई राष्ट्र सामूहिक सुरक्षा से जुड़ना चाहता है।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद पहली बार सामूहिक सुरक्षा को आकार देने का प्रयास किया गया। क्योंकि इतनी भयावह परिस्थितियाँ पहले कभी नहीं हुआ था। शांति सुरक्षा की बात मानव जीवन की उत्पत्ति से की जाती रही है, परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध एक भयावह परिघटना थी जिसमें एक साथ करोड़ों लोग मारे गए थे। इस प्रकार के युद्ध को भविष्य में टालने के लिए ब्रिटेन, फ्रांस तथा अमेरिका के राष्ट्रपति ने पेरिस में सम्मेलन बुलाकर वर्साय की संधि के माध्यम से लीग ऑफ नेशन्स की स्थापना की परन्तु 1931- जापान ने मुचूरिया पर आक्रमण किया। 1935-36 इटली ने एबीसीनिया (इथोपिया) पर आक्रमण किया। 1937- जर्मनी ने चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण किया तीनों आक्रमण | League

of nations के बनने के बाद हुए परन्तु उक्त संगठन कुछ नहीं कर पाया। स्पष्ट है कि सामूहिक सुरक्षा ठीक ढंग से काम नहीं कर रहा था। league of nations की असफलता भी सबसे बड़ा प्रमाण द्वितीय विश्वयुद्ध का होना था जो पहले विश्वयुद्ध से भी ज्यादा भयावह थी जिसने परमाणु - हथियार तक प्रयोग किए गए। league of nations की असफलताओं क्यों हुई यह एक बड़ा प्रश्न है।

4.10.4 असफलता के कारण

1. संयुक्त राज्य अमेरिका जो कि संस्थापक देश था और USSR दूसरी बड़ी शक्ति के रूप में उभर रहा था इस व्यवस्था से अलग रहे। साथ ही जर्मनी, जापान जैसे देश भी अलग रहे ((शामिल नहीं थे) वर्साय की संधि जर्मनी के खिलाफ बनाई
2. प्रथम विश्व युद्ध के बाद जो स्थितियाँ (वर्साय की संधि के बाद) बनीं तब की विचारधारा आइ, -यथास्थिति बनी रहे वर्साय की संधि के बाद की परिस्थितियों के समर्थक अर्थात्), जर्मनी का अमानवीय शोषण फ्रांस -, समर्थक ब्रिटेन। कुछ देश जो इस यथास्थिति को बदलने की बात कर रहे थे -जर्मनी, इटली,(इटली को बँटवारे में उसके अनुसार हिस्सा नहीं मिल पाया था था इसलिए इटली परिवर्तन की बात कर रहा था। जर्मनी को शोषित राष्ट्र था |ये स्थितियाँ दर्शाती हैं कि यूरोप में कोई सामूहिक हित नहीं था, जाहिर है इस स्थिति में सामूहिक सुरक्षा सफल नहीं हो सकता और न ही हुआ। सामूहिक सुरक्षा के प्रयास तभी सफल हो सकते हैं जो सभी राष्ट्रों के हित एक से हो सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा व्यवहार में इसलिए भी असफल हो गई क्योंकि सभी राष्ट्रों के हित भिन्नभिन्न थे - इसकारण से सामूहिक सुरक्षा के तंत्र के रूप में राष्ट्र संघ असफल हो गया।
3. तुष्टिकरण की नीति लिए अपने संकीर्ण हित के-दूसरे को प्रोत्साहित करना ताकि अपने दुश्मन को अप्रत्यक्ष रूप से पराजित किया जा सके। इंग्लैंड की दुश्मनी जर्मनी से जर्मनी की USSR सोवियत संघ, वही इंग्लैंड की USSR सोवियत यहाँ जर्मनी USSR पर हमला करता है और इंग्लैंड कुछ न कहे या जर्मनी को अप्रत्यक्ष रूप से सह दे तो यह नीति तुष्टिकरण की होगी। 1935 में इटली ने अबीसीनिया पर जब हमला किया तब इंग्लैंड तथा फ्रांस ने कुछ नहीं किया यही तुष्टिकरण की नीति ने |League of nation असफल कर दिया। 1937 में हिटलर ने चेकोस्लाविया पर कब्जा कर लिया यदि इसे रोका गया होता तो शायद द्वितीय विश्व युद्ध होता ही नहीं।

सामूहिक सुरक्षा के तथा इसके एक तंत्र के रूप में राष्ट्र संघ के असफल होने के बाद इसपर सामूहिक सुरक्षा तथा शक्ति संतुलन शक्ति संतुलन के मानने या न मानने पर विवाद छिड़ा जिसमें रूजवेल्ट ने शक्ति संतुलन पर जोर दिया। अंततः निष्कर्ष तथा एकमत संयुक्त राष्ट्र की स्थापना पर

हुआ। संयुक्त राष्ट्र की स्थापना पूरी तरह से सिर्फ सामूहिक सुरक्षा की स्थापना के लिए नहीं था। सामूहिक सुरक्षा के साथसाथ शक्ति संतुलन के सिद्धांत से भी शामिल किया गया।-

संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद शक्ति संतुलन को दर्शाती है। संयुक्त राष्ट्र भी महासभा सामूहिक सुरक्षा को दर्शाती है।

सुरक्षा परिषद के पास Veto Power (निषेधाधिकार) है जिसके तहत किसी भी सदस्य राष्ट्र की असहमति पर किसी भी प्रस्ताव को समाप्त किया जा सकता है। Veto Power का दिया जाना देशों के महज संतुलन बैठाने के प्रयास के रूप में देखा जाता है। सुरक्षा परिषद की गठन पूर्व के परिस्थितियों को देखते हुए दिया गया जिसमें उसके सदस्य देशों को एक विशेष दर्जा दिया गया है। संयुक्त राष्ट्र संगठन की भूमिका मिश्रित रही है। सफलता व असफलता दोनों ही हाथ लगी है। निरपेक्ष रूप से सफल या असफल नहीं कहा जा सकता है।

- I. **कोरिया संकट** – 1950 उत्तर कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर 1950 में हमला किया। इस हमले से रोकने की बात की गई इंग्लैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा जो दक्षिण कोरिया के लिए आगे आए परन्तु USSR तथा चीन उत्तर कोरिया के समर्थन में आगे आए अंततः 1953 में किसी प्रकार युद्ध रूका। संयुक्त राष्ट्र संगठन इस मसले पर विफल हो गया क्योंकि यहां आपस में गुटबंदी हो गया।
- II. **स्वेज संकट 1956** - मिश्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया जिसका विरोध इजराइल, फ्रांस, ब्रिटेन ने मिश्र पर हमला किया, परंतु यह संयुक्त राष्ट्र और दो महाशक्तियों को स्वीकार्य नहीं था फलतः दोनों ने इजराइल, फ्रांस, ब्रिटेन के खिलाफ दबाव बनाया जिसके कारण युद्ध रूक गया। यहां दोनो संयुक्त राज्य अमेरिका तथा USSR के हित मिले और युद्ध रूका। फलतः कहा जा सकता है कि सामूहिक सुरक्षा के प्रयास सफल हुए। इसे संयुक्त राष्ट्र द्वारा उठाया गया कदम माना। जबकि समाहित करने का योग संयुक्त राज्य अमेरिका तथा USSR का है।
- III. **1991 का खाड़ी युद्ध**- इराक ने कुवैत पर कब्जा किया जिसके परिणामस्वरूप इराक पर संयुक्त राज्य अमेरिका तथा 28 सहयोगी देशों ने हमला किया। जिसपर संयुक्त राष्ट्र की सहमति थी। इस समय USSR विघटन की प्रक्रिया से गुजर रहा था जिससे उसने इसमें भाग ही नहीं लिया। यहां भी संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से सामूहिक सुरक्षा के प्रयास सफल साबित हुआ।
- IV. **पुनः खाड़ी संकट** – 2003 (इराक युद्ध)- संयुक्त राज्य अमेरिका ने बगैर किसी ठोस कारण के इराक पर हमला किया, क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका की नजर में इराक ऐसा हथियार बना रहा था जिससे मानव जाति के बड़े पैमाने पर नरसंहार का संकेत मिलते है। परन्तु ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिल पाया है। रूस, फ्रांस, और चीन ने इसका विरोध किया बावजूद इसके संयुक्त राज्य अमेरिका ने इराक पर हमला किया। UN महासचिव कोफी

अनान ने इस युद्ध को "अनुचित" और अंतर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध बताया। यहां सामूहिक सुरक्षा व्यावहारिक रूप से तथा उसके एक महत्वपूर्ण यंत्र के रूप में संयुक्त राष्ट्र असफल साबित हुआ।

अतः कहा जा सकता है कि सामूहिक सुरक्षा का तंत्र mechanism अपने आप में उतना सक्षम नहीं है बल्कि सैद्धांतिक रूप से यह व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के शक्ति समीकरणों से निर्धारित हो रही है। सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था उन परिस्थितियों से निर्धारित हो रही है जो उस समय शक्ति समीकरण अस्तित्व में था। जैसे राष्ट्र संघ (League of Nations) के समय शक्ति समीकरण यूरोपीय देशों द्वारा निर्धारित हो रही थी तो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा की गयी स्थापना में शक्ति समीकरणों को सुरक्षा परिषद् के रूप में स्वीकार किया गया था, शक्ति की संकल्पना चूंकि बदलती रही है। फलतः शक्ति संतुलन तथा Power equation भी बदलते रहे हैं और ये सभी जब बदलेंगे, तब शक्ति समीकरण अपनी बदलती हुई परिस्थितियों में संयुक्त राष्ट्र को प्रभावित करेगा क्योंकि संयुक्त राष्ट्र की स्थापना में भी सुरक्षा परिषद के रूप में Power equation को मान्यता 5 राष्ट्रों को विशेष शक्ति देकर किया गया। इस कारण से ही अलग अलग युद्ध में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार बदलती रही है। कुल मिलकर यदि संयुक्त राष्ट्र को यदि शक्ति संतुलन संगठन के रूप में देखते हैं जिसकी स्थापना द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एक नए विश्व को दिशा देने हेतु हुआ था। यूरोप के पास स्थित शक्ति समीकरण धीरे-धीरे समाप्त होकर संयुक्त राज्य अमेरिका तथा USSR के पास हस्तांतरित होती चली गई। क्योंकि तब वहां Power Vacuum की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। फलतः इस Vacuum को भरने के लिए आए दोनो देश संयुक्त राज्य अमेरिका or USSR दोनो ही आमने सामने हो गए।

यहां दोनो देश अपने अपने हिसाब से कार्य तथा स्वतंत्र हो रहे नवोदित राष्ट्रों को अपने पक्ष में करने तथा कब्जा करने की पुरजोर कोशिश करने लगे। स्वाभाविक दोनों ही आमने-सामने हो गए।

निश्चित तौर पर Power Vacuum भरने के लिए राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित कों तथा शक्ति संतुलन की जगह सामूहिक सुरक्षा को अधिक वरीयता देंगे। जबकि ऐसी स्थिति में सामूहिक सुरक्षा के mechanism के रूप में संयुक्त राष्ट्र विशेष सफल नहीं रहा है। वास्तविक आक्रमणकारी की पहचान आज ज्यादा कठिन हो गया है। ऐसी स्थिति में जबकि Power equation इसी के ईदगिर्द घूम रही थी गुटबाजी शुरू हो गई है फलतः शक्ति संतुलन की संकल्पना घूमिल पड़ गई।

यदि जैसा कि कहा जाता है कि Unipolarity की इस युग में जो इसे संरक्षित कर रहा है यदि उस पे ही आक्रमण हो जाए तो उसे कौन रोकेगा। क्योंकि हम जानते हैं कि सामूहिक सुरक्षा के तहत कदम तभी उठाए जाते हैं जब सामूहिक प्रयास में पर्याप्त शक्ति होती है। ऐसी स्थिति में Unipolarity को leader जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका को माना जाता है यदि वही आक्रामक हो जाए तो पर्याप्त शक्ति कहां से लाया जाय, क्योंकि मान्यता यह है कि विश्व एक ध्रुवीय है। जैसा कि माना जाता है

कि संयुक्त राज्य अमेरिका सर्वशक्तिशाली है। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा इराक पर हमले के मामले में रूस, चीन, फ्रांस ने केवल विरोध किया, सेना नहीं उतारी, क्योंकि इन देशों के पास संयुक्त राज्य अमेरिका की तुलना में पर्याप्त शक्ति नहीं है। स्वाभाविक रूप से संयुक्त राष्ट्र संगठन को असफल होना ही है।

गैर राज्यीय कर्त्ता:- वर्तमान विश्व में शक्ति का मामला अब केवल राज्य तक सीमित नहीं रह गया

है। गैर राज्य कर्त्ता जैसे आतंकवादी संगठन यदि किसी राज्य को अपना निशाना बनाता है। तो उसे कैसे रोका जाय? क्योंकि वर्तमान विश्व में राज्य प्रायोजित आतंकवादी क्रियाकलाप भी काफी बढ़े हैं। ऐसी स्थिति में सुरक्षा के प्रति चुनौतियों पहले की तुलना में काफी बढ़ गए हैं। आतंकवादी क्रियाकलाप चूंकि वैश्विक हो गई है। इसलिए तक चुनौतियों और बढ़ गई हैं। इसके आठ में संयुक्त राज्य अमेरिका ने अफगानिस्तान तथा इराक पर हमला किया। तो प्रश्न उठता है कि ऐसे हमले से क्या आतंकवाद समाप्त हो गया है या नहीं। ऐसी स्थिति में विश्व के सामने मौजूद परिस्थितियां इस वैश्विक आतंकवादी क्रियाकलापों के खिलाफ पहले की तुलना में और भी सामूहिक प्रयास की मांग करता है। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि प्रयास की सामूहिकता पर पहले की तुलना में और अधिक बल दिया जाए। कुल मिलाकर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि

1. सैद्धांतिक रूप से सामूहिक समस्या युद्ध को रोके और शांति स्थापित करने का साधन है। यह व्यवस्था सुरक्षा की समस्या को व्यक्तिगत समस्या नहीं बल्कि उसे सामूहिक समस्या मानते हुए सामूहिक प्रयास की बात करती है।
 2. यह बगैर अराजक राजव्यवस्था को बदले विश्व सरकार के लाभ दिलाने का प्रयत्न करती है - अर्थात् बिना किसी नियंत्रण वाली फ्रौजया संस्था के तहत मौजूदा राज्य की व्यवस्था को बदलने की बात नहीं करता बल्कि संयुक्त राष्ट्र के लाभ को उन्हें दिलाने की बात करती है। (संयुक्त राष्ट्र विश्व सरकार नहीं है।)
 3. लेकिन राज्य इस अराजक व्यवस्था में शक्ति संतुलन व अपने राष्ट्रीय हितों को अधिक वरीयता देते हैं। और इसलिए सामूहिक सुरक्षा की दृष्टि से सभी राज्यों का एकमत होना कठिन हो जाता है। क्योंकि सभी राज्यों के राष्ट्रीय हित अलग अलग हो जाते हैं। इस कारण वहां की स्थिति में गुटबाजी उत्पन्न हो जाती है। व्यवहार में ऐसा ही होता है।
 4. लेकिन फिर भी सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत की व्यावहारिक सफलताएं भी अनेक बार देखी गई हैं। कांगो, कंबोडिया, स्वेज संकट के समय।
 5. जिस प्रकार से आज सुरक्षा की समस्या वैश्विक आतंकवाद के कारण और अधिक जटिल हो रही है उसका समाधान किसी एक राज्य के स्तर पर नहीं निकाला जा सकता। इस दृष्टि से जो शक्ति संतुलन की संकल्पना है वह और अधिक प्रासंगिक हो जाती है। इस कारण इसे और अधिक प्रभावी बनाने की आवश्यकता है।
- अभ्यास प्रश्न: सामूहिक सुरक्षा की मूलभूत समस्याओं की चर्चा करो। -

उत्तर: -

आक्रमणकारी की पहचान करना अर्थात् किसी सशस्त्र संघर्ष में सभी राष्ट्र इस बात पर एकमत हो कि कौन आक्रमणकर्ता है। सभी की रजामंदी हो तभी कार्यवाही संभव होगी। सुरक्षा के प्रति समान दृष्टिकोण अर्थात् सभी राष्ट्र इस बात पर समान रुचि रखते हो कि आक्रमण को रोका जाए चाहे वह किसी भी स्रोत से संबंधित हो, जुड़ा हो। भले ही वह किसी का मित्र हो या किसी से उसका हित जुड़ा हो। अपनी संकीर्ण राष्ट्रहित को परे रखकर कदम उठाना होगा। जैसे अरब इजराइल युद्ध इसमें हमेशा संयुक्त राज्य अमेरिका का हित इजराइल के साथ रहा, USSR का अरब से साथ, ऐसा नहीं होना चाहिए।

सभी राष्ट्र आक्रमणकर्ता के विरुद्ध कार्यवाही में भाग लेने के लिए स्वतंत्र व सक्षम हो। अर्थात् सभी राष्ट्र को इस सामूहिक कार्यवाही में शामिल किया जाय जिसमें उसकी सहमति भी होनी चाहिए। सामूहिकता की कुल शक्ति इतनी पर्याप्त हो कि वो आक्रमण को परास्त कर सके। ऐसा न हो कि नेपाल, भूटान, बंगलादेश, श्रीलंका जैसे देश चल पड़े संयुक्त राज्य अमेरिका से लड़ने इस उद्देश्य को आकार देने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता होती है। जिसके कानूनी आधार, कुछ सिद्धांत हो और जिसके बातों को सभी सदस्य मानने को तत्पर रहते हों। जैसे -NATO इसलिए नहीं हो सकता है, क्योंकि यह क्षेत्रीय सैन्य संगठन तथा संकीर्ण हित से संबंधित है जबकि संयुक्त राष्ट्र व विश्व शांति की बात करता है, इसका दायरा बहुत ही विस्तृत है।

4.11 सारांश

इस अध्याय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सन्तुलन की अवधारणा का विस्तार से वर्णन किया गया है। शक्ति सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मौलिक सिद्धान्त कहा जाता है। इस अध्याय में सबसे पहले शक्ति सन्तुलन का अर्थ, इसके बाद ऐतिहासिक विकास का वर्णन किया गया है। इसी तरह इस अध्याय में नयी शक्तियों का उदय ओर बदला शक्ति सन्तुलन, शीत युद्ध के दौर में शक्ति सन्तुलन, शीत युद्ध का अंत और शक्ति सन्तुलन का अवमूल्यन, विचारधारा के रूप में शक्ति सन्तुलन, शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के साधन एवं शक्ति सन्तुलन का मूल्यांकन का वर्णन किया गया है। शक्ति सन्तुलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पिछले चार शताब्दियों से महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सारभूत सिद्धान्त है।

4.12 शब्दावली

शीत युद्ध-द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व दो गुटों में बटाँ था। दोनों के बीच वर्चस्व के लिए जो मानसिक युद्ध चल रहे थे उन्हें शीत युद्ध कहा गया।

विचारधारा-विचारों एवं विश्वासों का ऐसा समुच्चय जो अपने को अपने आप में पूर्ण मानती हो।

क्षतिपूर्ति-युद्ध के बाद शान्ति संधियों में इसी आधार पर राज्यों के क्षेत्रों का आदान-प्रदान होता है।

हस्तक्षेप-जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के आन्तरिक मामले में दखल देते हैं और प्रभावित करते हैं तो उसे हस्तक्षेप कहते हैं।

मध्यवर्ती राज्य-यह दो बड़े राज्यों के बीच में दुर्बल राज्य होता है जो बड़े राज्यों में युद्ध होने से रोकता है।

शस्त्रीकरण-राष्ट्र अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए शस्त्रों के भंडार को बढ़ाता है। इससे अन्य राष्ट्र भी शस्त्रों को बढ़ाने लगता है इसे शस्त्रीकरण कहते हैं।

मैत्री संधि -दो या दो से अधिक राष्ट्र आपस में समझौता करते हैं कि वे एक-दूसरे का सभी परिस्थितियों में साथ देंगे।

संयुक्त राज्य संघ- यह एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है जो दुनिया भर के देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून, सुरक्षा, मानवाधिकार आर्थिक, सामाजिक प्रगति के लिए कार्य करना मिलेनियम डवलेपमेंट) गोल) जैसे कठिन कार्यों के आसान प्रवर्तन कराने के लिए बनाया गया।

शीत युद्ध:- दो राज्यों के बीच गम्भीर तनाव की स्थिति जब युद्ध के सारे लक्षण मौजूद हो लेकिन वास्तव में युद्ध न हो रहा हो।

शक्ति संतुलन- शक्ति संतुलन का सिद्धांत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का वह सिद्धांत है जिसके अनुसार यूरोपीय महाद्वीप में यह माना जाता था कि वहाँ के राष्ट्रों के एक दूसरे गुट के बराबर रहनी चाहिए ताकि किसी एक गुट की शक्ति बहुत अधिक न बढ़ जाए।

4.12 अभ्यास प्रश्न

प्रश्न1 शक्ति संतुलन स्थापित करने के साधन का संक्षिप्त वर्णन करें?

उत्तर शक्ति सन्तुलन अन्तर्राष्ट्रीय संबंध का मौलिक सिद्धान्त है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के मुख्यतः छः साधनों का वर्णन किया गया है। ये साधन हैं पहला क्षतिपूर्ति, युद्ध के पश्चात् शान्ति संधियों में प्रदेशों का आदान-प्रदान और सीमाओं में परिवर्तन इसी आधार पर किया जाता है। दूसरा है हस्तक्षेप कभी-कभी शक्तिशाली राज्य सन्तुलन स्थापित करने की दृष्टि से अन्य राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करते हैं। ये हस्तक्षेप सन्तुलन को अपने तरफ करने के लिए किया जाता है। तीसरा मध्यवर्ती राज्य यह दो देशों के बीच सन्तुलन बनाए रखने में सहायक होता है। चौथा शस्त्रीकरण इसके द्वारा राष्ट्र अपने शक्ति को बढ़ाता है। पाँचवा विभाजन तथा शासन है। शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के लिए राष्ट्र विरोधी राष्ट्रों में फूट डालने का प्रयत्न करते हैं। छठाँ और अन्तिम साधन है मैत्री संधियाँ इसके द्वारा राष्ट्र अपना मित्र बढ़ा कर सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार शक्ति सन्तुलन बनाए रखा जाता है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनी रहे।

प्रश्न शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त का अर्थ स्पष्ट करें?

उत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सन्तुलन से अभिप्राय है कि विभिन्न राष्ट्रों के बीच कम से कम स्थूल सन्तुलन कायम रहे। स्वतन्त्रता शान्ति स्थिरता तथा सार्वजनिक सुरक्षा के लिए शक्ति

सन्तुलन आवश्यक है क्योंकि एक निश्चित सीमा के बाद एक राज्य की बढ़ती हुई शक्ति अन्य सभी राज्यों को प्रभावित करने लगती है। विदेश नीति की दृष्टि से राष्ट्र उसी समय शक्ति सन्तुलन की अवधारणा स्वीकार करते हैं जबकि वे अन्य राज्यों की तुलना में प्रबल हों। शक्ति सन्तुलन एक व्यवस्था के रूप में नीति-निर्माताओं के लिए मार्गदर्शक होता है। इसे शक्ति सन्तुलन राजनीति का यथार्थवादी सिद्धान्त कहा जाता है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि शक्ति सन्तुलन की उपेक्षा से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के तत्व की उपेक्षा प्रकट होती है। शक्ति सन्तुलन विशिष्ट स्थिति का द्योतक है जिसमें शक्ति संबंध लगभग बराबरी के आधार पर होता है। राज्यों में केवल इस बात की दिलचस्पी होती है कि शक्ति का पलड़ा अपने पक्ष में झुका हुआ हो तभी वह अपनी सुरक्षा के लिए निश्चित रहेगा। इस प्रकार शक्ति सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक स्थिति एक प्रक्रिया एक नीति और व्यवस्था के रूप में चित्रित किया जा सकता है।

4.14 संदर्भ ग्रन्थ

1. माँगोन्थाऊ, हैन्स (1960), पॉलिटिक्स एमंग नेशन, मैकमिलन-हिल ह्यूमेनिटीज।
2. कुमार, महेन्द्र (2013), अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक परिपेक्ष्य, शिवलाल अग्रवाल पब्लिकेशनस एण्ड कॉरपोरेशन।
3. पंत, पुष्पेश (2008), “21वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय संबंध”, टाटा मेकग्राहिल पब्लिकेशन कम्पनी लिमिटेड।
4. वाल्टज, केन्नेथ एन, ‘थ्योरी आफ इंटरनेशनल पोलिटिक्स, पबलिशर वेवल एंड पी आर आइ एन सी एडीशन (2010)
5. रॉचेस्टर, जेमारटीन ., फन्डामेंटल प्रिंसीपलस आफ इंटरनेशनल रिलेशन पब्लिशर रीड -).हॉउ यू वान्ट कॉम (2010)
6. ए अप्पारदोराय व एमएस.राजन., इंडियाज फॉरेन पॉलिसी एण्ड रिलेशंस, नई दिल्ली, 1985, पृ.374।

4.15 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. फाड़िया, बी.एल. (2008) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशनस, आगरा।
2. खन्ना, बी.एन. (2003) अन्तर्राष्ट्रीय संबंध, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा.लि.

4.16 निबंधात्मक प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सन्तुलन के महत्व को स्पष्ट करते हुए इसके प्राप्ति के साधनों का उल्लेख करें?

इकाई-5 : राष्ट्रीय हित

इकाई की संरचना

- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 उद्देश्य
- 5.3 राष्ट्रीय हित अभिप्राय
- 5.4 राष्ट्रीय हित की अवधारणा का विकास
- 5.5 राष्ट्रीय हित के प्रकार
 - 5.5.1 प्रथम कोटि के हित
 - 5.5.2 गौण हित
 - 5.5.3 स्थायी हित
 - 5.5.4 परिवर्तनशील हित
 - 5.5.5 सामान्य हित
 - 5.5.6 विशिष्ट हित
- 5.6 दीर्घ कालिक व तात्कालीक राष्ट्रीय हित
- 5.7 राष्ट्रीय हित के अभिवृद्धि के साधन
- 5.8 राष्ट्रीय हित के केन्द्रिय तत्व
- 5.9 विदेश नीति और राष्ट्रीय हित
- 5.10 राष्ट्रीय हित की अवधारणा: आलोचनात्मक मूल्यांकन
- 5.11 सारांश
- 5.12 शब्दावली
- 5.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 5.14 संदर्भ ग्रंथ
- 5.15 सहायक धूपयोगी पाठ्य सामग्री
- 5.16 निबंधात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की व्याख्या और समीक्षा करने में यथार्थवादी विचारक राष्ट्रीय हित की अवधारणा को सबसे महत्वपूर्ण मानते हैं। इस अवधारणा में कुछ अस्पष्टता अवश्य है फिर भी यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मूल मंत्र है। विदेश नीति के उद्देश्य के रूप में राष्ट्रीय हित राज्य के सभी निर्णयों का आधार होता है। इस सिलसिले में 19 वीं सदी में ब्रिटेन के प्रसिद्ध विदेशमंत्री “लार्ड पामर्स्टन” की एक उक्ति का बारम्बार उल्लेख होता है “किसी भी देश के शाश्वत शत्रु और शाश्वत मित्र नहीं होते सिर्फ राष्ट्र हित ही शाश्वत एवं चिर-स्थायी होते हैं।” अनेक विद्वानों का मानना है कि इस कथन का महत्व तब से अब तक बरकरार है। परन्तु समस्या तब उत्पन्न होती है जबकि राष्ट्रीय हित के सम्बंध में कुछ मूल अवधारणात्मक प्रश्न पूछे जाते हैं। उदाहरण के लिए क्या राष्ट्रीय हित की कोई सर्वमान्य परिभाषा हो सकती है। क्या समय और स्थान के साथ राष्ट्रीय हित परिवर्तित होते रहते हैं। क्या राष्ट्रीय हित सम्बद्ध देश के लोगों के वास्तविक हितों को सदा स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है या फिर राष्ट्रीय हित किसी देश के अभिजन वर्ग के मूल्यों की अभिव्यक्ति मात्र है। इस प्रकार और भी प्रश्न हो सकते हैं इतिहास का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि विभिन्न राजनेता ने राष्ट्रीय हित के नाम पर अपनी नीतियों का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया है उदाहरण के लिए नैपोलियन ने रूस के विरुद्ध युद्ध में यह दावा किया कि यह फ्रांस के राष्ट्रीय हित के लिए है। इसी प्रकार का दावा उन्होंने वाटरलू के अपने अन्तिम अभियान में किया था जहाँ उनकी पराजय हुई थी। इस प्रकार हिटलर ने जर्मनी के राष्ट्रीय हित की दुहाई देते हुए अपनी विस्तारवादी नीतियों और बहु-मोर्चा युद्ध को उचित ठहराया था। इस सिलसिले में ब्रिटिश विद्वान “नेबेल मैक्सवेल” की एक टिप्पणी भी काफी विचारोत्तेजक है उनके अनुसार “किसी भी राज्य में राष्ट्रीय हित को तय करने वाला तत्व सत्तारूढ़ शासक और श्रेष्ठ वर्ग होता है जो अपने वर्ग हित के अनुसार राष्ट्रीय हित की परिभाषा तय करता है।” इस सब के बावजूद इस बारे में व्यापक सहमति देखने को मिलती है कि देश की एकता अखंडता और भौगोलिक सीमाओं की रक्षा को प्राथमिक राष्ट्रीय हित माना जाता है।

“मौरगेन्थाऊ” ने अपनी पुस्तक “इन डिफेंस ऑफ नेशनल इन्ट्रेस्ट” में लिखा है कि “राष्ट्रीय हित को विदेश नीति की एक मात्र कसौटी समझा जाना चाहिए। मौरगेन्थाऊ की दृष्टि में राष्ट्रीय हित के लिए साधन और साध्य में कोई फर्क नहीं होता। मौरगेन्थाऊ ने राष्ट्रीय हित का वर्गीकरण स्थाई अनिवार्य और प्राथमिक और गौण में किया है।

5.2 उद्देश्य

राष्ट्रीय हित का प्रमुख उद्देश्य होता है की अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सभी राष्ट्र यह चाहते हैं कि वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी शाख प्रतिष्ठा वर्चस्व स्थापित करे अपने घरेलू नीतियों बरकस विदेश नीति को प्रबलता से महत्व दे आर्थिक लाभ सैन्य लाभ प्राप्त करने के लिए यदि संभव हो तो किसी

प्रकार के गठजोड़ का निर्माण करने अथवा महाशक्तियों के समूह से अलभ रहते हुए गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाएं उदाहरण स्वरूप भारत जब स्वतंत्र हुआ उस समय पूरा विश्व शीत युद्ध की दौर से गुजर रहा था। एक तरफ पूँजीवादी शक्तियों के रूप में अमरीका था वही दूसरी और साम्यवादी शक्ति के रूप में सोवियत रूस इसलिए भारत ने अपनी तात्कालिक राष्ट्रीय हित को देखते हुए गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाना जरूरी समझा। राष्ट्रीय हित का प्राथमिक उद्देश्य ही है देश की एकता अखंडता और भौगोलिक सीमाओं की रक्षा के साथ-साथ अपनी नीति को आगे बढ़ाना।

5.3 राष्ट्रीय हित: अभिप्राय

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने वाले सभी देश अपने कार्यों का संचालन जिस नीति और सिद्धान्त के आधार पर करते हैं उसे ‘‘राष्ट्रीय हित कहा जाता है। यह राष्ट्रीय हित किसी भी देश की विदेश नीति की आधारशिला होता है। दिसम्बर 1947 में जवाहरलाल नेहरू ने लोकसभा में भाषण देते हुए कहा था ‘‘किसी भी देश की विदेश नीति का आधार उसके राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा है। भारत की विदेश नीति का ध्येय इसके राष्ट्रीय हित की सुरक्षा है।’’

राष्ट्रीय हित एक बड़ा लचीला तथा व्यापक शब्द है। प्रत्येक देश का राष्ट्रीय हित उसकी आवश्यकताओं के अनुसार अलग-अलग प्रकार का होता है। यह भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों से निर्धारित होता है। प्रत्येक देश के आर्थिक तथा सैनिक तत्व उसकी प्राचीन परम्पराएं आचार विचार रीति रिवाज धार्मिक दार्शनिक सामाजिक विचारधाराएं और विश्वास राष्ट्रीय हित के निर्माण में भाग लेते हैं। इसके आधार पर प्रत्येक देश के व्यक्ति और शासक कुछ विशेष बातों को अपने राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आवश्यक और उपयोगी समझते हैं और इनके आधार पर अपनी विदेश नीति का निर्माण करते हैं।

राष्ट्रीय हित की अवधारणा बड़ी अस्पष्ट है अतः इसकी परिभाषा करना कठिन है। ‘‘रेमा आरों’’ Remy Aron के अनुसार राष्ट्रीय हित की अवधारणा इतनी अस्पष्ट है कि यह अर्थहीन ही है या इसे अधिक से अधिक एक दिखावे की धारणा कहा जा सकता है। ‘‘चार्ल्स लर्च’’ Charles Lerche तथा ‘‘अब्दुल सईद’’ Abdul A. Said के अनुसार ‘‘व्यापक दीर्घकालीन और सतत उद्देश्य जिसकी सिद्धि के लिए राज्य राष्ट्र और सरकार में सब अपने को प्रयत्न करता हुआ पाते हैं वे राष्ट्रीय हित हैं।’’ ‘‘वॉन डिक’’ Vernon Van Dyke के अनुसार राष्ट्रीय हित की परिभाषा एक-ऐसी चीज के रूप में की जा सकती है जिसकी रक्षा या उपलब्धि राज्य एक-दूसरे मुकाबले में करना चाहते हैं। राष्ट्रीय हित प्रभुत्व सम्पन्न राज्य की अभिलाषाएं हैं जिसे वह अन्य राष्ट्रों के सन्दर्भ में प्राप्त करना चाहते हैं। अन्य राज्यों के मुकाबले में एक राज्य जो अभिलाषाएं रखता है वे मॉटे तौर से विदेश नीति के ध्येय होते हैं और ध्येयों को ही राष्ट्रीय हित के नाम से पुकारा जाता है। विदेश नीति के इन ध्येयों को लक्ष्य और उद्देश्य भी कहा जाता है। विदेश नीति का लक्ष्य दीर्घकालिक हित है जबकि उद्देश्य केवल तात्कालिक अल्पकालीन होते हैं।

यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि क्या राष्ट्रीय हित विदेश नीति का उद्देश्य है अथवा मूल्य जो विचारक राष्ट्रीय हित को उद्देश्य मानते हैं उनके अनुसार यह स्थायी अपरिवर्तित तथा शक्ति से जुड़ी हुई अवधारणा है। जो विचारक इसे मूल्यपरक अवधारणा मानते हैं उनके अनुसार यह शक्ति के अतिरिक्त मूल्यों से जुड़ी हुई अवधारणा है। “पैडलफोर्ड” और “लिंगन” Paddleford and Lincoln के अनुसार “राष्ट्रीय हित की अवधारणा समाज के मूलभूत मूल्यों से जुड़ी हुई है ये मूल्य हैं राष्ट्र का कल्याण अनेक राजनीतिक विश्वासों का संरक्षण राष्ट्रीय जीवन पद्धति क्षेत्रीय अखण्डता तथा सीमाओं की सुरक्षा।

कभी-कभी राष्ट्रीय हित शब्द का प्रयोग लक्ष्यों के विश्लेषण के लिए भी किया जाता है। फलतः इसके अर्थ में अस्पष्टता का बोध होता है।

“पॉल सीबरी”(Paul Seabury) ने इस अस्पष्टता को व्यक्त करते हुए बताया है कि “राष्ट्रीय हित” शब्दावली का प्रयोग कम से कम तीन अर्थों में होता है: “प्रथम” राष्ट्रीय हित के विचार में भविष्य में प्राप्त होने वाले ऐसे आदर्श लक्ष्य सन्निहित हैं जिन्हें कोई राष्ट्र आपनी विदेश नीति के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है। इसे राष्ट्रहित की आदर्शपरक नागरिक धारणा Idealistic-Civic Notion के नाम से पुकारा जाता है। “द्वितीय” राष्ट्रीय हित का अन्य महत्वपूर्ण अर्थ वर्णनात्मक Descriptive or Realist Notion है। इस अर्थ में राष्ट्रीय हित का अर्थ उन लक्ष्यों से है जिन्हें कोई भी राष्ट्र निरन्तर अपने नेतृत्व के माध्यम से प्राप्त करने का प्रयास करता है। इस अर्थ में राष्ट्रीय हित कोई अध्यात्मिक वस्तु नहीं है परन्तु यथार्थपरक है। “तृतीय” इस अर्थ में राष्ट्रीय हित से अभिप्राय उन लक्ष्यों से है जिन्हें किसी राष्ट्र के कर्णधार स्वीकार करते हैं। Accepted by Decision-Makers। “जोसेफ फ्रेकेल” (Joseph Frankel) ने अपनी पुस्तक “नेशनल इण्टरेस्ट” में राष्ट्रीय हित की व्याख्या राष्ट्र की आकांक्षाओं विदेश नीति के क्रियात्मक व्याख्यात्मक तथा विवादों का निरूपण करने वाले तत्व के रूप में की है।”

5.4 राष्ट्रीय हित की अवधारणा का विकास

विदेश नीति का लक्ष्य राष्ट्रहितों की प्राप्ति अथवा उनकी रक्षा करना है। “लार्ड पामर्स्टन”(Lord Palmerston) ने वर्षों पूर्व कहा था कि “हमारे कोई शाश्वत मित्र नहीं है और ना ही हमारे कोई सदा बने रहने वाले शत्रु। केवल हमारे हित ही शाश्वत हैं और उन हितों का अनुसरण संवर्द्धन हमारा कर्तव्य है।

प्राचीन एवं मध्य युगों में राज्यों के हित अधिपतियों के हित से भिन्न नहीं माने जाते थे। राजा अपने व्यक्तिगत गौरव के लिए युद्ध करता था, अश्वमेध या राजसूय यज्ञ करके चक्रवर्ती बनता था राजा के गौरव में प्राजा भी गौरवान्वित होती थी। राजा पेशेवर सैनिक लेकर दिग्विजय करने निकलता था। वापस लौटने पर लूट का कुछ माल प्रजाजनों में भी वितरित कर देता था। अतः वह राजनीति सहज थी विदेश नीति मात्र युद्ध करने अथवा नहीं करने की नीति तक सीमित रहती थी।

राष्ट्र राज्यों के उदय के साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इतनी सहज नहीं रह गयी। औद्योगिक क्रान्ति व्यापारिक उन्मेष वैज्ञानिक दृष्टि यातायात तथा संचार के साधनों का प्रचार इन सबके फलस्वरूप राजनीति केवल राजाओं, राजकुमारों, सामन्तों, सेनापतियों का ही खेल नहीं रह गयी। आधुनिक राष्ट्र राज्यों का सर्वप्रथम युरोप में उदय हुआ। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय संबंध के स्वरूप में परिवर्तन हुआ। तदनुसार राज्यों की विदेश नीति भी नए अयाम लेकर रूपायित हुई। अधिपतियों के व्यक्तिगत हितों के स्थान पर राज्यों के हित का महत्व बढ़ा। स्पेनी उत्तराधिकार अथवा आस्ट्रियाई उत्तराधिकार के युद्ध मात्र किन्हीं राजवंशों राजकुमारों अथवा राजाओं के हित-अहित के लिए नहीं लड़े गए थे। उनके मूल में प्रकट-अप्रकट कई राष्ट्रों के हित-अहित सन्निहित थे।

5.5 राष्ट्रीय हित के प्रकार

“थॉमस राबिन्सन”(Thomas W. Robinson) ने राष्ट्रीय हित के विभिन्न प्रकारों को छः वर्गों में बाँटा है ये हैं।

5.5.1 प्रथम कोटि के हित (Primary/Survival Interests)

ये वे हित हैं जो किसी राज्य के लिए सर्वाधिक महत्व रखते हैं और जिनकी रक्षा के लिए राज्य बड़े से बड़ा बलिदान और त्याग करने के लिए सदा तैयार रहते हैं। इस प्रकार का सबसे बड़ा हित राष्ट्र की सुरक्षा है।

5.5.2 गौण हित. (Secondary Interests)

ये वे हित हैं जो प्राथमिक हितों से कम महत्व रखते हैं किन्तु फिर भी राज्य की सत्ता बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं। इस वर्ग के हितों के उदाहरण हैं विदेशों में अपने नागरिकों की सुरक्षा के तथा इस बात को सुनिश्चित बनाना कि विदेशों में अपने देश के राजदूतों की राजनयिक उन्मुक्तियों की तथा नागरिकों की रक्षा की जाए।

5.5.3 स्थायी हित (Permanent Interests)

ये राज्य के लगभग सदैव बने रहने वाले दीर्घकालीन लक्ष्य एवं प्रयोजन होते हैं। इनका एक सुन्दर उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन द्वारा अपने उपनिवेशों तथा विदेशी व्यापार की रक्षा के लिए महासमुद्रों में नौचालन की स्वतंत्रता को बनाए रखना है। भारत का इस प्रकार का प्रयोजन देश का शान्तिपूर्ण आर्थिक विकास करना है।

5.5.4 परिवर्तनशील हित (Variable Interests)

ये राष्ट्र के ऐसे हित हैं जिन्हें कोई राष्ट्र किसी विशेष परिस्थिति में राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक समझता है। ऐसे हित प्रथम एवं द्वितीय कोटि से प्रायः भिन्न होते हैं। ये लोकमत तथा विभिन्न व्यक्तियों के विचारों से प्रभावित होते हैं।

5.5.5 सामान्य हित (General Interests)

सामान्य हित वे परिस्थितियां होती हैं जो उस देश को सामान्य रूप से अथवा आर्थिक व्यापारिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में लाभ पहुंचाने वाली होती हैं ग्रेट ब्रिटेन के लिए यूरोप में शक्ति सन्तुलन बनाए रखना इसी प्रकार का सामान्य हित था।

5.5.6 विशिष्ट हित (Specific Interests)

ये सामान्य हितों से उत्पन्न होते हैं और उनके साथ गहरा सम्बन्ध रखते हैं। जैसे यूरोप में शक्ति सन्तुलन को बनाए रखना ब्रिटेन का सामान्य हित था, किन्तु इस हित को बनाए रखने के लिए यह भी आवश्यक था कि ब्रिटिश द्वीप समूहों के सामने इंग्लिश चैनल के उस पार बेल्जियम और हाँलेण्ड के प्रदेशों में यूरोप की किसी महाशक्ति का अधिकार न हो। यदि नेपोलियन और हिटलर जैसा कोई सेनापति इस प्रदेश पर अधिकार कर ले तो वह यहां से इंग्लैण्ड पर हमला करने की ओर उसे जीतने की योजना बना सकता था। दोनों ने ही ऐसा प्रयास किया था। अतः ब्रिटेन का सदैव यह प्रयत्न रहता है कि बेल्जियम सदैव तटस्थ बना रहे और इस पर यूरोप के किसी महाशक्ति का प्रभुत्व स्थापित न हो। इस कारण यह ब्रिटेन का विशिष्ट हित था।

रॉबिन्सन ने उपर्युक्त छः प्रकार के हितों के अतिरिक्त तीन प्रकार के अन्य अन्तर्राष्ट्रीय हितों का भी वर्णन किया है। इसमें “पहला समान हित (Identical Interests)” “प्रामाणित हित” है। इनका आशय ऐसे हितों से है जो दो या दो से अधिक राज्यों के लिए तुल्य रूप से लाभदायक और उपयोगी हो। जैसे अमरीका और ब्रिटेन दोनों ही यह चाह रहे थे कि यूरोप पर सोवियत संघ या किसी एक महाशक्ति का अधिपत्य न हो। “दूसरे प्रकार के हित पूरक हित” (Complementary Interests) है। ये हित समान न होते हुए भी दो देशों में कुछ विशेष प्रश्नों पर समझौतों का आधार बन सकते हैं जैसे ब्रिटेन और पुर्तगाल के हित। ब्रिटेन को पुर्तगाल के साथ मैत्री बनाए रखने में और उसे स्वतंत्र बनाए रखने में यह लाभ था कि इसके द्वारा वह स्पेन की शक्ति पर नियंत्रण रख सकता था और अन्धमहासागर में अपनी शक्ति का पूरा विस्तार कर सकता था। इसी प्रकार पुर्तगाल को भी ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध बनाए रखने और उसकी समुद्री प्रभुता को सुस्थिर बनाने में यह बड़ा लाभ था कि वह स्पेन के सम्भावित प्रभुत्व से सुरक्षा प्राप्त कर सकता था। “तीसरे प्रकार के हित परस्पर विरोधी हित (Antagonistic or Conflicting Interests) हैं।” ये प्रायः दो देशों में संघर्ष का कारण बनते हैं। जम्मू-कश्मीर का भारत में वैध रूप से विलय हो जाने से यह भारत का अंग है पाकिस्तान इसे अपने राज्य का अंग बनाना चाहता है। इसके लिए वह तीन बार भारत से विफल सैनिक संघर्ष भी कर चुका है। यह दोनों का परस्पर विरोधी हित है।

5.6 दीर्घ कालिक व तात्कालीन राष्ट्रीय हित

वस्तुतः राष्ट्रीय हित दो प्रकार के हैं-मार्मिक (Vital or Long-term National Interests) और अमार्मिक (Non-Vital or Short-term National Interests) हित अथवा दीर्घकालीन एवं

तात्कालीन राष्ट्रीय हित। मार्मिक या दीर्घकालीन राष्ट्रीय हित किसी राष्ट्र के मूलभूत और अत्यन्त महत्वपूर्ण हित है। ये किसी राज्य के वे हित हैं जिन पर राज्य कोई भी रियायत करने को तैयार न हो और जिनकी रक्षा के लिए वह जरूरत पड़ने पर युद्ध करने को भी तैयार हो सकता है किसी देश का मार्मिक हित इतना बुनियादी समझा जाता है कि राष्ट्रीय हित के अन्य सब पहलू इसके सामने गौण समझे जाते हैं। इसमें राष्ट्रीय सुरक्षा स्वाधीनता और अखण्डता की रक्षा आदि प्रमुख हैं। राज्य का मूलभूत उद्देश्य बाहरी शत्रुओं से सुरक्षा प्रदान करना तथा आन्तरिक क्षेत्र में सुव्यवस्था स्थापित रखना माने गए हैं। राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में विदेश नीति निर्धारक पारस्परिक सुरक्षा सन्धियों में सम्मिलित होते हैं सम्भावित शत्रु देश के विरुद्ध सन्धि व्यवस्था गठित करते हैं उनकी कूटनीतिक घेराबन्दी करने के प्रयत्न करते हैं तथा अनेक देशों के साथ आर्थिक सांस्कृतिक व्यापारिक संबंध जोड़कर या सुदृढ़ करके उन्हें प्रभाव क्षेत्र में लाने एवं बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। प्रथम विश्व युद्ध काल तक गुप्त सुरक्षा सन्धियों की व्यवस्था राष्ट्रीय सुरक्षा की सर्वप्रमुख तथा मान्य उपकरण थी। ये सन्धियाँ कितनी गुप्त रखी जाती थी इसका अनुमान इसी से क्या जा सकता है कि दो दलीय सन्धि त्रिदलीय सन्धि का पता सम्बद्ध देशों के कतिपय सर्वोच्च नीति निर्धारकों के अतिरिक्त अन्य किसी को भी नहीं रहता था। याल्टा शिखर सम्मेलन के कई निर्णय राष्ट्रपति ट्रूमैन को पद ग्रहण के उपरान्त ही मालूम हुए। राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त अमेरिका ने नाटो सेण्टो, सीटो, रायो सन्धि संगठन की स्थापना की। भारत ने गुरनिरपेक्ष होते हुए भी सोवियत संघ के साथ बीस वर्ष की (1971) मैत्री सन्धि की थी।

जो हित मार्मिक नहीं होते वे तात्कालिक महत्व के गौण हित होते हैं और जिनके लिए कोई राज्य युद्ध का खतरा मोल लेना नहीं चाहता उन्हें अमार्मिक एवं अस्थायी स्वरूप के राष्ट्रीय हित कहते हैं ऐसे गौण हित जनता का भौतिक कल्याण प्रतिष्ठा की रक्षा विचारधारा का प्रसार व्यापार की वृद्धि संस्कृति का प्रसार आदि हैं।

5.7 राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्यों के राष्ट्रीय हितों में विरोध और संघर्ष पाया जाता है। भारत और चीन भारत और पाकिस्तान, भारत और अमेरिका के राष्ट्रीय हित कई बार एक दूसरे के प्रतिकूल देखे गए हैं। इन देशों के विदेश नीति का उद्देश्य अपने विदेशी संबंधों का इस ढंग से संचालन करना है जिससे राष्ट्रीय हित की सिद्धि यथासम्भव अधिक से अधिक अनुकूल रूप में होने की गारण्टी रहे।

राष्ट्रीय हितों के सिद्धि के लिए राज्य अनेक प्रकार के साधन अपनाते हैं। “कौटिल्य” ने लिखा है “दुर्बल राजाओं को समझा बुझाकर तथा यदि आवश्यक हो तो कुछ देकर अपने अनुकूल बना लेना चाहिए किन्तु जो राजा सबल हो उसको भेद और दण्ड द्वारा वश में करना चाहिए।

पामर और पर्किन्स (Palmer and Perkins) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन निम्नलिखित हैं:

- (1) कूटनीति (Diplomacy)
- (2) प्रचार और राजनीतिक युद्ध (Propaganda and Political Warfare)
- (3) आर्थिक साधन (Economic Means)
- (4) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद (Imperialism and Colonialism)
- (5) युद्ध (War)

5.8 राष्ट्रीय हित के केन्द्रिय तत्व

राष्ट्रीय हित कई कारकों के प्रभाव से बदलता रहता है कभी-कभी नेतृत्व वर्ग जनता के मूल्यों में परिवर्तन होने से मार्मिक राष्ट्रीय हित की अवधारणा बदल जाती है। उदाहरणार्थ चीन के जन्मदाता डा. सुन यत-सेन (Sun Yat-sen) की यह मान्यता थी कि चीन का हित सोवित संघ के साथ मैत्री संबंध स्थापित करने में है। परन्तु उनके उत्तराधिकारी चयांग काई शेक (Chiang Kai-shek) की मान्यता इसके ठीक विपरीत थी। ट्रूमैन और आइजनहावर (Truman and Eisenhower) साम्यवादी चीन के अवरोध की नीति अपनाने में ही अमरीका की सुरक्षा समझते थे जबकि निकसन और किसिंगर (Nixon and Kissinger) चीन के साथ देतान्त के मधुर सम्बन्धों की स्थापना में अमरीकी हितों की अभिवृद्धि समझने लगे। राष्ट्रपति बिल क्लंटन रूस में आर्थिक सुधारों की सफलता में ही अमरीकी लोकतंत्र की स्थिरता मानते थे और इसीलिए उन्होंने रूस को 1.60 बिलियन डॉलर का ऋण देना स्वीकार किया।

विस्तार में राष्ट्रीय हितों में भिन्नता पायी जाती हो परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से सभी देशों के लिए राष्ट्रीय हित के मूल तत्व एक जैसे हैं। सभी देश सुरक्षा चाहते हैं राजनीतिक स्वाधीनता और क्षेत्रीय अखण्डता बनाए रखना चाहते हैं। सुरक्षा के बाद सभी देश अपने लिए व्यापारिक सुविधाएं चाहते हैं। सुरक्षा आर्थिक समृद्धि राष्ट्रीय हित के हृदय है। इनके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सफलता भी राष्ट्रीय हित हो सकते हैं।

5.9 विदेश नीति और राष्ट्रीय हित

राष्ट्रीय हित की अवधारणा विदेश नीति का मूलभूत सिद्धान्त है। विदेश नीति निर्माण का प्रारम्भिक बिन्दु राष्ट्रीय हित है। जब तक दुनिया राजनीति दृष्टि से राज्यों में विभाजित रहेगी तब तब विश्व राजनीति में राष्ट्रीय हित मार्मिक विषय रहेगा। वास्तविक रूप से तो राष्ट्रीय हित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की कुंजी है। चाहे किसी राष्ट्र के कितने ही ऊँचे आदर्श हो और कितनी ही उदार अभिलाषाएं हों वह अपनी विदेश नीति को राष्ट्रीय हित के अतिरिक्त किसी अन्य धारणा पर आधारित नहीं कर सकता। यद्यपि विल्सन जैसे आदर्शवादियों की मान्यता है कि विदेश नीति का राष्ट्रीय हित की धारणा के आधार पर निर्मित होना एक खतरनाक प्रवृत्ति है। विदेश नीति के क्षेत्र में नैतिकता और उपयोगिता ही हमारा मार्गदर्शन होना चाहिए। हमारे अपने कोई निहित स्वार्थ नहीं होने

चाहिए। इसके विपरीत मॉरगेन्थाऊ (Hans Morgenthau) और आर्नोल्ड वूल्फर्स (Arnold Wolfers) जैसे यथार्थवादियों की मान्यता है कि राष्ट्रीय हित ही विदेश नीति की आत्मा है। यह विदेश नीति का सार है, यही उसकी प्रेरणा और आधारशिला है। राष्ट्रीय हित विदेश नीति की कुण्डली है तथा सर्वश्रेष्ठ तत्वों का निचोड़ है। मॉरगेन्थाऊ के शब्दों में, “विदेश नीति के ध्येयों की परिभाषा राष्ट्रीय हित के अर्थ में अवश्य करनी होगी तथा इसका यथेष्ट शक्ति द्वारा अवश्य पोषण करना होगा।”

विदेश नीति का संचालन राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से किया जाता है। सिद्धान्तवाद की दुहाई दी जाती है लेकिन व्यवहार में किया वही जाता है जो आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार राष्ट्रीय हितों के अनुकूल हो। निष्पक्ष रूप में देखा जाए तो राष्ट्रीय हितों के अनुकूल वैदेशिक नीति का संचालन प्राचीनकाल से ही किया जाता रहा है और राष्ट्र अधिकांशतः अपने हितों की कीमत पर सिद्धान्तों की रक्षा में अडिग नहीं रहे हैं। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण आज के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति क्षितिज में आन्तरिक विरोधाभासों के फलस्वरूप अपना प्रभाव खोता जा रहा है और वह राज्य की नीतियों के उद्देश्यों और लक्ष्यों की निरन्तरताओं का वर्णन करने में असफल रहा है। यदि हम ध्यान से देखें तो पाएंगे कि विभिन्न सत्ताधारी दलों और अपने-अपने निजी अथवा सार्वजनिक दर्शनों के बावजूद ब्रिटिश, अमेरिकन, फ्रेंच और रूसी विदेश नीति में अनेक ऐसी एकताएँ विद्यमान हैं जो व्यक्तिगत विश्वासों अथवा सिद्धान्त का अतिक्रमण करती हैं। युद्धोत्तर काल के प्रारम्भ में इंग्लैण्ड की श्रमिक सरकार ने देश के सारभूत रूप में उन्हीं हितों के संरक्षण की नीति अपनायी जिनकी सुरक्षा को टोरियों और हिगो ने शताब्दियों से आवश्यक माना था। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका में डलेस और आइजनहावर की विदेश नीति ने देश के उन्हीं केन्द्रीय लक्ष्यों पर ध्यान दिया जिन पर रूजवेल्ट और ट्रूमैन प्रशासन ने ध्यान दिया। अमेरिकी व्यावसायिक और आर्थिक हितों की रक्षा के लिए निक्सन-किसिंगर ने चीन से दोस्ती का हाथ बढ़ाया। कहने का तात्पर्य है कि चाहे प्रविधियाँ उपाया और साधन बदल जाएं लेकिन एक देश के हित और उद्देश्य सापेक्षिक रूप में निरन्तर बने रहते हैं।

और इसलिए विदेश नीति राष्ट्रीय हितों के अनुकूल ही संचालित की जाती है, उसमें लचीलापन रहता है सिद्धान्तों का अडियलपन नहीं। जो राजमर्मज्ञ विदेश नीति का निर्माण करते हैं उन्हें राष्ट्रीय हित का सर्वोपरि ध्यान रखना पड़ता है और इसलिए अपने विश्वासों, सिद्धान्तों, आदि पर उन्हें अंकुश लगाना पड़ता है। यदि राष्ट्र की स्वतन्त्रता की रक्षा की जानी है तो उसकी भौगोलिक स्थिति, उसकी अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका, उसके हितों, आदि का पूरा ध्यान रखना होगा और अपने सामाजिक, धार्मिक, दर्शन एवं सैद्धान्तिक विचारों को गौण मानना पड़ेगा। समय और परिस्थिति के अनुसार राष्ट्रीय हित की जो मांग है उसी के अनुरूप विदेश नीति का संचालन किया जाना होता है। इसमें भी हितों का क्रम अथवा पदसोपान बैठाना होता है। प्राथमिक हितों की रक्षा पहले की जाती है और गौण हितों की बाद में। कुछ ऐसे हित होते हैं जिनकी रक्षा हर कीमत पर रनी होती है और कुछ ऐसे हित होते हैं। दूसरे हित ऐसे हित होते हैं जिनकी रक्षा कुछ विशेष परिस्थितियों में अन्तर्गत करनी

होती है जिनकी रक्षा यद्यपि वांछनीय है तथापि उनकी लगभग कभी भी रक्षा नहीं की जाती। यह विदेश नीति का कार्य है कि वह हितों के इस पदसोपान का उपयुक्त निर्धारण करे और दूसरे राष्ट्रों की विदेश नीति का मूल्यांकन करते हुए अपना मार्ग निश्चित करे। सैनिक विज्ञान और तकनीक में प्रगति, आर्थिक समृद्धि अथवा देश के विघटन आदि विभिन्न तत्वों के फलस्वरूप राष्ट्रीय हितों में सामयिक परिवर्तन आते रहते हैं और तदनु रूप विदेश नीति में बदलाव आता रहता है।

यह सच है कि प्रत्येक राज्य के राष्ट्रीय हित उसकी परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के आधार पर बदलते रहते हैं, पर कम से कम तीन बातें ऐसी हैं जिन्हें प्रत्येक राज्य को अपनी विदेश नीति में आवश्यक रूप से स्थान देना चाहिए। वे हैं-

(1) आत्मरक्षा ; Self-Preservation

(2) सुरक्षा ; Security

(3) लोक कल्याण Welfare of the nation

आत्मरक्षा का अर्थ है प्रत्येक राष्ट्र को अपनी प्रभुसत्ता तथा राष्ट्रीय अखण्डता को बनाए रखना चाहिए। सुरक्षा से अभिप्राय है राज्य की बाहरी आक्रमण में रक्षा करना तथा लोक कल्याण से तात्पर्य है कि राज्य को अपने नागरिकों के सुख एवं समृद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

संक्षेप में, राष्ट्र हितों को ध्यान में रखकर की राष्ट्र अपने लक्ष्यों को निर्धारित करते हैं तथा विदेश नीति इन लक्ष्यों को प्राप्त करने का केवल साधन होती है।

5.10 राष्ट्रीय हित की अवधारणा: आलोचनात्मक मूल्यांकन

(Concept Of National Interest: Critical Appraisal)

आदर्शवादियों की मान्यता है कि 'राष्ट्रीय हितों का सम्प्रत्यय एक खतरनाक धारणा है। यदि एक राष्ट्र अपने निजी स्वार्थों या हितों को ही प्राथमिकता देता है तो अन्य राष्ट्रों के हितों की उपेक्षा होती है। आज दुनिया के राज्य एक-दूसरे पर अन्तः-निर्भर हैं और यदि अपने हितों को सर्वोच्चता प्रदान करते हैं तो विश्वशान्ति, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग आदि सम्प्रत्यय कोरी कल्पना बनकर ही रह जाएगी।

प्रो. रेनोल्ड्स राष्ट्रीय हित दृष्टिकोण के कट्टर आलोचक हैं। वे कहते हैं कि किसी देश की विदेश नीति उस दशा में एकमात्र राष्ट्रीय हित पर आधारित होना सम्भव है जब विभिन्न देशों के हित एक जैसे हों, किन्तु ये एक जैसे नहीं हैं। यदि प्रत्येक देश अपने-अपने हितों को ही सर्वोपरि समझते हुए विदेश नीति का संचालन करे तो उसमें सदैव संघर्ष बना रहना चाहिए, किन्तु वास्तव में ऐसी स्थिति नहीं है। अतः विदेश नीति केवल राष्ट्रीय हित पर आधारित नहीं है यह एक भ्रान्ति है, जिसे राजनीतिज्ञ अपने वैयक्तिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए उत्पन्न करते हैं। ये नेता जब आन्तरिक असन्तोष, कुशासन तथा आर्थिक कठिनाइयों के कारण जनता को क्षुब्ध तथा रूष्ट देखते हैं तो उन्हें यह आशंका होती है कि जनता इस दुरावस्था के लिए उन्हें उत्तरदायी समझेगी और उनकी विरोधी बन जाएगी उन्हें वोट नहीं

देगी। वे आपसी स्थिति सृष्टि बनाने के लिए और जनता को बहकाने के लिए उसका ध्यान विरोधी देशों की ओर मोड़ देते हैं। उदाहरणार्थ, इण्डोनेशिया में जब आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से जनता परेशान हुई तो राष्ट्रपति सुकर्णो Sukarno ने उसका ध्यान बांटने के लिए मलेशिया से टकाराव की नीति Confrontation Policy को अपनाया, राष्ट्रीय हित एवं सम्मान की रक्षा के लिए इस नीति का समर्थन किया।

प्रो. रेनाल्ड्स ने राष्ट्रीय हित के विचार की इसलिए भी आलोचना की है कि इसमें प्रायः व्यक्ति के हितों की उपेक्षा की जाती है और राष्ट्रीय हित की मर्यादाओं और सीमाओं को भुला दिया जाता है। मॉरगेन्थाऊ ने राष्ट्रीय हित की मर्यादाओं की विवेचना करते हुए कहा है कि कई बार अधोराष्ट्रीय (Subnational) इतर्राष्ट्रीय (Othernational) और अधिराष्ट्रीय (Supranational) हित राष्ट्रीय हितों पर हावी हो जाते हैं और इन पर अनेक प्रतिबन्ध लगाते हैं। अधोराष्ट्रीय हितों से अभिप्राय किसी देश के अल्पसंख्यक, आर्थिक और ऐसे जातीय समूह (ethnical groups) है जो अपने विशिष्ट वर्ग के हितों को राष्ट्रीय हितों का रूप प्रदान करते हैं। किसी देश में यदि पूंजीपति वर्ग प्रभावशाली है तो वह अपने धन के बल पर अपने वर्ग को विशेष लाभ पहुंचाने वाली नीतियों को राष्ट्रीय नीति का रूप प्रदान कर सकता है। अधिराष्ट्रीय हितों का अभिप्राय यह है कि कई बार किसी देश का अल्पसंख्यक वर्ग किसी अन्य देश की सरकार से अपने को अभिन्न समझने लगता है और उसके हितों को अपना राष्ट्रीय हित मानने लगता है। वार्सा की सन्धि के बाद यूरोप में जो नए राज्य बनाए गए थे उनमें से कई राज्यों में जर्मन अल्पसंख्यक वर्ग थे। चेकोस्लोवाकिया में इन जर्मन लोगों को स्यूडेटन Sudeten Germans कहा जाता था। हिटलर का उत्कर्ष होने पर ये जर्मन विचारधारा के समर्थक बने और अपने देश की नीति तथा राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल जर्मनी के साथ मिलने पर बल देने लगे। किसी देश के अधिराष्ट्रीय हितों का अभिप्राय धार्मिक संस्थाओं और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के हित से होता है। मध्ययुग के यूरोप में चर्च का संगठन बड़ा प्रभावशाली था। संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके अनेक अभिकरण राष्ट्रों से ऊंचे हैं। वे उन पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि भी राष्ट्रीय हितों को अनेक अंशों में मर्यादित करती है।

राष्ट्रीय हित को अपनी विदेश नीति का आधार बनाते हुए भी प्रत्येक देश को आजकल इस बात पर भी ध्यान देना पड़ता है कि वह दूसरे देशों के हितों को कोई बड़ी हानि पहुंचाने वाला कार्य न करे। आणविक युग में यह और भी अधिक आवश्यक हो गया है। क्योंकि इस समय कोई देश अपने शत्रु को अपितु अन्य देशों को हानि पहुंचा सकता है। अतः अपने-अपने राष्ट्रों को हित के साथ दूसरे राष्ट्र के हितों को भी देखना आवश्यक हो जाता है। इस समय प्रत्येक न केवल अपने हितों पर अपितु अन्य राज्यों द्वारा किए जाने वाले कार्यों पर भी कड़ी दृष्टि रखता है। इस कारण प्रत्येक राष्ट्र को अपनी विदेश नीति का निर्धारण करते हुए अनेक नैतिक कानूनी तथा परम्परागत नियमों का पालन करना पड़ता है। वे राष्ट्रीय हित पर प्रतिबन्ध का कार्य करते हैं।

5.11 सारांश

समग्र रूप से इस अध्याय में अन्तराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हित के महत्व का वर्णन किया गया है। राष्ट्रीय हित की अवधारणा विदेश नीति का मूल सिद्धान्त है। विदेश नीति निर्माण का प्रारम्भिक बिन्दु राष्ट्रीय हित है। इस इकाई में राष्ट्रीय हित को मुख्य रूप से छः भागों में विभक्त किया गया है। इसमें सबसे पहले राष्ट्रीय हित से अभिप्राय का वर्णन किया गया है जिसमें राष्ट्रीय हित क्या है, राष्ट्रीय हित के निर्माण में कौन-कौन सा तत्व शामिल होते हैं का वर्णन किया गया है। इसके बाद राष्ट्रीय हित के ऐतिहासिक विकास, राष्ट्रीय हित के प्रकार दीर्घकालिक एवं तात्कालिक राष्ट्रीय हित, राष्ट्रीय हित के अभिवृद्धि के साधन, राष्ट्रीय हित के केन्द्रिय तत्व का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। समग्र रूप से विदेश नीति के एक तत्व के रूप में राष्ट्र हित को परिभाषित करना हालांकि हमेशा चुनौतिपूर्ण रहा है बावजूद इसके इसकी प्रासंगिकता अन्तराष्ट्रीय राजनीति में हमेशा देखी जा सकती है।

5.12 शब्दावली

राष्ट्रीय हित- विदेश नीति के निर्धारण में राष्ट्रीय हित ही कूटनीति का आधार होता है।

प्रथम कोटि के हित- प्रथम कोटि हित से अभिप्राय ऐसे हित जिसके लिए राष्ट्र आत्मवलिदान करने को तैयार रहता है।

गौण हित- गौण हित उसे कहते हैं जो प्राथमिक हित से कम महत्व के होते हैं।

स्थायी हित- यह स्थायी होता है राज्य की सत्ता बदलने के बाद भी इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

परिवर्तनशील हित- यह समय और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहता है।

सामान्य हित- यह आर्थिक व्यापारिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में लाभ पहुंचाने वाले हित होते हैं।

विशिष्ट हित- विशिष्ट परिस्थिति में सामान्य हित से उत्पन्न होते हैं।

पूरक हित- दो देशों के बीच कुछ विशेष प्रश्नों के समझौते से उत्पन्न होता है।

दीर्घकालिक हित- यह राष्ट्र का प्रमुख हित होता है जिस पर वह कोई समझौता नहीं करता है।

तात्कालिक हित- यह हित तात्कालिक जरूरतों के हिसाब से निर्धारित किया जाता है।

कूटनीति- अन्तराष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति को विदेश नीति को यथार्थ रूप में क्रियान्वित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। मार्गेन्थाऊ जैसे विचारक इसे अन्तराष्ट्रीय राजनीति का आँख और कान भी कहते हैं।

प्रचार और राजनीतिक युद्ध- यह कोई राष्ट्र शत्रु राष्ट्रों के प्रति हौआ खड़ा करने के लिए करता है।

5.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न:- “राष्ट्रीय हित के प्रमुख तत्व के रूप में विदेश नीति” उपरोक्त कथन की संक्षिप्त व्याख्या करें?

उत्तर- राष्ट्रीय हित की अवधारणा विदेश नीति का मूलभूत सिद्धान्त है। कोई भी राष्ट्र अपने विदेश नीति का निर्धारण अपने राष्ट्रीय हित के अनुसार ही करते है। जब तक दुनिया राजनीतिक दृष्टि से राज्यों में विभाजित रहेगी तब तक विदेश नीति में राष्ट्रीय हित मार्मिक विषय रहेगी। यद्यपि राष्ट्रीय हित की परीभाषा काफी अस्पष्ट है और इसे कई बार सत्तारूढ़ शासकों का निजी हित भी कहा जाता रहा है फिर भी किसी भी राष्ट्र के विदेश नीति का संचालन राष्ट्रीय हित के आधार पर ही किया जाता है। विदेश नीति राष्ट्रीय हित के लक्ष्यों को प्राप्त करने का साधन होता है।

5.14 सन्दर्भ ग्रंथ-

1. मौरगेन्थो हैन्स (1951), “इन डिफेंस ऑफ नेशनल इन्टेरेस्ट”, यूनिवर्सिटी प्रेस ऑफ अमेरिका।
2. पंत, पुष्पेश (2008), “21वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय संबंध”, टाटा मेकग्राहील पब्लिकेशन कम्पनी लिमिटेड
3. हिल, क्रिस्टोफर (2013), द नेशनल इंटरेस्ट इन क्वेश्चन्स, फॉरेन पॉलिसी इन मल्टी कल्चर सोसाईटिज

5.15 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री-

1. ब्रूचील, स्कॉट (2005), द नेशनल इन्टेरेस्ट इन इन्टरनेशनल रिलेशन थ्योरी, पेलग्रेव मैकमिलन
2. खन्ना, बी.एन. (2003), अन्तर्राष्ट्रीय संबंध, विकास पब्लिशिंग हाउस प्र. लि.

5.16 निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न:- राष्ट्रीय हित से क्या अभिप्राय है? इसके विकास को स्पष्ट करते हुए अभिवृद्धि के प्रमुख साधनों पर प्रकाश डालें?

इकाई – 6 : शीत युद्ध का उदय व अंत

इकाई की संरचना

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 शीत युद्ध का अर्थ

6.4 शीत युद्ध का उदय

6.5 शीत युद्ध के चरण

6.5.1 पहला चरण (1946-1962), शीत युद्ध

6.5.1.1 ट्रूमैन सिद्धांत

6.5.1.2 मार्शल योजना

6.5.1.3 बर्लिन की नाकाबंदी

6.5.1.4 चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना

6.5.1.5 कोरिया युद्ध

6.5.1.6 वियतनाम युद्ध

6.5.2 दूसरा चरण (1962-1979), दितान्त

6.5.2.1 गैर - पश्चिमी गठबंधनों का उदय

6.5.2.2 दितान्त

6.5.3 तीसरा चरण (1979-1984), दूसरा शीत युद्ध

6.5.3.1 अफगानिस्तान संकट

6.5.3.2 तनाव-शैथिल्य

6.5.4 चौथा चरण (1985 -1991), शीत युद्ध का अंत

6.5.4.1 बर्लिन की दीवार का ध्वस्त होना

6.5.4.2 जर्मनी का एकीकरण

6.5.4.3 नाटो द्वारा शीत युद्ध समाप्ति को घोषणा

6.5.4.4 हेलसिंकी में गोर्बाचोव - बुश वार्ता

6.5.4.5 वारसा व नाटो ऐतिहासिक संधि पर हस्ताक्षर

6.5.4.6 पेरिस्ट्रोइका तथा ग्लासनोस्ट

6.6 सारांश

6.7 शब्दावली

6.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

6.9 संदर्भ ग्रन्थ

 6.10 सहायक / उपयोगी पाठ्य सामग्री

6.11 निबंधात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

परिवर्तित समय के साथ - साथ अध्ययन की दृष्टि से अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी परिवर्तन आया और इसका महत्व भी बढ़ा। ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रयास किया जाता रहा है कि 20 वीं शताब्दी में राष्ट्रों के मध्य शक्ति एवं समृद्धि के लिए संघर्ष के वर्णन का विश्लेषिक ढाँचा प्रदान किया जा सके। 20 वीं शताब्दी दो महायुद्धों की साक्षी है जिसने शीत-युद्ध (Cold War) जैसी विशाल - प्रतिद्वंद्विता को जन्म दिया। शीत युद्ध एक बहुआयामी संघर्ष था। इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका और भूतपूर्व सोवियत संघ द्वारा अपने-अपने प्रभावी क्षेत्रों में नियंत्रण स्थापित करने के लिए रणनीतिक एवं सैनिक प्रतिस्पर्धा शामिल थी। इन दो महाशक्तियों ने सम्पूर्ण विश्व को दो शक्ति गुटों (Bipolar World Order) में विभाजित कर दिया। **पूर्वी गुट** (Eastern Bloc, Communist Bloc) में सामान्यतया साम्यवादी देश थे, विशेषतः पूर्वी यूरोप के वो देश जो सोवियत संघ के राजनैतिक और सैन्य मित्र थे। **पश्चिमी गुट** (Western Bloc, Capitalist Bloc) में पूँजीवादी देश थे जिसका नेतृत्व अमेरिका कर रहा था। पश्चिमी यूरोप के औद्योगिक दृष्टिकोण से विकसित राज्य, जैसे कि जापान, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैण्ड, इस गुट के मुख्य सहभागी थे। इसके अलावा, इसके अन्य आयाम भी थे जिसमें पश्चिमी पूँजीवादी मॉडल तथा सोवियत राज्य द्वारा नियंत्रित आर्थिक नियोजन के बीच प्रतिद्वंद्विता एवं वैचारिक संघर्ष और विवाद भी शामिल था। महाशक्तियों की रणनीतियों को निर्धारित करने वाले कारक शीत युद्ध के दौरान संघर्ष के केंद्रीय मुद्दों में से एक थे। संबंधित राज्यों ने अपने औचित्य को स्पष्ट करते हुए राष्ट्रीय हित, सुरक्षा, मित्र राज्यों का समर्थन आदि को महत्वपूर्ण माना है।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत हम मुख्यतः शीत युद्ध की अवधारणा की व्याख्या, इसका अर्थ तथा शीत युद्ध के उदय और समाप्ति के कारणों की विवेचना करेंगे जिनकी सम्पूर्ण शीत युद्ध में महत्वपूर्ण भूमिका थी, इस इकाई में शीत युद्ध को चार चरणों में बाटा गया है। शीत युद्ध ने विश्व की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को अस्त - व्यस्त कर दिया यह प्रभाव इतना गहरा था कि इसके लक्षण आज भी देखे जा सकते हैं।

इस इकाई को पढ़ने और समझने के पश्चात हम :-

- सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं पर शीत युद्ध के प्रभावों का अध्ययन कर सकेंगे।

- शीत युद्ध के उदय के कारणों से परिचित हो सकेंगे।
- हथियारों की होड़ ने विश्व अर्थ व्यवस्था को कहा तक प्रभावित किया इसका अध्ययन कर सकेंगे।
- सोवियत संघ का विघटन शीत युद्ध के समाप्त होने का मुख्य कारण किस प्रकार था, इसको समझने सहायता मिलेगी।
- क्षेत्रीय गुटों का शीत युद्ध पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन कर सकेंगे।

6.3 शीत युद्ध का अर्थ

अमेरिका तथा सोवियत रूस के सम्बन्धों के बीच के तनावों को शीत युद्ध का नाम दिया गया है। शीत युद्ध का अर्थ है अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में दो विरोधी प्रतियोगिता के बीच तनावपूर्ण संबंध। **द्वितीय विश्व युद्ध शुरू होने के पहले से ही अमेरिका और सोवियत संघ के संबंध तनावपूर्ण थे परन्तु इसे शीत युद्ध की संज्ञा 1947 के आस-पास ही दी गई।** शीत युद्ध शब्द का प्रयोग पहली बार अमेरिकी राज नेता बर्नार्ड बारोच Bernard Baruch द्वारा किया गया परन्तु इसे प्रो. लिप्पमैन Prof. Walter Lippmann ने लोकप्रिय किया। उसने इसका प्रयोग अमेरिका तथा रूस के बीच तनावपूर्ण संबंधों का वर्णन करने के लिए किया।

शीत - युद्ध एक ऐसी स्थिति थी जिसे 'उष्ण शान्ति' Hot Peace के रूप में जाना जाने लगा। ऐसी स्थिति में न तो पूर्ण रूप से शांति रहती है और न ही वास्तविक युद्ध होता है, बल्कि शांति एवं युद्ध के बीच की अस्थिर स्थिति बनी रहती है। इस स्थिति में दोनों पक्ष परस्पर शान्तिकालीन कूटनीतिक संबंध कायम रखते हुए भी परस्पर शत्रुता का भाव रखते हैं और सशस्त्र युद्ध को छोड़कर अन्य समस्त उपायों का सहारा लेकर एक दूसरे की स्थिति दुर्बल बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह कूटनीतिक दांवपेंचों से लड़ा जाने वाला युद्ध था जिसमें महाशक्तियां एक दूसरे से भयभीत रहती थी। **यह सैन्य संघर्ष न होकर एक कूटनीतिक एवं विचारात्मक युद्ध था। लेकिन ऐसी तनावपूर्ण स्थिति में प्रत्यक्ष सैन्य संघर्ष की गुंजाइश हमेशा बनी रहती है।**

6.4 शीत युद्ध का उदय

1917 की बोलशेविक क्रान्ति Bolshevik Revolution के साथ ही शीत युद्ध का उदय माना जा सकता है। सोवियत संघ की उत्पत्ति के साथ ही पश्चिमी देशों के साथ इसके संबंध तनावपूर्ण रहे। सोवियत संघ में गृह-युद्ध के शुरुआत के दिनों में ही अमेरिका सहित पश्चिमी देशों का हस्तक्षेप इसका कारण माना जा सकता है। 1933 तक तो अमेरिका ने सोवियत संघ को कूटनीतिक मान्यता भी नहीं दी थी। 1941 में हिटलर द्वारा अचानक सोवियत रूस पर हमला करने की वजह से इसे पश्चिमी देशों से हाथ मिलाना पड़ा। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान साम्यवादी रूस की साहस और

त्याग की वजह से सहयोगी शक्तियों को विजय प्राप्त करने में मदद मिली और उनके मन में सोवियत रूस के लिए सम्मान पैदा हुआ। आशा जगी कि पूरब और पश्चिम के बीच अच्छे संबंधों का एक नया दौर शुरू होगा।

जहां तक इसके उदय का कारण है इसकी जड़े यूरोप में विश्व युद्धों के बाद की परिस्थितियाँ हैं। दूसरा विश्व युद्ध अमेरिका तथा सोवियत संघ ने साथ मिलकर लड़ा था अतः ऐसी आशा व्यक्त की जा रही थी कि युद्ध के बाद भी इनका सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण रहेगा। परन्तु ऐसा नहीं हो सका युद्ध के समय यह दोनों देश मित्र थे परन्तु दोनों के बीच हितों का टकराव काफी पुराना था और यही टकराव विवाद का मुख्य मुद्दा था। फ़रवरी 1945 में हुए याल्टा सम्मेलन (Yalta Conference) ने यह स्पष्ट कर दिया था कि सोवियत संघ पूर्वी यूरोप को अपने प्रभाव क्षेत्र में लाना चाहता था जिसकी वजह से अमेरिका, ब्रिटेन और सोवियत संघ के बीच कई तरह के राजनितिक, वैचारिक, एवं सामाजिक भेद भाव देखने को मिले। इन महाशक्तियों का सबसे अधिक विवाद पोलैंड पर केंद्रित था। जहाँ अमेरिका तथा ब्रिटेन की पोलैंड में विशेष रूचि थी वहीं स्टालिन की सेनाओं ने 1944 तथा 45 के बीच जर्मनी की सेनाओं को बाहर कर पोलैंड में साम्यवादी अस्थायी सरकार स्थापित कर दी थी। अमेरिक तथा ब्रिटेन ने इसका विरोध किया और यह विरोध याल्टा सम्मेलन से लेकर 1947 तक तनाव का मूल कारण बना। इसी तरह जर्मनी को लेकर भी दोनों महाशक्तियों में विवाद की स्थिति बनी रही।

सोवियत संघ जर्मनी को कमजोर तथा गरीब बने रहना देखना चाहता था ताकि की वह भविष्य में खतरा न बन सके जबकि अमेरिका उसकी अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण चाहता था ताकि वह अपने अत्याधिक उत्पादों को जर्मनी के बाजारों में बेच सके। दोनों के बीच तनाव और भी गहरा हो गया जब स्टालिन ने 1946 में यह बयान दिया कि दूसरा विश्व युद्ध पूंजीवादी साम्राज्यवाद का परिणाम था। इसका अर्थ यह निकला जा सकता था कि इस तरह के युद्ध भविष्य में दोबारा भी हो सकते हैं। अमेरिका और सोवियत संघ के संबंधों में नया मोड़ तब आया जब 1949 में सोवियत संघ ने अणु शक्ति पर सयुक्त राज्य अमेरिका के एकाधिकार को खत्म कर दिया।

नए शक्ति संतुलन में परिवर्तन ने प्रत्यक्ष विरोध से आंदोलन की दिशा बदल दी। अब दोनों शक्तियों ने अपने-अपने मित्र राष्ट्रों के साथ संसाधनों का विस्तार करना शुरू कर दिया। उनकी सफलताओं ने दिवध्रुवीय विश्व का निर्माण किया। अमेरिका के यूरोपीय मित्र और सोवियत संघ के मित्र क्रमशः उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (NATO) और वारसा पैक्ट (Warsaw Pact) में विभाजित हो गया।

6.5 शीत युद्ध के चरण

दूसरे विश्व युद्ध के बाद शीत युद्ध को चार चरणों में विभाजित किया जा सकता है :- शीत युद्ध (1946 - 1962), दितान्त (1963 - 1979), दूसरा शीत युद्ध (1979-1984), तथा शीत युद्ध का

अंत (1985-1991) वस्तुतः यह शीत युद्ध के विकास के विभिन्न चरण हैं जिसमें उतार चढ़ाव आते रहे।

6.5.1 पहला चरण- शीत युद्ध Cold War (1946 - 1962)

यह चरण 1946 से शुरू होकर 1962 तक चला। इस चरण की प्रमुख घटनायें थी: ट्रूमैन सिद्धांत, मार्शल योजना, बर्लिन नाकाबंदी, सोवियत संघ द्वारा पहला परमाणु बम धमाका (1949), नाटो की स्थापना (1949), पश्चिमी तथा पूर्वी जर्मनी की स्थापना (1949), जर्मनी के एकीकरण पर स्टालिन का संदेश (1952), केंद्रीय यूरोप से महाशक्तियों की सेनाओं की वापसी (1953), चीन का गृहयुद्ध एवं साम्यवाद चीन गणराज्य की स्थापना तथा कोरिया युद्ध।

6.5.1.1 ट्रूमैन सिद्धांत Truman Doctrine (1947)

दूसरे विश्व युद्ध अपने अंतिम चरण में था तभी सोवियत संघ ने पोलैण्ड, बुल्गारिया, रूमानिया, हंगरी तथा युगोस्लाविया जैसे पूर्वी यूरोपीय देशों में साम्यवादी शासन की स्थापना की तथा इसके साथ ही उसने प्रजातांत्रिक राजनैतिक दलों को बर्खास्त करने एवं लोकतांत्रिक संगठनों को कुचलने की नीति भी अपनाई। सोवियत संघ ने हंगरी और युगोस्लाविया के ऊपर ब्रिटेन और अपने संयुक्त प्रभाव वाली 1944 की चर्चिल और स्टालिन के बीच हुए बालकान समझौता का भी उल्लंघन किया। युद्ध के बाद सोवियत संघ ने हस्तक्षेप ने पूरे बालकान क्षेत्र में साम्यवादी सरकार की स्थापना की। पूर्वी यूरोप के बाद सोवियत संघ ने पश्चिमी यूरोप की ओर साम्यवाद के फैलाव का प्रयास शुरू किया। परन्तु सोवियत संघ के इस बढ़ते प्रभाव को अमेरिका चुपचाप नहीं देख सकता था। 8 मई 1945 में जब दूसरा विश्व युद्ध समाप्त हुआ तो सोवियत संघ और पश्चिमी देशों की सेनाएं यूरोप की मध्य रेखा पर, तैनात थीं। वास्तव में याल्टा समझौते में परोक्ष रूप से यह स्वीकार कर लिया गया कि दोनों पक्षों की सेनाएं जहां हैं वहां रह सकती हैं। राजनीतिक दृष्टिकोण से याल्टा समझौता युद्धोपरान्त यथास्थिति पर एक समझौता था जिससे सोवियत यूनियन को यूरोप के तकरीबन 1/3 तथा अमेरिका को 2/3 भाग पर नियंत्रण मिल गया। सोवियत संघ चाहता था कि जर्मनी की दोबारा आक्रमण करने की क्षमता को सदा के लिए निरस्त कर दे। दूसरी ओर अमेरिका के नये (1945) राष्ट्रपति ट्रूमैन की अध्यक्षता में, 1941 की रूजवेल्ट योजना के अनुसार आकार देना चाहता था। ट्रूमैन सिद्धांत का विस्तार इस आधार पर किया गया कि यह सोवियत यूनियन के प्रसार को किसी भी तरह से रोका जा सके। इसे निरोधक नीति या कन्टेनमेंट पॉलिसी Containment Policy का नाम दिया गया।

इस पॉलिसी के द्वारा जानबूझकर पूरे विश्व में साम्यवाद के खिलाफ डर पैदा किया गया। इरान से सोवियत सैनिकों का बाहर न निकाला जाना, चेकोस्लोवाकिया में साम्यवादियों द्वारा तख्ता-पलट, 1948 में बर्लिन की घेराबन्दी, 1949 में नाटो गठन और चीन में साम्यवादियों का शासन, इन सब घटनाओं ने शांतिपूर्ण सहयोग के विषय पर विश्व को शंका में डाल दिया। इस समय अमेरिका ने अपना वैचारिक आक्रमण तेज करते हुए कई सैन्य गुटों को प्रोत्साहन दिया एवं हथियारों के लिए होड़ लग गई।

6.5.1.2 मार्शल योजना Marshall Plan (1948)

मार्शल योजना ट्रूमैन सिद्धन्त का आर्थिक विचार था। आर्थिक पक्ष को कार्यान्वित करने के लिए अमेरिका ने मार्शल प्लान की रचना की। मार्शल प्लान, जो आधिकारिक तौर पर यूरोपियन रिकवरी प्रोग्राम (ERP) के नाम से जानी जाती है, क्या उद्देश्य अमेरिका द्वारा यूरोप के मित्र देशों का आर्थिक पुनर्निर्माण करके साम्यवाद के प्रसार को रोकना था। अमेरिका की इस पहल, जिसे अमेरिका के विदेश सचिव जार्ज मार्शल का नाम दिया गया, में विदेश विभाग के अन्य वरिष्ठ पदाधिकारियों जार्ज कैनेन तथा विलियम क्लेटोन की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

मार्शल प्लान 4 वर्षों के लिए था और यह अपने प्रारम्भिक कार्यक्रम के अनुसार 1951 में समाप्त हो गया। इस अनुदान के परिणाम स्वरूप 1948-52 के चार साल यूरोपीय इतिहास के आर्थिक विकास में सबसे गतिशील वर्ष थे। अमेरिकी सहायता का प्रस्ताव रखते हुए मार्शल ने यूरोप के लोकतान्त्रिक आर्थिक संकट की ओर ध्यान केंद्रित किया और उनका यह विश्वास था की अमेरिका युद्ध से प्रभावित देशों के स्थायित्व में मदद कर सकता है। उन्होंने यह भी उल्लेख किया कि आर्थिक पुनर्निर्माण यूरोपवासियों का व्यवसाय था परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसे कार्यक्रम का प्रारूप तभी तैयार करेगा जब यूरोप इसमें पहल - शक्ति दिखाए और उन्हें यह भी सुझाव दिया की कोई भी कार्यक्रम तभी सयुक्त रूप ले सकता है जब उसमे, यदि सभी नहीं तो अधिकांश यूरोपीय राष्ट्र शामिल हो। मार्शल ने अपने भाषण में कहा की हमारी नीति किसी देश या विचारधारा के विरुद्ध नहीं है बल्कि यह भुखमरी, गरीबी, निराशा और अव्यवस्था को समाप्त करके के लिए है। मार्शल योजना का औपचारिक उद्देश्य यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण को बढ़ावा देना था परन्तु उसका वास्तविक उद्देश्य तो राजनितिक था वह समृद्धशाली पश्चिमी यूरोप में नियंत्रण को कमजोर करना चाहता था।

6.5.1.3 बर्लिन की नाकाबंदी Berlin Blockade (1948 - 1949)

याल्टा सम्मेलन (Yalta Conference) और पोस्टडैम सम्मेलन (Potsdam Conference) में यह हुआ था की जर्मनी और बर्लिन दोनों को चार क्षेत्रों में विभाजित किया जायेगा। बर्लिन का यद्यपि व्यावसायिक क्षेत्रों में विभजित कर दिया गया था परन्तु अभी भी उसका प्रशासन चार शक्तियों :- सोवियत संघ, अमेरिका, ब्रिटेन, और फ्रांस द्वारा सयुक्त रूप से चलाया जा रहा था। इस प्रकार बर्लिन की स्थिति शेष जर्मनी से भिन्न थी।

बर्लिन की नाकाबंदी उभरते हुये शीत युद्ध की पहली मुख्य संकटकालीन घटना थी जब सोवियत संघ ने पश्चिमी बर्लिन तक पहुँचने के सभी रेल तथा सड़क मार्गों को बंद कर दिया। बर्लिन नाकाबंदी के मूल में शीत युद्ध ही था जो अभी आरम्भ ही हुआ था। जहाँ एक तरफ स्टालिन धीरे धीरे पूर्वी यूरोप के देशों पर अपना नियंत्रण स्थापित करता जा रहा था (मार्च 1948 में चेकोस्लोवाकिया में साम्यवादी सरकार स्थापित की गयी), वहाँ दूसरी तरफ अमेरिका ने सोवियत साम्यवाद को नियंत्रित करने के लिए ट्रूमैन सिद्धांत की घोषणा की। इस संदर्भ में बर्लिन नाकाबंदी शीत युद्ध का प्रयोग था। इसके अतिरिक्त तीन अन्य घटनाओं ने स्टालिन को बर्लिन नाकाबंदी जैसा कदम उठाने पर मजबूर किया :-

- 1) जनवरी 1947 में अमेरिका तथा ब्रिटेन ने बर्लिन के अपने अपने क्षेत्रों का विलय कर दिया और उन्होंने इस संयुक्त क्षेत्र को "बिजोनिया" (Bizonia) का नाम दिया। सोवियत संघ को लगा की, ब्रिटेन तथा अमेरिका एक नए सशक्त जर्मनी की स्थापना करने जा रहे हैं अतः उसकी नाराजगी जायज थी।
- 2) 31 मार्च 1948 को अमेरिका की कांग्रेस ने मार्शल प्लान को मंजूरी दी। स्टालिन ने इस योजना को सोवियत संघ पर पूर्वी यूरोप में प्रभाव को कम करने की चाल समझा। अतः सोवियत संघ ने बर्लिन जाने वाले सभी रेल तथा सड़क परिवहनों की तलाशी लेनी आरम्भ कर दी।
- 3) 01 जून को अमेरिका तथा ब्रिटेन ने घोषणा की कि वह पश्चिमी बर्लिन बिजोनिया में नई मुद्रा आरम्भ करने जा रहे हैं और वे पश्चिमी जर्मनी नाम से नये राज्य की स्थापना करना चाहते हैं। 23 जून को उन्होंने बिजोनिया तथा पश्चिमी बर्लिन में नई मुद्रा आरम्भ कर दी। पूर्वी जर्मनी के लोगों ने अपनी मुद्रा नई बिजोनिये मुद्रा में बदलनी आरम्भ कर दी जिसका आर्थिक मूल्य अपेक्षाकृत अधिक था। इसके दूसरे ही दिन सोवियत संघ ने बर्लिन जाने वाले सभी रेल तथा सड़क परिवहन पर रोक लगा दी।

सोवियत रूस की इस नाकाबंदी की समस्या से निपटने तथा पश्चिमी बर्लिन में वस्तुओं की आपूर्ति बनाये रखने के लिए अमेरिका के कमांडर जनरल लूथियस डी. क्ले ने प्रस्ताव रखा की हथिया बंद सैनिक शांतिपूर्ण तरीके से पश्चिमी जर्मनी से पश्चिमी बर्लिन भेजे जायें। अमेरिका और ब्रिटेन ने लगभग एक वर्ष तक वायु मार्ग द्वारा बर्लिन में आवश्यक सामग्री भेजने का काम किया। मई 1949 में यह घेराबन्दी हटा ली गई लेकिन वायुमार्ग द्वारा सामान भेजने का काम सितम्बर तक चलता रहा। इस नाकेबन्दी के बाद बर्लिन का विभाजन औपचारिक रूप से पूर्वी और पश्चिमी क्षेत्रों में हो गया। सोवियत संघ द्वारा बर्लिन को विभाजित करते हुए मीलों लम्बी दीवार का निर्माण किया गया ताकि शरणार्थी पूर्वी बर्लिन से भागकर पश्चिमी बर्लिन में न जा सके।

6.5.1.4 चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना Chinese Civil War and the Rise of Communism (1949)

दूसरे विश्व युद्ध के बाद साम्यवादी दल जिसका नेतृत्व माओ कर रहा था तथा चियांग काई शेक (Chiang Kai-shek) चीन के राष्ट्रवादी दल के बीच युद्ध दोबारा आरम्भ हो गया। जहाँ सोवियत संघ चीन के साम्यवादी दल को समित सहायता प्रदान कर रहा था, वहीं दूसरी तरफ अमेरिका राष्ट्रीय दल कि आर्थिक और सैनिक रूप से उसकी मदद कर रहा था। परन्तु साम्यवादी दल की जनवादी मुक्ति सेना के आगे भृष्ट और अनुशासनहीन राष्ट्रवादी सेनायें नहीं टिक सकी। 1949 के अंत तक चीन की लगभग सारी प्रमुख भूमि पर साम्यवादी दल का कब्जा हो गया। अक्टूबर 1949 में माओ ने जनवादी चीनी गणराज्य की घोषणा कर दी। चियांग काई शेक अपनी सेनाओं के साथ भाग कर ताईवान द्वीप में आ गया। दिसम्बर 1949 में चियांग काई शेक ने ताईवान को चीनी गणराज्य की अस्थायी राजधानी घोषित किया तथा अपनी सरकार को चीन की वैध सरकार होने का दावा किया। इससे राष्ट्रवादी चीन की सरकार तथा साम्यवादी चीन गणराज्य का झगड़ा पुरे शीत युद्ध के दौरान चलता रहा। 1949 में कोमिंटान्ग (Kuomintang/KMT) पर साम्यवादी विजय के बाद, माओ ने बिखरे चीन के पुनर्निर्माण का कार्य शुरू किया। प्रारम्भ में वहाँ रुसी सहायता और परामर्श लिया गया परन्तु 1950 के दशक के अंत तक संबंध शांत हो गए और रुसी आर्थिक सहायता को घटा दिया गया। माओ ने चीन की आर्थिक मांगों को पूरा करने के लिए व्यापक रूप से आकस्मिक परिवर्तन किया।

6.5.1.5 कोरिया युद्ध Korean War (1950 - 1953)

शीत युद्ध 1950 में यूरोप से एशिया में पहुँच गया। वस्तुतः कोरियन युद्ध (1950-53) दोनों महाशक्तियों के बीच एक प्रत्यक्ष संघर्ष था। उत्तरी कोरिया युद्ध सोवियत हथियारों तथा चीनी सैनिक की मदद से लड़ रहा था जबकि संयुक्त राष्ट्र सेना के नाम पर अमेरिका दक्षिणी कोरिया की ओर से युद्धरत था। यह युद्ध निश्चित ही तीसरे विश्व युद्ध का रूप ले सकता था परन्तु युद्ध विराम की घोषणा से यह खतरा टल गया।

दूसरे विश्व युद्ध के बाद कोरिया को दो भागों - उत्तरी कोरिया (सोवियत नियंत्रण) तथा दक्षिण कोरिया (अमेरिकी नियंत्रण) - विभाजित कर दिया गया। जहाँ उत्तरी कोरिया में सोवियत संघ के नियंत्रण में साम्यवादी सरकार की स्थापना की गयी, वहाँ दक्षिण कोरिया में संयुक्त राष्ट्र की देख रेख में हुए चुनावों के परिणाम स्वरूप पूंजीवाद सरकार की स्थापना हुई। 1950 में अमेरिका ने जापान के साथ एक संधि पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार अमेरिका जापान में दीर्घकालीन सैनिक अड्डों की गारंटी देगा। कुछ प्रेक्षकों का मानना था की इस समझौते ने स्टालिन को अमेरिका द्वारा समर्थित दक्षिण कोरिया पर 20 जून 1950 को आक्रमण करने की योजना को स्वीकृति देने पर मजबूर कर दिया। इस डर से की कहीं एकीकृत कोरिया जापान में अमेरिकी शक्ति को समतल न कर दे और विश्व स्तर पर साम्यवादी आंदोलन को जन्म न दे दे, ट्रूमैन ने दक्षिण कोरिया को सैनिक सहायता देने का निर्णय लिया तथा दक्षिण कोरिया से उत्तरी कोरिया की सेनाओं को हटाने के लिए संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद का समर्थन भी प्राप्त कर लिया। इस संदर्भ में सोवियत यूनियन ने एक ऐतिहासिक

कूटनीतिक गलती की जब उसने सुरक्षा परिषद की बैठक का बाईकाट किया। परन्तु अमेरिका की तरफ से भी भरी गलती हुई जब उसने अपनी सेनाओं को चीन कोरिया सीमा की तरफ जाने की स्वीकृति दे दी। चीन ने इसका जवाब नवम्बर 1950 में भारी जवाबी आक्रमण से दिया जिसमें अमेरिकी तथा चीनी सेनाओं का भारी विनाश हुआ। यह युद्ध दो साल तक चला और कोरिया के विभाजन में समाप्त हुआ।

6.5.1.6 वियतनाम युद्ध

1966 तक अमेरिका के दो लाख के करीब सैनिक वियतनाम में युद्ध कर रहे थे। दूसरी तरह उत्तरी वियतनाम सोवियत यूनियन तथा अन्य साम्यवादी देशों से सैनिक तथा तकनीकी सहायता प्राप्त कर रहा था। व्यापक सैनिक सहायता, भारी बम वर्षा तथा अधिकाधिक अमेरिकी सेनाओं के बावजूद दक्षिण वियतनाम वियतकॉंग (Viet Cong) एवं उत्तरी वियतनाम की सेनाओं को हराने में असफल रहा। अमेरिका की जीत की आशावादी रिपोर्ट का पर्दा फाश तब हुआ जब उत्तरी वियतनाम तथा वियतकॉंग ने घातक टेट आक्रमण (Tet Offensive, 1968) किया जिसमें 100 से अधिक शहरों पर आक्रमण किया गया तथा दक्षिण वियतनाम के ह्यू शहर के लिए एक महीने तक का युद्ध चला। वियतनाम युद्ध को समाप्त करने के लिए गंभीर वार्ता 1968 के बाद आरम्भ हुई जब अमेरिका के राष्ट्रपति लिंडन जॉनसन ने दोबारा चुनाव न लड़ने का निर्णय लिया। 1969 ने अमेरिका, उत्तरी वियतनाम, दक्षिण वियतनाम तथा राजनितिक संगठन राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा के बीच वार्ताएँ चली। नये राष्ट्रपति नक्सन ने रणनीति में परिवर्तन किया। वियतनाम से अमेरिकी सेनाओं की वापसी के साथ उसने वियतनाम पर बम बारी और भी तीव्र कर दी जिसमें कम्बोडिया में जिसमें कम्बोडिया में साम्यवादी ठिकानों पर हमले भी शामिल थे।"

6.5.2 दूसरा चरण (1962-1979)- दितान्त

शीत युद्ध के पहले चरण के खत्म होते ही 1962 क्यूबा मिसाइल संकट (Cuban Missile Crisis) का दौर शुरू हो गया। एक तरफ अमेरिका सोवियत संघ को घेरने के उद्देश्य से जगह-जगह अपनी सेनाएँ भेज रहा था तो दूसरी तरफ अमेरिका की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए सोवियत संघ ने क्यूबा में परमाणु मिसाइल लगाने का सोचा।

क्यूबा मिसाइल को लेकर अमेरिकी प्रशासन में सात-दिनों तक चर्चा हुई और 22 अक्टूबर को राष्ट्रपति केनेडी ने अपने एक टेलिविजन भाषण के माध्यम से इस तथ्य का खुलासा किया और यह चेतावनी भी दी कि क्यूबा की जमीन से हुए किसी भी मिसाइल आक्रमण को सोवियत संघ द्वारा किया गया आक्रमण समझा जाएगा एवं उसका उचित जवाब भी दिया जाएगा। अमेरिका ने क्यूबा की समुद्री सीमा में जहाजों के आवागमन पर भी प्रतिबंध लगा दिया ताकि सोवियत सैन्य हथियार वहाँ नहीं पहुँच सके।

इस संकट के दौरान दोनों पक्षों के बीच औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों तरह की वार्ता होती रही। 23 और 24 अक्टूबर को निकिता ख्रुश्चेव (Nikita Khrushchev) और जॉन एफ. कैनेडी (John F. Kennedy) को पत्र लिखे जिसमें यह इंगित किया गया था कि सोवियत संघ का रवैया शांतिपूर्ण है तथा क्यूबा में लगने वाले मिसाइल सुरक्षा के उद्देश्य के लिए लगाया गया है। 26 अक्टूबर को -ख्रुश्चेव ने केनेडी को एक और पत्र लिखा जिसमें यह था कि सोवियत संघ क्यूबा में अपना मिसाइल कार्यक्रम स्थगित कर देगा यदि अमेरिका यह सुनिश्चित करे कि अमेरिका या उसके आड़ में कोई अन्य देश क्यूबा पर आक्रमण नहीं करेगा। 27 अक्टूबर को -ख्रुश्चेव ने फिर एक पत्र केनेडी को भेजा जिसकी भाषा पहले से अलग थी। इस पत्र में -ख्रुश्चेव ने यह प्रस्ताव दिया था कि यदि अमेरिका टर्की से अपना मिसाइल हटा ले तो सोवियत संघ क्यूबा में अपना मिसाइल कार्यक्रम रोक देगा। अमेरिकी प्रशासन ने 26 अक्टूबर वाले पत्र के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। 28 अक्टूबर को -ख्रुश्चेव ने ये घोषणा की कि क्यूबा में मिसाइल कार्यक्रम को सोवियत संघ वापस ले लेगा और अमेरिका क्यूबा पर हमला नहीं करेगा। 28 अक्टूबर वाले समझौते को लागू करने की दिशा में आगे की बातचीत आरम्भ हो गई। इस घटना दोनों महाशक्तियों को युद्ध के कगार पर ला कर खड़ा कर दिया था। लेकिन -ख्रुश्चेव और केनेडी के बीच हुए इस समझौते ने विश्व को परमाणु विनाश से बचा लिया।

6.5.2.1 गैर - पश्चिमी गठबंधनों का उदय (Rise of Non-Western Alliances)

1960 के दशक में एशिया, मध्यपूर्व तथा अफ्रीका के तृतीय विश्व के देशों ने भी संगठन बनाने शुरू कर दिए जैसे:- गुटनिरपेक्ष आंदोलन, OPEC, OAU तथा अरब लीग की स्थापना। कुछ विकासशील देशों ने एक नई रणनीति की रचना भी की ताकि महाशक्तियों का अपने राष्ट्रीय हितों के लिए लाभ भी उठाया जाये तथा गुटनिरपेक्ष भी रह सके।

संयुक्त राष्ट्र आम सभा, जिसमें पहले 51 सदस्य राज्य थे, 1970 के दशक में यह सदस्य संख्या बढ़कर 126 हो गयी और 2014 में इसके सदस्यों की संख्या 192 है। पश्चिमी राज्यों का प्रभुत्व घटकर 40 प्रतिशत रह गया तथा एशिया-अफ्रीका के देशों की संख्या का प्रतिशत बढ़ गया। जैसे - जैसे पुराने उपनिवेशों को स्वतंत्रता मिलती गयी, वैसे - वैसे संयुक्त राष्ट्र आम सभा में भीड़ बढ़ती गयी। परिणाम स्वरूप एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका के विकासशील देशों के गुट का बहुमत हो गया और सोवियत यूनियन के समर्थन में यह कभी-कभी पश्चिमी विरोधी भी हो जाता था।

6.5.2.2 दितान्त (Detente)

यह चरण में शीत युद्ध समाप्ति की ओर था और दोनों पक्षों के बीच संबंध सामान्य होने लगे। राष्ट्रपति निक्सन एवं उनके राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार हेनरी ए. किस्सिंजर के आगमन से ही यह संभव हो सका। सोवियत - अमेरिका संबंध बढ़ाने की इस नीति को आधिकारिक रूप से 1969 में दितान्त का नाम दिया गया।

"दे-तान्त" (Détente) एक फ्रेंच शब्द है जिसका अर्थ "तनाव में कमी" या "शांति का वातावरण" है। "शीतयुद्ध के दौरान अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में स्थायी ढील, न कि अस्थायी ढील, जिसे 'दे-तान्त' (Détente) का नाम दिया जाता है"।

वियतनाम युद्ध में असफलता की वजह से 1969 और 1975 के बीच अमेरिका आर्थिक संकट के दौर से गुजर रहा था। वियतनाम युद्ध 1959 से लेकर 30 अप्रैल 1975 तक वियतनाम, लाओस तथा कम्बोडिया में चला। अमेरिका को युद्ध में इसलिए शामिल होना पड़ा कि दक्षिण वियतनाम में साम्यवादी शासन की स्थापना न हो पाए। इस दौरान अमेरिकी डॉलर का मूल्य गिरता जा रहा था। सोवियत संघ की भी आर्थिक स्थिति खराब होती जा रही थी और वह तकनीकी रूप से अपने-आप को उन्नत करने के प्रयास में लगा हुआ था। बड़े पैमाने पर सेनाओं का संरक्षण तथा परमाणु अस्त्रों के निर्माण में होने वाले महाकाय व्यय का भी अंदाज होना आरम्भ हो गया था। वियतनाम युद्ध के परिणाम स्वरूप अमेरिका को हुए आर्थिक तथा मानवीय नुकसान ने भी स्पष्ट कर दिया की सोवियत रूस के साथ शांति पूर्ण संबंध ही लाभकारी होंगे। उधर सोवियत रूस भी परमाणु शस्त्रों के विकास पर अपार धन खर्च कर रहा था जिसका सीधा प्रभाव उसकी घरेलू अर्थव्यवस्था पर पड़ रहा था। सोवियत संघ में जीवन स्तर काफी निम्न था। सोवियत रूस के चीन के साथ संबंध बिगड़ और उसे यह भी पता था की अमेरिका चीन के साथ संबंध सुधरने जा रहा है। चीन के सोवियत रूस के साथ संबंध बिगड़ चुके थे और सोवियत संघ अमेरिका की शक्ति तथा पहुंच से भी भलीभांति परिचित था अतः अमेरिका, सोवियत यूनियन तथा चीन के त्रिकोण ने तनाव शैथिल्य को जन्म दिया।

1972 में सामरिक हथियार परिसीमन संधि (Strategic Arms Limitation Treaty - SALT I) पर जुलाई 1973 में हस्ताक्षर किये गये तथा 1977 में यूरोपीय सुरक्षा बैठक की समीक्षा हेतु बेलग्रेड में आयोजित समीक्षा बैठक एक ऐसा कदम था जिनका दोनों पक्षों के बीच सुसंबंध में महत्वपूर्ण योगदान रहा। फिर भी दोनों पक्षों के बीच कुछ कड़वाहट बची हुई थी। उदाहरण स्वरूप, मध्य एशिया में रूस के बढ़ते प्रभाव को रोकने के दृष्टिकोण से अमेरिका ने इरान में हथियारों के जमावड़े को प्रोत्साहन दिया। इसने डिएगो ग्रेसिया को सैन्य बेस में तब्दील करने की पहल की। बंगलादेश संकट के समय अमेरिका ने पाकिस्तान का साथ दिया जबकि रूस भारत के पक्ष में था। इसी तरह 1973 के मिश्र - इजराइल युद्ध के समय सोवियत संघ मिश्र के पक्ष में था जबकि अमेरिका इजराएल के साथ था। परन्तु इन सभी घटनाओं में दोनों ही महाशक्तियों ने प्रत्यक्ष सैन्य कार्यवाई में हिस्सा नहीं लिया।

6.5.3 तीसरा चरण (1979-1984)- दूसरा शीत युद्ध

1979 में सोवियत संघ के हस्तक्षेप से देतांत का अंत हो गया तथा शीत युद्ध एक बार फिर से शुरू हुआ। इस चरण को दूसरा शीत युद्ध (Second Cold War) भी कहा जाता है। इस चरण में दोनों पक्षों दोनों पक्षों ने फिर से सैनिक तैयारियां करना शुरू कर दिया। 1983 में पश्चिमी यूरोप द्वारा नकली परमाणु मुक्ति अभ्यास (Fake Nuclear Attack Drills) से सोवियत संघ को लगा की अमेरिका

उस पर परमाणु आक्रमण करने वाला है। दूसरी तरफ अफगानिस्तान में सोवियत संघ का हस्तक्षेप इस समय की विकट समस्या बन गया। अमेरिका ने अफगानिस्तान को हथियार देकर सहायता की जिसने सोवियत संघ के कई जहाजों को मार गिराया। दिसम्बर 1979 में राष्ट्रपति कार्टर ने हाटलाइन पर सोवियत नेताओं को चेतावनी दी कि यदि सोवियत संघ अफगानिस्तान से बाहर नहीं निकला तो पूरा सोवियत-अमेरिकी संबंध खटाई में पड़ सकता है। आक्रमण के एक साल के अंदर ही 1980 में सोवियत संघ को निर्यात किए जाने वाले अन्न एवं उच्च तकनीक पर अमेरिका ने आंशिक प्रतिबंध लगा दिया। 3 जनवरी 1980 को ही संयुक्त राष्ट्र महासभा ने एक प्रस्ताव पारित करके अफगानिस्तान में सोवियत आक्रमण की भर्त्सना की। इस प्रकार, संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से व्यक्त अंतर्राष्ट्रीय विचार सोवियत संघ के विरोध में कड़ा रूप धारण कर लिया।

6.5.3.1 अफगानिस्तान संकट (Afghanistan Crisis)

दिसम्बर 1979 में सोवियत संघ ने अफगानिस्तान पर पूर्णरूप से अधिकार कर लिया और बराक कर्मल (Babrak Karmal) को राष्ट्रपति बना दिया गया। इसके साथ ही सोवियत संघ और उसके द्वारा बनाई सरकार को भारी विरोध का सामना करना पड़ा। इस विरोध का फायदा उठा कर गुरिल्ला दस्तों ने आक्रमणकारियों के खिलाफ जिहाद की घोषणा कर दी। जिसकी अमेरिका ने पाकिस्तान की मदद से अमेरिकी अत्याधुनिक हथियारों मुजाहिदीन (Mujahideen) की सहायता के लिए भेजने लगा।

जिससे सोवियत सेनाये इस अफगानिस्तान के युद्ध में पराजित होने लगी। यह संघर्ष लगभग बराबरी पर समाप्त हुआ जिसमें शहरी क्षेत्रों पर सोवियत सेना का नियंत्रण था जबकि पहाड़ी क्षेत्रों में मुजाहिदीन गुरिल्ला मुक्त रूप से कार्यरत थे। 1986 में कर्मल के त्यागपत्र देने के बाद मोहम्मद नजीबुल्ला राष्ट्रपति बने। अप्रैल 1988 में सोवियत संघ, अमेरिका, अफगानिस्तान तथा पाकिस्तान के बीच समझौता हुआ जिसका प्रावधान था कि युद्धरत गुटों को किसी तरह की बाहरी सहायता न मिले। फरवरी 1988 में राष्ट्रपति मिखाइल गोरबाचेव ने अफगानिस्तान से सोवियत सेना की वापसी की घोषणा की परन्तु एक साल बाद अफगानिस्तान कई नियंत्रण क्षेत्रों में विभाजित हो गया। दशक के अंत तक यही राजनैतिक विभाजन तालिबान के उत्थान का कारण बना।

6.5.3.2 तनाव-शैथिल्य (De-escalation)

यह चरण मुख्य रूप से सोवियत संघ के नए नेता मिखाइल गोर्बाचेव (Mikhail Gorbachev) और अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन (Ronald Reagan) के प्रयासों से शुरू हुआ। इन दोनों ने के साथ एक विश्व स्तरीय शिखर बैठक में परमाणु हथियार समाप्त करने हेतु एक पांच वर्षीय समय सरणी का प्रस्ताव रखा। अमेरिका ने इस विषय पर सकारात्मक रुख तो दिखाया परन्तु गोरबाचेव की तुलना में यह बहुत कम था। गोर्बाचेव और रीगन ने चार शिखर बैठक की जिसकी विश्वव्यापी सराहना हुई। दोनों देशों ने सामरिक हथियार परिसीमन सन्धि की दिशा में अपना रुख किया। दोनों देश के बीच

यह समझोता हुआ कि समुन्द्र एवं सतह पर मार करने वाले मिसाइल के परीक्षण की पूर्व सूचना दी जाए तथा परमाणु हथियारों के परीक्षण की संयुक्त जाँच हो।

1990 के वाशिंगटन शिखर बैठक में राष्ट्रपति बुश एवं राष्ट्रपति गोर्बाचेव ने परमाणु, रसायनिक एवं पारम्परिक हथियारों से संबंधित कई समझौतों पर हस्ताक्षर किए। सामरिक हथियार परिसीमन संधि के भी कुछ सिद्धान्तों पर दोनों सहमत हुए एवं 31 जुलाई 1990 को इस पर हस्ताक्षर भी किए।

6.5.4 चौथा चरण (1985 -1991)- शीत युद्ध का अंत (End of the Cold War)

1985-91 की कालावधि शीत युद्ध के अंत की दृष्टि से सोवियत संघ और अमेरिका के संबंधों में ऐतिहासिक सीमचिन्ह मानी जाती है। इस समय ऐसी घटनाये घटी जिसकी वजह से सोवियत संघ के बिघटन के साथ शीत युद्ध का अंत हो गया।

6.5.4.1 बर्लिन की दीवार का ध्वस्त होना (Fall of Berlin Wall)

यूरोप में बर्लिन की दीवार शीत युद्ध का कलुषित प्रतिक थी। 9 नवंबर 1989 को बर्लिन को दो भागों में बाटने वाली दीवार ध्वस्त कर दी गयी। पूर्वो जर्मनी से लोग बिना किसी रोक टोक पश्चिमी जर्मनी जाने लगे इस घटना का सोवियत संघ की ओर कोई प्रतिरोध नहीं किया गया।

6.5.4.2 जर्मनी का एकीकरण (German Unification)

01 जुलाई 1990 को दोनों जर्मनी का आर्थिक एकीकरण हो गया। 15-16 जुलाई, 1990 को पश्चिमी जर्मनी के चांसलर हेल्मुट कॉल ने सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाचेव से भेट की। बाद में एक पत्रकार सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए सोवियत राष्ट्रपति ने कहा की जर्मनी का एकीकरण निश्चित है, सोवियत संघ जर्मनी से निकट संबंध चाहता है और यह जर्मनी की इच्छा पर है की वह नाटो या वारसा पेक्ट में शामिल हो। इस प्रकार सोवियत संघ ने जर्मनी के एकीकरण को हरी झंडी दिखा दी। 03 अक्टूबर 1990 को जर्मनी का एकीकरण हो गया जिसके साथ ही यूरोप से शीत युद्ध की गंदगी साफ हो गयी।

6.5.4.3 नाटो द्वारा शीत युद्ध समाप्ति को घोषणा

5-6 जुलाई 1990 को लन्दन में दो दिवसीय नाटो शिखर सम्मेलन में राष्ट्रपति बुश ने ऐतिहासिक घोषणा करते हुए खा की नाटो व वारसा पेक्ट देशों के बीच शीत युद्ध अब समाप्त हो चुका है सोवियत संघ की आशंकाओं को दूर करने के लिए नाटो घोषणा में कहा गया की जर्मनी से सैनिकों की तादाद कम कर दी जाएगी जैसे - जैसे सोवियत संघ पूर्वी यूरोप से अपनी सेनायें हटाएगा, नाटो भी पश्चिमी जर्मनी से परमाणु हथियारों को हटा लेगा। पश्चिमी जर्मनी ने सोवियत संघ को आश्वासन दिया की वह एकीकरण बाद अपनी सेना आधी कर देगा। नाटो देशों में वारसा पेक्ट के देशों के सामने एक अनाक्रमण घोषणा के साथ परमाणु शस्त्रों को खत्म करने का प्रस्ताव रखा।

6.5.4.4 हेलसिंकी में गोर्बाचेव - बुश वार्ता (Helsinki Talks)

8-9 सितम्बर, 1990 को हेलसिंकी में राष्ट्रपति बुश व गौरवबाचेव के बीच बातचीत हुई दोनों नेताओं ने इराक द्वारा कुवैत पर आक्रमण की निन्दा की और कहा की वह सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव का पूर्णता समर्थन करते हैं। दोनों महाशक्ति इस बात पर एकमत है की इराक बिना शर्त कुवैत से वापस हो जाये तथा सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के सभी प्रस्तावों का अनुपालन करे। सोवियत संघ ने इराक को शस्त्रों की आपूर्ति बंद कर दी तथा कुवैत की स्वतंत्रता एवं संप्रभुता को बहाल करने की मांग की।

6.5.4.5 वारसा व नाटो ऐतिहासिक संधि पर हस्ताक्षर (NATO-Warsaw Pact)

19 नवंबर 1990 को नाटो व वारसा पैक्ट की संधि पर हस्ताक्षर किया गया इस संधि में जांच पड़ताल की व्यापक व्यवस्था की गयी ताकि कोई भी पक्ष इसका उल्लंघन न कर सके। 21 नवंबर, 1990 को शिखर बैठक सद्भावनापूर्ण विचार - विमर्श के बाद समाप्त हो गयी। और इसके साथ ही 01 जुलाई, 1991 को वारसा पैक्ट भी समाप्त कर दिया गया।

6.5.4.6 पेरैस्ट्रोइका तथा ग्लासनोस्त (Perestroika & Glasnost)

जून 1987 में गोर्बाचेव के द्वारा आर्थिक एवं राजनितिक सुधारों के लिए उठाये गए कदमों को पेरैस्ट्रोइका तथा ग्लासनोस्त का नाम दिया गया। पेरैस्ट्रोइका (पुनर्निर्माण) का अर्थ था आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाओं का पुनर्निर्माण है। जिससे निजी क्षेत्र में व्यापार को अनुमति मिल गई एवं विदेशी निवेश के लिए मार्ग खुल गए। इन प्रावधानों का उद्देश्य था शीत युद्ध के दौरान सैनिक प्रतिबद्धता पर हो रहे खर्च को जनहित एवं विकास कार्यों में लगाया जाए। दूसरी तरफ ग्लासनोस्त (पारदर्शिता) का अर्थ था विचारभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, समाचार तथा मीडिया पर सरकारी नियंत्रण में ढील तथा प्रकाशन आदि में सेंसरशिप की समाप्ति आदि।

पेरैस्ट्रोइका तथा ग्लासनोस्त पूर्वी यूरोपीय देशों से साम्यवादी शासनो सदा के लिए समाप्त कर दिया, सोवियत रूस के गणराज्यों को भी मास्को से मुक्ति पाने के लिए प्रोत्साहित किया। अभी तक साम्यवादी दल सोवियत यूनियन के बहुजातीय तथा बहुभाषीय गणराज्यों को इकट्ठा रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था। परन्तु सरकारी नियंत्रण ढीला होने से इन राष्ट्र नेताओं को सोवियत दमन से मुक्ति पाने की इच्छा तीव्र हो गयी। अगस्त 1989 में बाल्टिक राज्यों –

एस्टोनिया (Estonia), लातविया (Latvia) और लिथुआनिया (Lithuania) ने सोवियत संघ से स्वतंत्रता पाने के लिए प्रदर्शन किया। जिसकी वजह से सोवियत रूस के यह राज्य स्वतंत्र हो गए। परन्तु इसके बाद भी गणराज्यों की स्वतंत्रता की यह मांग नहीं रुकी और धीरे - धीरे सोवियत यूनियन का विघटन हो गया। और सोवियत यूनियन के विघटन के साथ ही शीत युद्ध भी समाप्त हो गया।

अभ्यास प्रश्न

1. मार्शल योजना किससे संबंधित था ?

क. रूस की सहायता से . ख. यूरोप का आर्थिक पुनरुत्थान .

ग. शीत युद्ध की शुरुआत . घ. इनमें से कोई नहीं .

2. साम्यवाद के प्रसार पर रोक लगाने के लिए अमेरिका द्वारा सैनिक संगठन था?

क. नाटो .

ख. वारसा पैक्ट

ग. सीटो .

घ. कोई नहीं .

3. कोरिया युद्ध कब हुआ था?

क. 1960

ख. 1950

ग. 1955

घ. 1953

4. शीत युद्ध किन दो विचारधाराओं के मध्य संघर्ष था?

क. नाजीवादी और फासीवादी

ख. पूंजीवादी और साम्यवादी

ग. उदारवादी और मार्क्सवादी

घ. सभी

5. नाटो द्वारा शीत युद्ध की समाप्ति की घोषणा कब की गई (?)

क. फरवरी 1991

ख. जुलाई 1990

ग. जनवरी 1990

घ. अक्टूबर 1991 .

6.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत हम लोगों ने शीत युद्ध का अर्थ, शीत युद्ध के जन्म के कारण तथा इसके विकास के विभिन्न चरणों का अध्ययन किया। शीत युद्ध का समय एक ऐसा समय था जिसने सम्पूर्ण विश्व को दो गुटों में विभजित कर दिया। पूरा विश्व सिर्फ दो महाशक्तियों के इर्द-गिर्द घूम रहा था। इस समय बहुत से शक्ति समझौते हुए और बहुत से समझौतों को तोड़ा भी गया और कई बार तो ऐसा भी लगा की तीसरा विश्व युद्ध न शुरू हो जाये। बर्लिन की नाकाबंदी, कोरिया युद्ध, वियतनाम युद्ध और अफगानिस्तान संकट आदि ऐसी घटनाएँ हैं जिनसे लगा की कभी भी विश्व को तीसरा विश्व युद्ध झेलना पड़ सकता। परन्तु 1985 तक आते-आते दोनों महाशक्तियों के संबंधों में तनाव कम हुआ। जिसका मुख्य कारण आर्थिक संकट और सोवियत रूस के गणराज्यों का सोवियत संघ से अलग होने के लिए घरेलू विद्रोह था। जिसकी वजह से 1991 में सोवियत रूस रूस के विघटन के साथ ही शीत युद्ध भी समाप्त हो गया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शीत युद्ध के अंत का सम्पूर्ण विश्व पर बहुआयामी प्रभाव पड़ा और इसने विश्व व्यवस्था को बिल्कुल ही परिवर्तित कर दिया है। आज उदार लोकतंत्रवाद तथा पूंजीवाद का हर जगह बोलबाला है। पूंजीवादी अमेरिका का एकछत्र राज है और अपने हितों की पूर्ति के लिए वह

हर प्रकार के साधनों का खुल कर प्रयोग कर रहा है यद्यपि इस दौरान हितों एवं शक्ति के लिए निरंतर चलने वाले संघर्ष के कारण कट्टरता, धार्मिक उन्माद, तथा आतंकवाद जैसे नए कारक भी उभर कर सामने आए परन्तु राष्ट्र के मध्य पारस्परिक मित्रता, द्विपक्षीय, बहुपक्षीय सहयोग, सतत विकास, नि - शस्त्रीकरण, मानव अधिकारवाद जैसे मुद्दों पर जागरूकता तथा आम सहमति पूर्वापेक्षा बढ़ी है। इस कारण शीत युद्ध के पूर्ववर्ती स्वरूप के पुनरोदय की संभावना क्षीण ही दिखाई देती है।

6.7 शब्दावली

प्रस्तावना - परिचय, भूमिका, इत्यादि

शीत युद्ध - न तो पूर्ण रूप से शांति हो और न ही वास्तविक युद्ध हो

देतांत - तनावों में कमी

सामरिक - युद्ध नीति -विषयक, रणनीति -संबंधी

6.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1). ख 2). क 3). ख 4). ख 5). ख

6.9 संदर्भ ग्रन्थ

1. K. Smith S. (ed) (1995), "International Relations Theory Today", University Press, Cambridge
2. Huntington S (1996), "The Clash of Civilization and the Remaking of World Order", Simon and Schuster, New York.
3. Leffler. Melvyn P. (2005), "Cold War and Global Hegemony, 1945-1991", OAH Magazine of History, America.
4. Mueller, John (1994), "What Was the Cold War About? Evidence from Its Ending",

6.10 सहायक / उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Appadorai A (1981), "India's Foreign Policy", Oxford University Press, New Delhi.
2. Dixit, J. N.(2000), *India's Foreign Policy*, New Delhi: Picus Books

-
3. Rajan, M.S.(1990), *Non-alignment and Non-aligned Movement: Retrospect and Prospect*, New Delhi : Vikas Publishing House Pvt Ltd.
 4. Appadorai, A., M.S. Rajan (1985), *India's Foreign Policy and Relations*, New Delhi: South Asian Publishers.
-

6.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. शीत युद्ध के उदय के कारणों की समीक्षा कर ?
2. शीत युद्ध की समाप्ति के क्या कारण थे ?
3. शीत युद्ध का विश्व अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा ?
4. उत्तर शीत युद्ध काल में अमेरिका के योगदान की समालोचना करे ?

इकाई-7: नव शीत-युद्ध ,शस्त्रीकरण की होड़

इकाई की संरचना

- 7.1 प्रस्तावना
- 7.2 उद्देश्य
- 7.3 शीत-युद्ध की उत्पत्ति
- 7.4 नए शीत-युद्ध की उत्पत्ति
- 7.5 नए शीत-युद्ध के कारण
 - 7.5.1 सोवियत संघ की शक्ति में वृद्धि
 - 7.5.2 रीगन का राष्ट्रपति पद पर निर्वाचन होना
 - 7.5.3 अन्तरिक्ष अनुसंधान की सोवियत संघ-अमरीकी होड़
 - 7.5.4 अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप
 - 7.5.5 दक्षिण-पूर्व एशिया में बढ़ता सोवियत प्रभाव
 - 7.5.6 यूरोप में मध्यम मार प्रक्षेपास्त्रों का उलझा सवाल
 - 7.5.7 स्टारवार्स परियोजना
- 7.6 अमरीकी कूटनीति का प्रयोग
- 7.7 पश्चिमी एशिया या मध्यपूर्व के बदलते हालात
- 7.8 नये शीत-युद्ध की प्रकृति
- 7.9 शस्त्रीकरण की होड़
- 7.10 सारांश
- 7.11 शब्दावली
- 7.12 अभ्यास प्रश्न
- 7.13 संदर्भ ग्रंथ
- 7.14 सहायक उपयोगी पाठ्य-सामग्री
- 7.15 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

जब वाल्टर लिपमैन ने शीत-युद्ध शब्द का प्रयोग किया तब उसका अभिप्राय दो शक्ति गुटों के मध्य ऐसी युद्ध जैसी स्थिति से था, जो कि युद्ध की स्थिति वास्तव में नहीं थी। यह एक कूटनीतिक युद्ध था दो या दो से अधिक शक्तियों के बीच सशस्त्र संघर्ष नहीं था। फ्लेमिंग ने शीत-युद्ध का वर्णन करते हुए इसे एक ऐसा युद्ध बताया जो युद्ध-स्थल में नहीं लड़ा जाता परन्तु मानवों के मस्तिष्क में होता है। एक व्यक्ति अन्य के मस्तिष्क को नियंत्रित करने का प्रयास करता है। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रों में आपस में दरार पड़ गई। यह मित्रता तनाव में परिवर्तित होकर एक विचित्र युद्ध का रूप धारण कर लिया जिसे शीत युद्ध कहा गया। मित्र राष्ट्र दो गुटों में बँट गई एक सोवियत संघ दूसरा अमरीका। ये दोनों एक-दूसरे को कूटनीतिक सामाजिक सांस्कृतिक राजनीतिक और सम्भव हो तो सैनिक मोर्चे पर भी पराजित करने में संलग्न हो गए।

सन् 1962 के क्यूबा संकट के बाद शीत-युद्ध में शिथिलता या नरमी आने लगी। हेल्सिंकी सम्मेलन के समय पर तनाव शैथिल्य अपनी चरमसीमा पर था परन्तु उसके पश्चात् इसकी गति धीमी पड़ गई। सोवियत संघ और अमरीकी संबंध एक बार फिर इतने बिगड़ गए कि 1980 में ऐसा प्रतीत होने लगा कि शीत-युद्ध वापस आ गया है। जो तनाव इस बार उभरकर आया उसको “नव-शीत-युद्ध” की संज्ञा दी गई। दिसम्बर 1979 में जब सोवियत सैनिक अफगानिस्तान में प्रवेश करके उसकी राजनीति में हस्तक्षेप किया और उस पर कब्जा कर लिया तब शीत-युद्ध पुनः सामने आ गया।

7.2 उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शीत-युद्ध की एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस युद्ध के कारण विश्व दो गुटों में बंट गया था। शीत-युद्ध का मुख्य उद्देश्य था अपनी वर्चस्व को बनाये रखना। नये शीत-युद्ध का भी यही उद्देश्य था क्योंकि सोवियत संघ की बढ़ती शक्ति के कारण अमरीका हड़बड़ा गया था उन्होंने सोवियत संघ की शक्ति एवं प्रभाव के विस्तार को रोकने। अफगानिस्तान को सोवियत संघ का वियतनाम बनाना। शस्त्र बेचकर डॉलर कमाना ताकि अपनी अर्थव्यवस्था को सुधार सके। अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के रूप में अमरीकी प्रतिष्ठा और विश्वसनीयता को बनाये रखना चाहता था। सोवियत संघ भी अपने प्रभाव का विस्तार करना चाहता था ताकि विश्व में उनकी वर्चस्व स्थापित हो। इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य है नए शीत-युद्ध काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हो रहे बदलाव एवं उसका विश्व राजनीति पर पड़ने वाले प्रभाव का विस्तारपूर्वक वर्णन करना है।

7.3 शीत-युद्ध की उत्पत्ति

शीत-युद्ध शब्द का प्रयोग तनाव की उस अभूतपूर्व स्थिति के लिए किया गया जो कि दो पूर्व मित्रों संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के मध्य अचानक विकसित हो गई। जापान के

आत्मसमर्पण के साथ अगस्त 1945 में द्वितीय विश्व युद्ध के सशस्त्र संघर्ष का अंत हो गया, यद्यपि औपचारिक शान्ति में काफी समय लग गया था। अगस्त 1945 में मित्र राष्ट्रों की निश्चित विजय हो गई थी, परन्तु मित्र राष्ट्रों के खेमों में जो छिपा हुआ संघर्ष या तनाव धीरे-धीरे उभर रहा था वह अचानक खुलकर सामने आ गया। विश्व युद्ध के दौरान एक अद्भुत गठबंधन हो गया था। जर्मनी द्वारा जून 1941 में सोवियत संघ पर अचानक आक्रमण तथा दिसम्बर 1941 में जापानी लड़ाकू विमानों द्वारा पर्ल हार्बर पर भारी बमवर्षा के साथ ही इन दोनों परस्पर-विरोधी विचारधाराओं वाले देशों में ऐसी मित्रता हो गई कि जिसकी किसी को आशा नहीं थी। साम्यवादी सोवियत संघ तथा पूँजीवादी अमेरिका ने मैत्री के बंधन में बँध कर फासिस्ट तानाशाही को पराजित करने का संकल्प कर लिया। इन दोनों देशों ने ब्रिटेन फ्रांस चीन तथा अन्य मित्र राष्ट्रों के साथ मिलकर नात्सी-फासिस्ट धुरी को पराजित कर दिया, परन्तु इस युद्ध के दौरान ही मित्र राष्ट्रों में आपस में दरार पड़ गई थी। इस अद्भुत मित्रता ने तनाव में परिवर्तित होकर एक विचित्र युद्ध का रूप धारण कर लिया। इस युद्ध में सेनाओं तथा शस्त्रास्त्रों की सहायता के बिना एक अद्भुत लड़ाई आरम्भ हो गई, जिसे शीत-युद्ध की संज्ञा दे दी गई। 1945 के मध्य तक भी किसी ने यह नहीं सोचा था कि शत्रु को पराजित करते ही पूर्व-पश्चिम की मित्रता इस प्रकार बिखर जाएगी। धुरी राज्यों की शत्रुता ने मित्र राष्ट्रों को जोड़कर रखा हुआ था। धुरी राज्यों के धराशायी होते ही वह मित्रता भी समाप्त हो गई।

फरवरी 1945 के याल्टा सम्मेलन में मित्र राष्ट्रों में इतनी सद्भावना देखी गई थी कि यह सोचना असंभव था कि कुछ ही महीनों में शीत-युद्ध आरम्भ हो जाएगा। जैसे-जैसे विश्व युद्ध का अंत निकट आते जा रहा था, वैसे-वैसे मित्र राष्ट्रों के मतभेद प्रकट होने लगे थे। याल्टा सम्मेलन के आयोजन का एक उद्देश्य इन मतभेदों को सुलझाना भी था। उस सम्मेलन का एक अन्य उद्देश्य यह भी था कि अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट की यह तीव्र इच्छा थी कि सोवियत संघ भी जापान के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो जाए। जापान और सोवियत संघ ने 1941 में पाँच वर्ष के लिए एक अनाक्रमण संधि पर हस्ताक्षर किए थे परन्तु युद्ध में जापान की शक्ति में कमी न होते देखकर मित्र राष्ट्र चिंतित थे, और अमेरिका ने यह आवश्यक समझा कि सोवियत संघ को इस बात के लिए राजी किया जाए कि वह भी जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दे। स्टालिन ने यह स्वीकार भी कर लिया कि यूरोप में युद्ध की समाप्ति के तीन महीने पश्चात् वह जापान पर धावा बोल देगा। याल्टा सम्मेलन में वातावरण इतना सौहार्दपूर्ण हो गया कि सभी को स्थायी मैत्री की आशा हो गई थी। प्रधानमंत्री चर्चिल ने 27 फरवरी 1945 को ब्रिटिश संसद में कहा कि सोवियत नेता पश्चिमी लोकतांत्रिक देशों से मित्रता रखना चाहते हैं ताकि उनके बीच पारस्परिक विश्वास तथा सहयोग का विकास हो सके। चर्चिल ने कहा कि वह सोवियत नेताओं के विचारों को उनकी प्रतिबद्धता मानता था। अमेरिका के राजनयिक हैरी हौप्किन्स को भी सोवियत नेताओं की दूरदर्शिता में पूर्ण विश्वास था तथा उसको इस बात में कोई संदेह नहीं था कि सोवियत संघ तथा पश्चिम के लोकतांत्रिक देशों में स्थायी मैत्री का विकास होगा, किन्तु ये सभी आशाएँ शीघ्र ही निराशा में बदल गईं।

7.4 नये शीत-युद्ध की उत्पत्ति

शीत-युद्ध के लिए अनेक तत्व एवं कारक उत्तरदायी थे, परन्तु अन्य तत्वों की अपेक्षा तीन मूल तत्व संघर्ष के लिए अधिक उत्तरदायी थे। जर्मनी की पराजय ने शून्य की स्थिति को जन्म दिया। परमाणु अस्त्रों का आविष्कार और प्रयोग हुआ तथा अमेरिका तथा सोवियत संघ के मध्य वैचारिक मतभेद अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के मूल आकर्षक बन गए। आगे चलकर सोवियत संघ और अमरीकी संबंधों में दितान्त की शुरूआत हुई। दितान्त से अभिप्राय है सोवियत-अमरीकी रिश्तों में तनाव-शैथिल्य और उनमें दिन-प्रतिदिन बढ़ती मित्रता। कभी एक-दूसरे को अपना जानलेवा दुश्मन समझने वालों के बीच खरबों डॉलर का व्यापार होने लगा था। सहकार के इस दौर में अप्रत्याशित रूप से नए शीत-युद्ध का विस्फोट हुआ, जिसे नया शीत-युद्ध कहा जाता है, उसका आरम्भ सोवियत संघ द्वारा अफगानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप को माना जाता है। 1978-88 के मध्य महाशक्तियाँ पुनः शीत-युद्धकालीन भाषा का प्रयोग करने लगी, शस्त्रों की होड़ पुनः तीव्र गति से बढ़ने लगी। टकराव के पुनः विविध केन्द्र उत्पन्न हो गये एक नये शीत-युद्ध की शुरूआत हुई। दोनों शक्ति गुटों में तनाव शैथिल्य के मार्ग से हटने की प्रक्रिया एक समान नहीं थी। सोवियत संघ ने कुछ क्षेत्रों में सहयोग और कुछ क्षेत्रों में संघर्ष का मार्ग अपनाया। हिन्द-चीन, हार्न ऑफ अफ्रीका तथा अफगानिस्तान की घटनाओं ने अमरीका को हताश किया परन्तु उसे इन्हीं घटनाओं ने सोवियत संघ के विरुद्ध प्रचार के अस्त्र के रूप में प्रयोग करने का अवसर भी मिला। इस बार यूरोप के बाहर के संघर्षों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो गई। अमरीका और सोवियत संघ दोनों ही अपने विरोधी के पिछले आँगन में अपनी नीतियों को सक्रिय रूप से लागू करना चाहते थे। सोवियत संघ की सहायता से क्यूबा ने एक बार फिर लैटिन अमरीका में क्रान्तिकारी आन्दोलनों का सक्रिय समर्थन करना आरम्भ कर दिया। अमरीका भी बदला लेने में पीछे नहीं रहा। सोवियत नेता ब्रेजनेव ने कम्युनिस्ट पार्टी की 27वीं काँग्रेस 1976 में कहा था कि “तनाव शैथिल्य वर्ग संघर्ष के नियमों में नाममात्रा का भी परिवर्तन नहीं कर सकता था, और न उन्हें बदल सकता था। हम इस तथ्य को बिल्कुल छिपाना नहीं चाहते कि हम तनाव शैथिल्य को उस मार्ग के रूप में देखते हैं जो कि शान्तिपूर्ण समाजवादी और साम्यवादी संरचना के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करेगा।”

सोवियत संघ शस्त्रास्त्रों के निर्यात के क्षेत्र में अधिक सक्रिय हो गया। सामान्यतया शस्त्र निर्यात के संबंध में अमरीका सोवियत संघ से बहुत आगे था। इस प्रवृत्ति में परिवर्तन हुआ और देशों में शस्त्र-निर्यात को लेकर होड़ शुरू हो गया। अस्सी के दशक के आरम्भ में विश्व के कुल शस्त्र निर्यात का 30 प्रतिशत निर्यात सोवियत संघ कर रहा था। उधर अमरीका का हिस्सा 30 प्रतिशत से कुछ कम था।

7.5 नये शीत-युद्ध के कारण

नये शीत-युद्ध की शुरूआत के निम्नांकित कारण बताये जाते हैं -

7.5.1 सोवियत संघ की शक्ति में वृद्धि होना

दितान्त के युग में सोवियत संघ परमाणु और नौ-सैनिक शक्ति में अमरीका की बराबरी करने का प्रयत्न कर रहा था। जब अमरीका वियतनाम युद्ध में उलझा हुआ था तब सोवियत संघ ने परम्परागत अस्त्रों और अन्तरिक्ष में अमरीका से आगे निकलने की सफल चेष्टा की। अब सोवियत संघ अमरीका को चुनौती देने की स्थिति में था। उसके समुद्री जहाज सातों समुद्रों की गश्त लगाने लगा अमरीका सोवियत संघ की सर्वोपरि स्थिति को कैसे स्वीकार कर सकता था।

7.5.2 रीगन का राष्ट्रपति पद पर निर्वाचन होना

नवम्बर 1980 के अमरीकी राष्ट्रपति के निर्वाचन में अमरीकी जनता ने जब एक बाज(एक ऐसा नेता जो आक्रामक विदेश नीति का समर्थक हो) को ह्वाइट हाउस की गद्दी प्रदान कर दी तो नये शीत-युद्ध की गर्मी को सर्वत्र अनुभव किया जाने लगा। दक्षिण-पंथियों और कट्टर रूढ़िवादियों के हाथों ह्वाइट हाउस की बागडोर उग्र-आक्रामक नीतियों का संकेत था। रीगन ने सत्ता में आते ही अमरीका को पुनः कार्य पर लगाने शस्त्र उद्योग को बढ़ावा देने, मित्र राष्ट्रों का पुनः शस्त्रीकरण करने शस्त्र प्रतिस्पर्द्धा को तेज करने और सोवियत संघ के प्रति उग्र नीति अपनाने की घोषणा करके पहले से ही शुरू हुए नये शीत-युद्ध की अग्नि में घी की आहुति दे दी।

7.5.3 अन्तरिक्ष अनुसन्धान की सोवियत संघ-अमरीकी होड़

अन्तरिक्ष में हथियारों की होड़ का सिलसिला पिछले तीन दशक से जारी था। जिस दिन पहला स्पुतनिक छोड़ गया था उसी दिन इस होड़ की भी शुरूआत हो गयी थी। सोवियत संघ और अमरीका दोनों ने यह प्रचार किया कि उनके अन्तरिक्ष अनुसंधान मानव जाति के कल्याण के लिए है। वास्तव में दोनों की नियत साफ नहीं था। दोनों को यह आशंका हमेशा रही कि दूसरा अन्तरिक्ष अनुसंधान में कहीं बाजी न मार ले जाये, इसलिए दोनों एक-दूसरे पर कड़ी नजर रखने लगे। पहले साधारण उपग्रह फिर संचार उपग्रह, फिर अन्तरिक्ष में प्रयोगशाला तो दूसरी ओर मनुष्य को अन्तरिक्ष में लम्बे समय तक रखकर प्रयोग करने में समर्थ बनाने के प्रयास। एक ओर स्पेस शटल तो दूसरी ओर अन्तरिक्ष स्टेशन। एक ने आदमी को चन्द्रमा पर भेजकर वहाँ की मिट्टी और चट्टानें मंगाकर दुनिया को हतप्रभ कर दिया दूसरे ने यंत्र द्वारा चन्द्रमा से मिट्टी और चट्टाने लाकर दिखा दी। एक ने बृहस्पति और शनि की खोज के लिए यान भेजा तो दूसरे ने अन्तरिक्ष में कारखाने खोलने की तैयारी शुरू कर दी। कहा गया कि अन्तरिक्ष यान इस ब्रह्माण्ड की गुत्थी सुलझाने में मदद करेंगे तो दूसरे ने प्रचारित किया कि अन्तरिक्ष कारखानों में ऐसी उपयोगी चीजें तैयार की जायेगी जिन्हें धरती पर बनाना सम्भव नहीं।

अमरीका के सैन्य संवाद का 80 प्रतिशत उपग्रहों के माध्यम से ही होता है। 1988 तक वह 18 उपग्रहों का ऐसा समूह स्थापित करना चाहता था जो संसार के किसी भी हिस्से में विमानों, जहाजों

और फौजियों की बिल्कुल ठीक स्थिति बता सके। इसके लिए उपग्रहों पर परमाणु घड़ियाँ लगाने की बात कही जाने लगी। सोवियत संघ भी पीछे नहीं था। 18 जून 1982 को उसके काँस्माँस 1379 उपग्रह-मारक उपग्रह ने अन्तरिक्ष में जाकर बारह दिन पूर्व छोड़े गये काँस्माँस यान का रास्ता रोक लिया। पृथ्वी से 950 किलोमीटर ऊपर उपग्रह मारक अस्त्र की स्थापना की दिशा में यह पहला कदम था। उपग्रह-मारक उपग्रह के इस निदर्शन के कुछ ही घण्टों में सोवियत संघ ने अन्तरिक्ष में दो आई.सी.बी.एम. एक मध्यम दूरी का एस.एस. 20 प्रक्षेपास्त्र, एक पनडुब्बी प्रक्षेपित प्रक्षेपास्त्र और दो बैलस्टिक प्रक्षेपास्त्र-रॉकेट छोड़कर खौफनाक युद्ध का माहौल बना दिया। सोवियत संघ की इस अन्तरिक्षीय उपलब्धि के बाद अमरीका भला चुप कैसे बैठ सकता था उसने रफ्तार से अपनी उपग्रह-मारक प्रणाली तैयार कर डाली और 14 सितम्बर 1985 को अपना पहला उपग्रह-मारक परिक्षण कर डाला। यह ठीक है कि अन्तरिक्ष अनुसंधान का लाभ मनुष्य को भी मिला है। संचार उपग्रह के रूप में यह अनुसंधान वरदान है। लेकिन यह भी सच है कि सोवियत संघ और अमरीका जितने उपग्रह छोड़े उनमें से 75 प्रतिशत उपग्रह सैन्य उपयोग के लिए थे। इन तमाम उपग्रहों से दोनों देशों को एक-दूसरे की गतिविधियों का पता चलता था और जहाँ एक-दूसरे को आभास हुआ कि वह किस बात में पिछड़ रहा है, वह अपनी गति तेज कर देता।

7.5.4 अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप

अफगानिस्तान में क्रान्ति का सफल होना तथा काबुल की सत्ता साम्यवादियों के हाथों में आना अमरीका के लिए एक बहुत बड़ा धक्का था। 27 दिसम्बर 1979 को सोवियत संघ ने जिस तत्परता से अफगानिस्तान में कार्यवाही की उससे न केवल अमरीका अपितु सम्पूर्ण विश्व चौंक गया। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप से अमरीका हड़बड़ा उठा। उसने सोवियत हस्तक्षेप की न केवल निन्दा की अपितु सीनेट में साल्ट-2 पर बहस को स्थगित कर दिया, हॉट लाइन पर तात्कालीन राष्ट्रपति कार्टर ने सोवियत नेताओं से बातचीत में कड़े शब्दों का प्रयोग किया, सोवियत संघ को अनाज देने और तेल की खोज के लिए आधुनिक संयंत्र और तकनीकी जानकारी देने के फैसले को बदल दिया तथा 1980 में होने वाले मास्को ओलम्पिक खेलों का बहिष्कार कर दिया। अमरीका की ये कार्यवाहियाँ दूसरे शीत-युद्ध की शुरूआत थी।

7.5.5 दक्षिण-पूर्व एशिया में बढ़ता हुआ सोवियत प्रभाव

हिन्दचीन में सोवियत प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। वियतनाम की सफलताओं से कम्बोडिया और लाओस के साम्यवादियों को बल मिला। हेंग सामरिन ने वियतनाम से समर्थन एवं सैनिक सहायता प्राप्त करके 7 जनवरी 1979 को पोल पोट के ख्मेर शासन का तख्ता पलट दिया। इससे न केवल चीन नाराज हुआ अपितु अमरीका भी हड़बड़ा उठा क्योंकि वियतनाम के माध्यम से सारे हिन्दचीन में सोवियत संघ के प्रभाव के फैलने की सम्भावनाएँ बढ़ गयीं। हिन्दचीन में सोवियत प्रभाव के

विस्तार को रोकने के लिए चीन और अमरीका ने संयुक्त मोर्चा बना लिया। अमरीका से प्रेरणा पाकर वियतनाम को सबक सिखाने के उद्देश्य से चीन ने 17 फरवरी 1979 को वियतनाम पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण ने वियतनाम को सोवियत संघ की गोद में धकेल दिया।

7.5.6 यूरोप में मध्यम मार प्रक्षेपास्त्रों का उलझा सवाल

सोवियत संघ ने यूरोप में एस.एस. 20 प्रक्षेपास्त्रों को लगाने का निर्णय लिया। इससे नाटो देशों को डर था कि सोवियत संघ द्वारा लगाये जा रहे प्रक्षेपास्त्रों के कारण उनकी स्थिति दयनीय हो जायेगी क्योंकि ब्रिटेन और फ्रांस के पास जो 162 प्रक्षेपास्त्र थे वे सोवियत संघ के 340 नये एस.एस. 20 तथा 260 पुराने एस.एस. 4 और 5 प्रक्षेपास्त्रों के मुकाबले बहुत हल्के थे। अतः दिसम्बर 1979 में फैसला किया गया कि अमरीका से नयी पीढ़ी के जानदार प्रक्षेपास्त्र मंगाकर पश्चिमी यूरोप के नाटो देशों में लगाये जायें। उनकी संख्या 572 हो, 108 तो हों पर्सिंग-2 और 464 हों, क्रूज, 162 पहले से ही थे। सोवियत संघ के लिए यह काफी चिन्ताजनक बात हो गयी। एक ओर परमाणु आयुधों से लैस शक्तिशाली देशों के पास इन सर्वनाशकारी अस्त्रों का जखीरा बढ़ रहा था तो दूसरी ओर महाशक्तियों के बीच तनाव की बिजलियाँ कौंध रही थी। नवम्बर 1983 में जब सोवियत संघ ने यूरोप में मध्यम मार परमाणु प्रक्षेपास्त्रों में कटौती को लेकर चल रही वार्ता का बहिष्कार किया तो महाशक्तियों का तनाव और भी बढ़ गया।

7.5.7 स्टारवार्स (अन्तरिक्ष युद्ध) परियोजना

स्टारवार्स यह नाम ही कुछ अजब रहस्यमय और कल्पना की उड़ान सा लगता है। 23 मार्च 1983 को राष्ट्रपति रीगन ने राष्ट्र को संबोधित करते हुए स्टारवार्स सम्बन्धी घोषणा की। स्टारवार्स यानी अरबों डालरों से निर्मित हो रही अमरीका की नयी प्रतिरक्षा परियोजना। अनुसंधान का उद्देश्य था हमला रोकने के लिए बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्रों से सुरक्षा की हाल में विकसित टेक्नोलॉजी के उपयोग के तरीके खोजना ताकि अमरीका अपनी और अपने मित्र-राष्ट्रों की सुरक्षा कर सके। स्टारवार्स अभियान के तहत लगभग दो हजार युद्धयान अन्तरिक्ष में तैरेंगे और आधुनिकतम आयुधों से घुसपैठिया प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट करेंगे। नये अस्त्रों की खोज जारी थी - एक तरीका था न्यूक्लीय और इलेक्ट्रॉन कणों से युक्त सशक्त प्लाज्मा किरणों का प्रयोग। प्लाज्मा किरणें शक्तिशाली से शक्तिशाली लेजर किरणों से भी कई सौ गुना प्रभावशाली होती हैं। प्लाज्मा किरणों के साथ-साथ शक्तिशाली एक्स किरणों पर भी काम हो रहा था। रीगन की नजरों में यह एक ऐसा रक्षा कवच था जो शत्रु को बेअसर साबित कर देगा।

7.6 अमेरिकी कूटनीति का प्रयोग

मॉस्को में आयोजित ओलम्पिक खेलों का कई देशों ने अमरीका की अगुवाई में बहिष्कार किया। खेल की राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति संघर्ष से अब तक अभिन्न रूप से जुड़ चुकी थी। अब तक नस्लवाद उपनिवेशवाद के कारण ही खेलों की दुनिया में कड़वाहट देखने को मिलती थी। अब विचारधारा का टकराव भी सतह पर आ गया। इसके कई कारण थे। यह वर्ष अमरीकी चुनाव का था राष्ट्रपति कार्टर को इस आक्षेप का सामना करना पड़ रहा था कि वह कमजोर व्यक्ति है और उसका प्रशासन सोवियत संघ के सामने निरंतर समर्पण वाली मुद्रा में खड़ा नजर आता है। उनके लिए यह मजबूरी थी कि कोई ऐसा फैसला ले जिससे अपने आलोचकों को चुप करा सके। दूसरी ओर इसी वक्त पॉलैंड में कोयला खदानों और बंदरगाहों पोतों में काम कर रहे मजदूरों ने साम्यवादी पार्टी के खिलाफ विद्रोह का नारा बुलंद किया। साम्यवादी पार्टी के नेतृत्व को चुनौती देने वाले श्रमिक संगठनों की कल्पना साम्यवादियों ने कभी नहीं की थी। पॉलैंड तथा सोवियत संघ के कट्टरपंथी साम्यवादी नेताओं का सोचना था कि धर्म के कुटिल प्रयोग से अमेरीका पॉलैंड में साम्यवादी पकड़ को अस्थिर करने की कोशिश कर रहा है। अपने कार्यकाल के आरम्भ से ही राष्ट्रपति कार्टर ने अपनी पहचान मानवाधिकारों के प्रखर संरक्षक के रूप में बनाने की कोशिश की। इस मुद्दे पर वे अक्सर सोवियत संघ को अपना निशाना बनाये रखते थे। ब्रेजनेव के शासनकाल में एक बार फिर सोवियत गुप्तचर संस्था के.जी.बी. असह्यमान होने लगी थी। असहमति और असंतोष मुखर करने वाले सोवियत नागरिकों का दमन काफी बर्बरता से किया जाने लगा था। इससे सोवियत संघ की अन्तर्राष्ट्रीय छवि काफी मलिन हुई थी। अमरीका के लिए यह प्रचार करना सहज हुआ था कि सोवियत व्यवस्था मूलतः दमनकारी तानाशाही है और अपने नागरिकों के लिए भी शोषक-उत्पीड़क ही है। सोवियत नेता ब्रेजनेव ने इसी दौर में ब्रेजनेव सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस स्थापना के अनुसार साम्यवादी खेमे के किसी भी सहयोगी सदस्य राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना अलग पथ चुनने की स्वाधीनता नहीं थी। यदि किसी देश की सरकार ऐसा कोई कदम उठाती है तो उसे प्रतिक्रियावादी क्रान्ति विरोधी और साम्यवादी खेमे की सुरक्षा को जोखिम में डालने वाला ही माना जा सकता है। पश्चिमी विश्लेषकों ने इसे सीमित सम्प्रभुता के सिद्धान्त की स्थापना का एक दुर्भाग्यपूर्ण और खतरनाक प्रयत्न ही समझा।

7.7 पश्चिमी एशिया या मध्यपूर्व के बदलते हालात

1971 से ही मध्यपूर्व में यह बात नजर आने लगी थी कि तेल संसाधनों के मालिक अरब राष्ट्र भविष्य में बहुत देर तक पश्चिमी आधिपत्य स्वीकार करने वाले नहीं हैं। पहले पहल इस बात का इशारा सऊदी अरब के तेल मंत्री, शेख यमनी ने दिया और उनका अनुसरण लिबिया के क्रान्तिकारी नेता कर्नल गद्दाफी ने किया। तेल के एक और प्रमुख उत्पादक ईरान के शाह की तो यह पुरानी आदत

थी कि वे तेल से अर्जित अपनी संपदा के प्रयोग से अमरीका को नीचा दिखा सके। कभी वे यह धमकी देते थे कि अमरीकी बैंकों में जमा अपनी पूँजी को कहीं और उठा ले जायेंगे तो कभी पैसेम जैसे एयरलाइन को खरीद अमेरिकियों के राष्ट्रीय अहं को ठेस पहुँचाते थे। यह हाल तब था जब उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अमेरीका का साथी-समर्थक समझा जाता था। ईराक पर बाथ पार्टी के नेता सद्दाम का कब्जा था और उनका रुझान आमतौर पर सोवियत संघ का पक्षधर ही रहा। कुल मिलाकर अमेरीका और पश्चिमी देशों को यह आशंका होने लगी थी कि मध्यपूर्व के तेल संसाधन निकट भविष्य में उनके प्रभुत्व से बाहर जा सकते हैं। तत्पश्चात् तेल की कीमतें अमेरीका और पश्चिम जगत को कमजोर करने के लिए ओपेक राष्ट्रों द्वारा कमरतोड़ ढंग से बढ़ाई जा सकती है। 1973 में इजराइलियों और अरबों के बीच योम कीपुर युद्ध लड़ा गया जिसने ऊर्जा तेल संकट को और भी विकट बना दिया। सोवियत संघ को चुनौती देने के लिए यदि किसी और प्रोत्साहन की जरूरत अमेरीका को थी तो उसे यह युद्ध ने पुरा कर दिया। वियतनाम से अमेरीकी फौज की वापसी ने भी महाशक्ति के रूप में उसका कद बौना ही बना डाला था। 1971 में जब बांग्लादेश पाकिस्तान से टूटकर अलग हुआ तो उस वक्त भी अपनी संधि मित्र की एकता-अखंडता की रक्षा करने में अमरीका असमर्थ ही रहा। अपनी राष्ट्रीय हितों की हिफाजत के लिए भारत ने सोवियत संघ के साथ शांति और मैत्री की संधि पर हस्ताक्षर कर भारत-सोवियत रिश्तों को एक नया सामरिक आयाम दिया। जब अमरीका ने भारत को धमकाने के लिए बंगाल की खाड़ी में अपना युद्ध पोत इंटरप्राइज भेजा और उसका कोई असर नहीं हुआ तो परिणामतः यह बात खुल गई कि इस महाशक्ति की क्षमता बदले परिप्रेक्ष्य में कितनी सीमित है।

1979 में एकाएक ईरान में मोहम्मद रजाशाह पहलवी का तख्ता पलट दिया गया। उनकी जगह अब तक फ्रांस में शरणार्थी की तरह रह रहे इमाम खोमैनी ने ले लिया। नई सरकार इस्लामी कानून, शरियत के अनुसार चलाई जाने लगी। और तेलकूपों समेत सभी राष्ट्रीय संसाधन का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। आरम्भ से ही अमरीका और नए ईरान के हितों का टकराव खुलकर सामने आ गया। बुनियादी सवाल तेल से जुड़ा हुआ था पर शाह के नाम पर जमा अकूत धन राशि को इमाम खोमैनी को सौंपना भी विवाद का कारण बना। जब ईरान विरोधी आचरण का अभियोग लगा अमरीकी दूतावास की नाकेबंदी कर दी गई और दर्जनों अमरीकी राजनयिक बंधक बना दिए गए तब इस अन्तर्राष्ट्रीय संकट ने और भी विस्फोटक रूप ले लिया। अमरीका अपने बंधकों को छुड़ाने के लिए वायु सेना का असफल प्रयोग किया तो अमरीका की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को जबर्दस्त धक्का लगा। दुर्भाग्य से इस अनुभव के बाद भी अमरीका ने ईरान में सत्ता परिवर्तन को उस देश का आंतरिक मामला स्वीकार नहीं किया। खोमैनी को सबक सिखाने के लिए उसके मुकाबले ईराक को खड़ा करने की रणनीति तैयार की गई। ईरान के साथ संघर्ष के लिए बड़े पैमाने पर उन्हें हथियार देना शुरू कर दिया गया। ईरान और ईराक दोनों ही इस क्षेत्र में अपना एकाधिकारी प्रभुत्व स्थापित करने के लिए समान रूप से उत्सुक रहे हैं और उनकी प्रतिद्वंद्विता पारम्परिक रही है। अमरीका के प्रोत्साहन से

ही खाड़ी युद्ध का विस्फोट हुआ। लगभग एक दशक तक चले इस सैनिक संघर्ष में दोनों पक्षों ने लाखों जाने गंवाई और बहुत बड़ी आर्थिक क्षति उठाई। कुल मिलाकर नए शीत-युद्ध में इस संवेदनशील क्षेत्रों को जोखिम ग्रस्त रखने से तनाव शैथिल्य का ही क्षय हुआ।

7.8 नये शीत-युद्ध की प्रकृति

नये शीत-युद्ध पहले शीत-युद्ध से काफी भिन्न था। पुराना शीत-युद्ध साम्यवाद विरोधी था उसका मूल उद्देश्य साम्यवाद का अवरोध था। इसके विपरीत नया शीत-युद्ध, सोवियत संघ विरोधी था, इसका उद्देश्य सोवियत संघ की बढ़ती हुई शक्ति और प्रभाव का प्रतिरोध करना था। पुराना शीत-युद्ध विचारधारा के घेरे में लड़ा गया था। इसका दायरा पूँजीवाद बनाम साम्यवाद अथवा लोकतंत्र बनाम सर्वहारातन्त्र का अधिनायकवाद था जबकि नया शीत-युद्ध विचारधारा के घेरे में नहीं लड़ा जा रहा था। इस युद्ध में साम्यवादी चीन पूँजीवादी अमरीका के साथ था। नए शीत-युद्ध का मुख्य आधार उपयोगिता और न्यस्त स्वार्थ थे न कि विचारधारा सोवियत शक्ति और प्रभाव के विस्तार के प्रति अमरीका इतना ईर्ष्यालु और सतर्क था कि उसे सीमित करने के लिए साम्यवादी चीन से मित्रता करने में कोई हिचकिचाहट महसूस नहीं होती। पुराने शीत-युद्ध के मुख्य पात्र अमरीका और सोवियत संघ थे जबकि नये शीत-युद्ध के मुख्य पात्र थे अमरीका, ब्रिटेन, चीन, फ्रांस और सोवियत संघ। एक तरफ अमरीका, चीन, ब्रिटेन, फ्रांस थे और दूसरी तरफ अकेला सोवियत संघ था। पुराने शीत-युद्ध में महाशक्तियों की प्रतिद्वंद्विता का मुख्य क्षेत्र यूरोप था। यद्यपि सीटो, सेण्टो जैसे संगठन बनाये गये थे परन्तु उस काल में नाटो संघठन ही लावा उगलता रहा। नये शीत-युद्ध काल में लावा उगलने वाले मुख्य क्षेत्र थे - फारस की खाड़ी, पश्चिमी एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया और हिन्द महासागर। पुराने शीत-युद्ध में शामिल होने के लिए यूरोपीय देश मजबूर थे। चूँकि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अपनी सुरक्षा और आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए वे अमरीका पर निर्भर थे अतः उनके लिए अमरीकी विदेश नीति का अनुकरण करना अपरिहार्य था। अब स्थिति काफी बदल गयी थी। फ्रांस और पश्चिमी जर्मनी अमरीकी विदेश नीति के पिछलग्गू बनकर नहीं रह सकते थे। न्यूट्रॉन बम का सफलतापूर्वक विस्फोट कर लेने से फ्रांस अब अपनी सुरक्षा के लिए अमरीका पर निर्भर नहीं था। पश्चिमी जर्मनी आर्थिक दृष्टि से न केवल आत्मनिर्भर था अपितु औद्योगिक और इलेक्ट्रॉनिक क्षेत्र में अमरीका को चुनौती देने की स्थिति में था। यही कारण था कि पश्चिमी जर्मनी और सोवियत संघ में व्यापार द्रुत गति से बढ़ रहा था।

प्रथम शीत-युद्ध काल में निर्गुट आन्दोलन का अभ्युदय हुआ और निर्गुट आन्दोलन का उद्देश्य महाशक्तियों के मध्य सेतुबन्ध का कार्य करना था। दूसरे शीत-युद्ध काल में निर्गुट राष्ट्र स्वयं गुटबन्दी के शिकार होते जा रहे थे और निर्गुट मंच पर कुछ देश अमरीका की तरफदारी करने लगे तो कुछ देश सोवियत संघ की तरफदारी। नये शीत-युद्ध महाविनाशकारी शस्त्रों के जमाव एवम भण्डारण से भय और मानसिक तनाव उत्पन्न करके लड़ा जा रहा था। महाशक्ति प्रत्यक्ष टकराव की स्थिति के बजाए

एजेण्ट के माध्यम से युद्धरत थी। पहला शीत-युद्ध स्टालिन की उग्र आक्रामक नीतियों का परिणाम था। स्टालिन सोवियत शक्ति में वृद्धि करना चाहता था ताकि वे अमरीका के सामने एक महाशक्ति बन सके। नया शीत-युद्ध अमरीकी मजबूरियों का परिणाम था अब अमरीका औद्योगिक समान और इलेक्ट्रॉनिक्स में फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी और जापान के साथ प्रतिद्वंद्विता नहीं कर सकता था अतः विश्व में शस्त्रों का निर्यात करना चाहता था क्योंकि यही एक ऐसा उद्योग है जहाँ उसे पश्चिमी देशों की प्रतिद्वंद्विता सहन नहीं करनी पड़ती। शस्त्र उद्योग का विकास अमरीका की आर्थिक स्थिति में सुधार हेतु आवश्यक माना जा रहा था। इसलिए अमरीका नाटो के सैनिक बजट में वृद्धि चाहता था और मित्र राष्ट्रों का शस्त्रीकरण चाहता था। इसलिए उसने साल्ट वार्ताओं को स्थगित कर दिया और दितान्त को तिलांजलि देने की तैयारी कर ली।

7.9 शस्त्रीकरण की होड़

नये शीत-युद्ध काल में शस्त्रों की होड़ शुरू हो गयी। जहाँ पहले शीत-युद्ध में 1962 के क्यूबा संकट के बाद दितान्त की शुरूआत हुई। दितान्त सम्बन्धों के इस युग में सीमित परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध संधि 1963, परमाणु अप्रसार संधि 1968, मॉस्को-बोन समझौता 1970, बर्लिन समझौता 1971, यूरोपीय सुरक्षा एवं सहयोग सम्मेलन 1973-75, साल्ट वार्ताएँ 1972 आदि प्रमुख उपलब्धि कही जा सकती है वही नये शीत-युद्ध काल में शस्त्रीकरण का एक ऐसा दौर शुरू हुआ जिससे इन सभी प्रयासों को काफी धक्का लगा। रोनाल्ड रीगन के ह्वाइट हाउस में प्रवेश लेते ही शस्त्र उद्योग को बढ़ावा दिया गया, शस्त्रों की होड़ तेज की गयी मित्र राष्ट्रों को विशेषकर पाकिस्तान को एफ-16 जैसे वायुयानों एवं खतरनाक अस्त्रों से लैस किया गया। नाटो के सुरक्षा बजटों में वृद्धि की गयी। रीगन ने स्टारवार्स नामक एक योजना की घोषणा की जिससे अब तक मान्यता प्राप्त एटमी रणनीति और सामरिक राजनय की सभी स्थापनाओं को उलट-पुलट कर दिया। वास्तव में स्टारवार्स परियोजना का पूरा नाम था स्ट्रेजिक डिफेंस इनीसिएटिव जिसके अन्तर्गत अमेरिकी वैज्ञानिकों का आह्वान एक ऐसे अभेद्य रक्षा कवच के आविष्कार के लिए किया गया था जिसे किसी भी शत्रु का कोई भी प्रक्षेपास्त्र न भेद सके। ऐसा कहा जाता है कि कैनेडी-मेक्नामारा टीम ने 1960 के दशक में शस्त्रों के निर्माण का जो कार्यक्रम बनाया था राष्ट्रपति कार्टर ने उससे भी विशाल स्तर पर शस्त्रीकरण की पहल की। सन् 1986 के उत्तरार्द्ध में अमरीकी स्टारवार्स कार्यक्रम के विरुद्ध सोवियत संघ ने भी जवाबी कार्यवाही आरम्भ कर दी। सोवियत वैज्ञानिकों की एक विशेष समिति ने कहा कि अमरीकी कार्यक्रम के विरुद्ध प्रतिरोधी और अप्रतिरोधी दोनों तरह के उपाय किये जायेंगे। प्रतिरोधी कार्यक्रम के अन्तर्गत छोटे प्रक्षेपास्त्रों, अतिरिक्त विस्फोटकों और उच्च क्षमता वाले लेसर शस्त्रास्त्रों का विकास किया जायेगा। 26 फरवरी 1987 को लगभग डेढ़ वर्ष बाद सोवियत संघ ने अपने ऊपर लगाये गये प्रतिबन्ध को समाप्त करते हुए पहला परमाणु परीक्षण किया। उसने अपना अन्तिम परमाणु परीक्षण 25 जुलाई 1985 को किया था। उसने अमरीका को चेतावनी दी कि यदि 1987 में

अमरीका ने परमाणु परीक्षण किया तो वह भी इसे पुनः शुरू कर देगा। सोवियत संघ ने अमरीका के प्रभाव को नियंत्रित करने के लिए पूर्वी यूरोपीय देशों में नई किस्म की 20 मध्य दूरी की मारक मिसाइलों को लगाया। अफ्रीका में अपने सैनिक अड्डों को सुदृढ़ किया। शीत-युद्ध के इस चरण में दोनों महाशक्तियों में शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्धा शुरू हो गयी जिससे विश्वशान्ति को एक बार फिर से खतरा होने लगा। नये शीत-युद्ध की मानसिकता ने परमाणु ही नहीं पारम्परिक शास्त्रास्त्रों के मामलों में भी निःशस्त्रीकरण को नुकसान पहुँचाया। स्टारवार्स परियोजना को इस युग की शास्त्रास्त्रों की होड़ का अब तक का सबसे खतरनाक उदाहरण माना जाता है।

प्रश्न- नव-शीत-युद्ध के कारणों का वर्णन करे?

उत्तर- नव-शीत-युद्ध के शुरुआत के निम्नांकित कारण थे। दितान्त के युग में सोवियत संघ परमाणु और नौ-सैनिक शक्ति में अमरीका की बराबरी करने का प्रयत्न कर रहा था। जब अमरीका वियतनाम युद्ध में उलझा हुआ था तब सोवियत संघ ने अपनी शक्ति में वृद्धि की। दूसरे शीत-युद्ध के शुरुआत का एक कारण राष्ट्रपति कार्टर और रोनाल्ड रीगन की उग्र नीति रही। अन्तरिक्ष अनुसंधान में सोवियत संघ और अमरीका में होड़ शुरू हो गयी। दोनों देशों ने अपने जितने उपग्रह छोड़े उनमें से 75 प्रतिशत उपग्रह सैनिक उपयोग के लिए थे। उनका इस्तेमाल एक-दूसरे के सैनिक गतिविधियों पर नजर रखने के लिए किया जाता था। नव-शीत-युद्ध का एक महत्वपूर्ण कारण सोवियत संघ का अफगानिस्तान में हस्तक्षेप को माना जाता है। इस हस्तक्षेप से अमरीका हड़बड़ा उठा। उसे लगने लगा कि सोवियत संघ साम्यवाद का प्रसार करना चाहता है। दक्षिण-पूर्वी एशिया में भी सोवियत प्रभाव बढ़ रहा था। यूरोप में सोवियत संघ द्वारा मध्य मार प्रक्षेपास्त्रों को लगाने का निर्णय, अमरीका द्वारा स्टारवार्स परियोजना की घोषणा ये सभी नव-शीत-युद्ध के प्रमुख कारण थे। इन्हीं सब कारणों से विश्व एक बार फिर तनाव स्थित की दौर से निकल कर नव-शीत-युद्ध की ओर अग्रसर हो गया।

7.10 सारांश

समग्र रूप से इस अध्याय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नव-शीत-युद्ध और शस्त्रीकरण की होड़ की अवधारणा का विस्तार से वर्णन किया गया है। यह एक राजनयिक युद्ध था। यह रणक्षेत्र में नहीं लोगों के मस्तिष्कों में लड़ा गया। शीत-युद्ध में सशस्त्र सेनाओं ने भाग नहीं लिया केवल राजनयिक कार्यों के द्वारा पूर्व और पश्चिम के मध्य तनाव को उच्च स्तर पर बनाए रखा गया। इसमें सबसे पहले शीत-युद्ध की उत्पत्ति इसके बाद नव-शीत-युद्ध की उत्पत्ति, नव-शीत-युद्ध के कारण, अमरीकी कूटनीति का प्रयोग, पश्चिमी एशिया के बदलते हालात नये शीत-युद्ध की प्रकृति, शस्त्रीकरण की होड़ का वर्णन किया गया है। नये व दूसरे शीत-युद्ध काल में शान्तिपूर्ण प्रतिद्वंद्विता का स्थान आक्रामक राजनीतिक-सैनिक प्रतिद्वंद्विता ने ले लिया, युद्ध मनोदशा और युद्ध उन्माद का युग प्रारम्भ हुआ।

7.11 शब्दावली

दितान्त- दितान्त से अभिप्राय है सोवियत अमेरिकी रिश्तों में तनाव-शैथिल्य और उनमें दिन-प्रतिदिन बढ़ती मित्रता, सहयोग और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना का विकास।

स्टारवार्स- स्टारवार्स अमेरिका की नयी प्रतिरक्षा परियोजना।

निर्गुट- यह उन देशों को कहा जाता है जो दोनों महाशक्तियों से समान दूरी बनाये रखा और किसी भी शक्ति गुट में शामिल नहीं हुआ।

मित्र-राष्ट्र- द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मनी, ईटली और जापान के विरुद्ध जिन देशों का संगठन बना उन्हें मित्र-राष्ट्र कहा गया।

धुरी-राष्ट्र- द्वितीय विश्व-युद्ध में जर्मनी, इटली और जापान को संयुक्त रूप से धुरी-राष्ट्र कहा गया।

नाटो- अमेरिका के नेतृत्व में बना सैन्य संगठन।

हॉटलाईन समझौता- महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय संकट के समय दोनों महाशक्तियों में सीधा सम्पर्क स्थापित करके संकट का निर्वारण करना।

7.13 संदर्भ ग्रंथ

1. लूकास इडवर्ड (2009), द न्यू कोल्ड वार: हॉव द क्रेमलीन मयनेस बोध एशिया एण्ड द बेस्ट, कीन्डले एडिशन।
2. पंत पुष्पेश (2008), 21वीं शताब्दी में अंतर्राष्ट्रीय संबंध, टाटा मेकग्रोव हील पब्लिकेशन कम्पनी लिमिटेड।
3. खन्ना बी.एन. (2003), अन्तर्राष्ट्रीय संबंध, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा.लि.

7.14 सहायक उपयोगी पाठ्य-सामग्री

1. हेवूड एन्ड्र्यू (2011), ग्लोबल पॉलिटिक्स, पेलग्रेव फाउण्डेशन
2. फाड़िया बी.एल. (2008), अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा

7.15 निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न- नव-शीत-युद्ध के प्रकृति एवं कारणों का वर्णन करते हुए शस्त्रीकरण की होड़ का वर्णन करें?

ईकाई-8 : निः शस्त्रीकरण एवं नियंत्रण की उपाय

ईकाई की संरचना

- 8.1 प्रस्तावना
- 8.2 उद्देश्य
- 8.3 नाभिकीय प्रसार और नियंत्रण
- 8.4 अंतर्राष्ट्रीय शक्ति राजनीति में आणविक प्रसार
- 8.5 परमाणु युग का जन्म
- 8.6 आणविक शस्त्रों की प्रकृति
- 8.7 शीतयुद्ध से पूर्व नाभिकीय प्रसार
- 8.8 शीतयुद्ध के बाद नाभिकीय प्रसार
- 8.9 आणविक शस्त्रों का विस्तार
- 8.10 निःशस्त्रीकरण की दिशा में किये प्रयास
 - 8.10.1 राष्ट्र संघ द्वारा किये गये निःशस्त्रीकरण के प्रयास
 - 8.10.2 राष्ट्र संघ से बाहर किये गये निःशस्त्रीकरण के प्रयास
 - 8.10.3 द्वितीय महायुद्ध के बाद निःशस्त्रीकरण के प्रयास
- 8.11 सारांश
- 8.12 शब्दावली
- 8.13 संदर्भ ग्रंथ
- 8.14 सहायक /उपयोग पाठ्यक्रम
- 8.15 निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान विश्व में विभिन्न देशों के मध्य अपनी उत्तरजीविता को बनाये रखने के लिए शास्त्रों की होड़-सी चल गई थी। शास्त्रों की होड़ ने 'परमाणु युग' को जन्म दिया, इसका कारण अमेरिका ने 16 जुलाई 1945 को न्यू मैक्सिको के 'आल्मागार्दो रेगिस्तान' Alamogordo Desert, New Mexico में विश्व के पहले परमाणु परीक्षण के साथ ही कर दिया। यह परमाणु परीक्षण विश्व भर में 'परमाणु प्रसार' के रूप बदल गया। गौरतलब है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में 'नाभिकीय प्रसार और नियंत्रण' एक महत्वपूर्ण 'मुद्दे' के रूप में उभर कर आया है। परिणाम स्वरूप 'परमाणु युग की शुरुआत' शीत युद्ध के पहले और बाद में 'आणविक शस्त्रों' का वैसे प्रसार हुआ, यह मुख्य मुद्दा बनकर उभरा।

किन्तु इसके साथ-ही-साथ 'इस प्रश्न' की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है कि 'क्या आणविक शक्ति के बल पर ही अंतर्राष्ट्रीय शक्ति राजनीति में स्थान पाना संभव है?' आणविक शास्त्रों के प्रसार को दो पहलुओं से देखा जा सकता है -

प्रथम पहलू बम वह कुंजी है जो विदेश नीति के अनेक तालों को एक साथ खोल देती है। आणविक शक्ति संपन्न राष्ट्र का हर स्तर पर औहदा रातों-रात उँचा हो जाता है। उदाहरणस्वरूप अमेरिका, जापान पर हमला के बाद अंतर्राष्ट्रीय जगत में महाशक्ति बन गया था।

दूसरा पहलू आणविक शस्त्रों से शक्ति राजनीति में राज्य की प्रतिष्ठा में वृद्धि हो यह आवश्यक और जरूरी नहीं है। उदाहरणस्वरूप ब्रिटेन परमाणु सम्पन्न होने के बावजूद अपनी प्रतिष्ठा नहीं पा सका। गौरतलब है कि परमाणु सम्पन्न राष्ट्र बनने के बावजूद राष्ट्रों को इसके द्वारा उत्पन्न 'मानवता' और 'पर्यावरण' दोनों के लिए 'विनाशकारी' सिद्ध हो सकता है।

परिणामस्वरूप 'परमाणु प्रसार' के साथ-साथ 'परमाणु नियंत्रण' महत्वपूर्ण मुद्दा है क्योंकि महाशक्ति होना और अणु शस्त्रों का निर्माण करना दोनों एक-दूसरे के पूरक नहीं माने जा सकते। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्तिशाली होने के लिए राष्ट्रीय शक्ति के अन्य आवश्यक तत्वों के साथ-साथ सबल प्रतिरक्षात्मक शक्ति से सम्पन्न होना अति महत्वपूर्ण है। इसके साथ ही आर्थिक और तकनीकी विकास द्वारा राष्ट्रीय विकास अपनी चरम सीमा पर हो, तभी कोई राष्ट्र, सत्ता केन्द्रों में स्थान पा सकता है।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त -

- अंतर्राष्ट्रीय शक्ति राजनीति में आणविक प्रसार को जान सकेंगे।
- परमाणु युग के जन्म को जान सकेंगे।
- आणविक शस्त्रों की प्रकृति समझ सकेंगे।

- निःशस्त्रीकरण की दिशा में किये प्रयास को भी विस्तार से जान सकेंगे।

8.3 नाभिकीय प्रसार और नियंत्रण

‘परमाणु प्रसार और नियंत्रण’ अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारणीय मुद्दा है, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति ‘सुरक्षा’ वेफ इर्द-गिर्द घुमती नजर आती रही है। ‘सुरक्षा’ की गंभीरता को ध्यान में रखकर हर राष्ट्र स्वयं को सैन्य रूप से सुदृढ़ करने वेफ लिए हथियारों को भी उतना ही महत्व देता है। 1945 में अमेरिका ने जब विश्व को ‘परमाणु बम’ से परिचित कराया, संसार वेफ अन्य देशों ने भी ‘सुरक्षा’ की दृष्टि अधिक उपर्युक्त मानते हुए उसका परीक्षण किया और परमाणु सम्पन्न राष्ट्र बन गये। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ‘सुरक्षा’ वेफ साथ-साथ परमाणु प्रसार से बढ़ते खतरे को भी उतनी गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है, परिणामस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ‘नियंत्रण की राजनीति’ को महत्व दिया गया है।

यह ‘मुद्दा’ विचारणीय है कि जिस गंभीरता के साथ राष्ट्रों ने ‘परमाणु प्रसार’ को लिया, क्या ‘परमाणु अप्रसार’ को भी उसी गंभीरता वेफ साथ ले रहे हैं? अतः ‘परमाणु प्रसार और नियंत्रण’ में यह मुद्दा ही विचारणीय है।

‘परमाणु प्रसार और नियंत्रण’ अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर महत्वपूर्ण चर्चा का विषय बन गया है, इस चर्चा का प्रारंभ 1945 में हुआ कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ‘सुरक्षा’ सबसे अहम मुद्दा है। इसीलिए अमेरिका ने अपनी ‘सुरक्षा’ की आड़ में परमाणु बम का परीक्षण किया। धीरे-धीरे विश्व के अधिकांश राष्ट्र ‘अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ‘सुरक्षा’ के मुद्दे को महत्ता देते हुए स्वयं को परमाणु सम्पन्न राष्ट्र कहलाने के लिए उत्सुकता दिखाने लगे, यहाँ तक कि तृतीय विश्व के देशों भी ‘सुरक्षा’ की गंभीरता को स्वीकारते हुए परमाणु सम्पन्न देश बन गये।

परमाणु प्रसार और नियंत्रण आज के समय में अधिक महत्वपूर्ण मुद्दा है क्योंकि एक विषय के रूप में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ‘सुरक्षा’ के नाम पर परमाणु प्रसार ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर ‘सुरक्षा’ के लिए ही गंभीर खतरा उत्पन्न कर दिया है।

यह मानवता तथा पर्यावरण दोनों के लिए ‘अतिसंवेदनशील’ खतरा उत्पन्न कर सकता है, गौरतलब है कि ‘परमाणु प्रसार के लिए नियंत्रण’ अधिक संजीदा मुद्दा बन गया है कि परमाणु प्रसार की दौड़ को बढ़ने से रोका जाए! पहले से मौजूद आणविक शस्त्रों को समाप्त तो नहीं किया जा सकता है, किन्तु उनके ‘उपयोग और दौड़’ पर नियंत्रण लगाये जाने के लिए मार्ग तलाश किये जाए, परमाणु बम के विनाशकारी विध्वंस से मानवता और पर्यावरण दोनों को बचाया जा सके। जापान जैसी विभीषण त्रासदी फिर से न लाई जा सके।

8.4 अंतर्राष्ट्रीय शक्ति राजनीति में आणविक प्रसार

विश्व में होने वाले 'विनाशकारी मुद्दों' के रूप परमाणु प्रसार के पीछे राष्ट्रों में शस्त्रीकरण की होड़ एक प्रमुख कारण रहा है। इस सदी के प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध शस्त्रीकरण के फलस्वरूप राष्ट्रों द्वारा शक्ति-संतुलन की सीमा लांघ जाने की प्रक्रिया या उससे जुड़े हुए भय के कारण ही भड़क उठे थे। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पेरिस के शांति सम्मेलन में मित्र-राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने जर्मनी और उसके मित्र देशों को विसैन्यीकृत करके उनकी सैन्य शक्ति तथा शस्त्रीकरण की सामर्थ्य को परिसीमित कर दिया था, किन्तु इससे यूरोप के देशों में शस्त्रीकरण की होड़ कम नहीं हुई।

सन् 1920-36 के मध्य अनेक सम्मलेनों द्वारा विश्व की प्रमुख शक्तियों ने निःशस्त्रीकरण की दिशा में कुछ निर्णय लिए, जिनका कारगर साबित न होना द्वितीय विश्व-युद्ध को भड़काने का प्रमुख कारण था। इस युद्ध की विभीषिका के बावजूद विश्व का साम्यवादी सोवियत संघ और गैर-साम्यवादी अमेरिका का दो खेमों में बंट जाना निःशस्त्रीकरण का घोर शत्रु साबित हुआ।

यह दोनों ही गुट परमाणु शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा में एक-दूसरे को पीछे धकेलने की नियति से अधिकाधिक परमाणु शस्त्रास्त्र जमा करने लगे। परिणामस्वरूप 'नाभिकीय प्रसार' का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उदय हुआ।

8.5 परमाणु युग का जन्म

अमेरिका के द्वारा Manhattan प्रोजेक्ट के अंतर्गत 'परमाणु बम' का आविष्कार किया गया था। 18 जुलाई 1945 को अमेरिका द्वारा परमाणु बम का प्रथम परीक्षण न्यू मैक्सिको के रेगिस्तान में किया गया था। परमाणु बम का अमेरिका द्वारा परीक्षण 'हथियारों के युग' में 'नये प्रकार के हथियार' का आविष्कार तथा 'परमाणु युग' की ओर प्रारंभ था। 6 अगस्त 1945 की घटना ने संसार को हथियारों से किये जाने वाले हमलों के एक 'नया युग' में प्रवेश दिलाया।

6 अगस्त 1945 को अमेरिका जापान के हिरोशिमा शहर पर प्रथम बार 'आणविक हमला' किया, यह हमला 'आणविक युग' का सूत्रपात था। इसके तीन दिन बाद ही जापान के ही दूसरे शहर नागासाकी पर 'आणविक हमला' किया गया था।

अमेरिका द्वारा जापान पर किये गये इन हमलों ने संसार को नये हथियार के रूप में 'नाभिकीय परमाणु बम' प्रदान किये गये।

हिरोशिमा पर गिराये गये बम को 'Little Boy' के नाम से जाना जाता है, यह 60 किलोग्राम न-235 तथा 12-15 किलोटन TNT से निर्मित किया गया था। परमाणु बम ने 60 प्रतिशत से अधिक शहर को बर्बाद कर दिया था, जिसमें 70,000-80,000 लोग तुरंत मारे गए जोकि बाद में बढ़कर 200,000 तक पहुँच गई थी। इसके साथ-ही-साथ विस्फोट से निकली विकिरणों से लोग कैंसर से पीड़ित हो रहे हैं।

नागासाकी में गिराया परमाणु बम हिरोशिमा में गिराये परमाणु बम की तुलना बड़ा तथा अत्याधिक विनाशकारी था, इसे 'Fatman' के नाम से जाना जाता है। यह परमाणु बम करोड़ों किलोटन प्लुटोनियम 239 तथा 22 किलोटन था, इसने लगभग 30 प्रतिशत नागासाकी ही शेष बचा था, इस शहर में केवल 40 हजार लोग बचे थे, जबकि इसके कारण 75 हजार लोग मृत हो गये थे।

इन दोनों शहरों के विनाशक विस्फोट ने जापान के सम्राट की जड़ें तक हिला दी, 12 अगस्त 1945 को जापान के सम्राट हिरोहितो ने समर्पण की घोषणा कर दी। जापान पर किया गया नाभिकीय हमला अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को एक नई दिशा दे रहा था।

अमेरिका नाभिकीय शक्ति संपन्न देश बनकर विश्व में स्वयं को महाशक्ति के रूप में रखना चाहता था। जापान पर परमाणु हमले के पीछे उसका मुख्य उद्देश्य सोवियत संघ के बढ़ते प्रभाव को कम करना था। अमेरिका की सोवियत संघ को रोकने की मंशा ने 'युद्ध' न होते हुए भी 'युद्ध' जैसी स्थिति का वातावरण अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उत्पन्न कर दिया था, जिसे 'शीत युद्ध' के नाम से जाना जाता है। आणविक शस्त्रों के निर्माण ने शीत युद्ध के उदय में निर्णायक भूमिका निभाई, इसने युद्ध को नई दिशा की ओर अग्रसर किया।

अमेरिका परमाणु संपन्न देश बनाकर सोवियत संघ को अपना वर्चस्व स्वीकार करना चाहता था, इसके विपरीत सोवियत संघ ने आणविक शक्ति सम्पन्न बनाने की अपनी तीव्र इच्छा व्यक्त की।

29 अगस्त 1949 अमेरिका के परमाणु बम के भण्डारण के एकाधिकार को समाप्त करते हुए सोवियत संघ ने अपना पहला सफल परमाणु बम परीक्षण किया। सोवियत संघ ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में परमाणु हथियारों की दौड़ को उर्जा प्रदान कर दी थी।

अमेरिका और सोवियत संघ 'Balance of Terror' के आधार पर अधिक से अधिक परमाणु हथियारों के प्रसार को बढ़ावा दे रहे थे। मई 1951 में अमेरिका ने और नवम्बर 1952 में सोवियत संघ ने अपने प्रथम हाइड्रोजन शक्ति परीक्षण किये। 1954-55 में दोनों ने हाइड्रोजन बम बना लिये। अक्टूबर 1957 में रूसी 'स्पूतनिक' के सफल परीक्षण के बाद दूरगामी या अंतरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का युग आरम्भ हुआ। अब दोनों महाशक्तियाँ घर बैठे एक-दूसरे पर और साथ ही दुनिया के किसी भी भू-क्षेत्र पर बम बरसा सकती थी। लगभग एक दशक पूर्व दोनों महाशक्तियों ने एम.आई.आर.वी. या 'मिर्व' नामक ऐसे प्रक्षेपास्त्रों का आविष्कार किया, जिन पर एक साथ बहुत से मेगाटन के परमाणु बम लादे जा सकते हैं तथा कम्प्यूटर के पूर्व निर्देश पर अलग-अलग कई निशानों पर ठीक-ठीक और बड़ी तेजी से गिराये जा सकते हैं।

8.6 आणविक शस्त्रों की प्रकृति

परमाणु बम यूरेनियम-235, प्लुटोनियम के साथ-साथ भारी मात्रा में न्यूट्रॉन से मिलकर बनाया जाता है, इन्हें मिलकर बनाया गया बम अतिशक्तिशाली होता है जिसे 'हाइड्रोजन बम' भी कहा जाता है। परमाणु बम नाभिकीय विखण्डन के रूप में कार्य करता है, अर्थात् इस प्रक्रिया द्वारा इसका विस्फोट

किया जाता है। परमाणु बम का अत्यधिक शक्तिशाली रूप Thermonuclear रूप कहलाता है। ऐसा माना जाता है कि हिरोशिमा और नागासाकी में गिराये गये बम Thermo Nuclear की तुलना में काफी छोटे थे, यह बम जापान में गिराये गये परमाणु बमों की अपेक्षा 2000 गुना अधिक विनाशकारी होने की शक्ति रखते हैं।

वर्तमान समय में परमाणु हथियारों के अत्यधिक नये रूप विकसित हुए हैं उदाहरण के लिए 1948 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने Weapons of Mass Destruction (WMD) से परिचित कराया है। WMD के श्रेणी से निकलकर Chemical and Biological Weapons (CBW) बनाया गया है। Atomic Biological and Chemical (ABC) इन्हें मिलाकर भी एक नये परमाणु बम की संरचना की गई है।

1945 में अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा के मुद्दे में नाभिकीय प्रसार का मुद्दा मुख्य मुद्दे के रूप में उभरकर क्यों आया? अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में 'सुरक्षा' का मुद्दा बहुत ही गंभीर मुद्दा, इस पर विभिन्न राष्ट्र किस प्रकार कार्य कर रहे थे? इसके लिए 'शीत युद्ध से पूर्व' तथा 'शीत युद्ध के बाद' शस्त्रों के प्रसार को जानना महत्वपूर्ण है।

8.7 शीतयुद्ध से पूर्व नाभिकीय प्रसार

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का परम्परागत स्वरूप में विचारकों का मानना था कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति 'भय और अनिश्चितताओं' से घिरी है। इस स्थिति से निकलने के लिए राष्ट्रों को सैन्य-रूप से मजबूत बनना होगा, जिसमें राष्ट्रों के पास अपने को सैन्य रूप से सुदृढ़ करने के लिए शस्त्रों का होना आवश्यक था। राष्ट्रों ने 'सुरक्षा की सुविधा' के मद्देनजर हथियारों के प्रसार को बढ़ावा दिया। परिणामस्वरूप शीत युद्ध से पूर्व ही हथियारों की होड़ तथा प्रसार का प्रारंभ हो गया था। नाभिकीय प्रसार को अमेरिका तथा सोवियत संघ के मध्य भय के निवारण के रूप में बढ़ावा दिया गया।

अमेरिका ने स्वयं को 1945 में परमाणु सम्पन्न राष्ट्र घोषित किया, सोवियत संघ ने 1949 में स्वयं को परमाणु सम्पन्न राष्ट्र बना लिया। कहीं न कहीं नाभिकीय प्रसार के पीछे राष्ट्रों में लगी 'प्रतिष्ठा और ओहदे' की होड़ भी एक महत्वपूर्ण कारक था। परमाणु हथियारों के निर्माण के होड़ ने "परमाणु सम्पन्न राष्ट्रों के समूह" का निर्माण किया। यह समूह संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् (UNSC) के 5 स्थाई सदस्य से मिलकर बना था। सुरक्षा परिषद् के सदस्य बारी-बारी से परमाणु सम्पन्न राष्ट्र बन गये थे। अमेरिका (1945) सोवियत (1949), ब्रिटेन (1952), फ्रांस (1960), चीन (1962)। शीत युद्ध के पूर्व शस्त्रों के प्रसार का अंदेशा शीत युद्ध के दौरान पूर्णतः वास्तविकता में बदल गई। शीत युद्ध से पूर्व ही नाभिकीय प्रसार को भय और 'निवारण' तथा 'प्रतिष्ठा' के प्रश्न के कारण अत्यधिक बढ़ावा मिला था।

8.8 शीतयुद्ध के बाद नाभिकीय प्रसार

शीत युद्ध के मध्य तक निशस्त्रीकरण को बढ़ावा दिये जाने के लिए संधियों और समझौतों का दौर चल गया था। संधियों और समझौता का उद्देश्य था कि नाभिकीय अप्रसार, दोनों महाशक्तियों की परमाणु शस्त्रों में कमी की जाए। सोवियत संघ और अमेरिका के गुटबंदी से हटकर कुछ राष्ट्र अपने पैरों पर खड़े होकर स्वयं नाभिकीय सम्पन्न राष्ट्र बनाने की घोषणा कर रहे थे। परिणामस्वरूप नाभिकीय प्रसार अब इन दोनों खेमों से बाहर निकलकर अन्य राष्ट्रों के द्वारा नाभिकीय परीक्षण किये गये। इन दोनों खेमों से हटकर कुछ राष्ट्र अपनी क्षेत्रीय समस्याओं के निपटारे के लिए परमाणु सम्पन्न बनना चाहते थे। उदाहरण स्वरूप भारत और पाक दोनों देशों में आपसी प्रतिद्वंद्विता के कारण भारत ने 18 मई 1974 को पोखरण परमाणु परीक्षण किया।

पाकिस्तान ने भारत को जबाब देने की मंशा से, तथा कुछ अन्य कारणों से स्वयं को परमाणु सम्पन्न राष्ट्र बनाया। इसके अलावा ईजराइल, ईराक, नार्थ कोरिया, परमाणु सम्पन्न राष्ट्र बनने के 'दहलीज' पर खड़े हैं। परिणामस्वरूप उत्तर शीत युद्ध काल 'दूसरे परमाणु युग' को आगाज देता हुआ नजर आता है।

8.9 आणविक शस्त्रों का विस्तार

1945 में अमेरिका ने आल्मागादो परीक्षण के 51 वर्ष पूरे होते-2 परीक्षणों की संख्या 2000 के पार जा पहुँची। 1945 से अब तक 2060 परमाणु परीक्षण किये जा चुके हैं। अमेरिका ने सर्वाधिक 1032, रूस ने 715 ब्रिटेन ने 45, फ्रांस ने 210, चीन ने 45, भारत ने 6, पाकिस्तान ने 6, उत्तर कोरिया ने 1 परीक्षण किया है।

स्टाकहोम स्थित इंटरनेशनल पीस रिसर्च इन्स्टीट्यूट की प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार ईजराइल के पास 100 परमाणु हथियार बनाने लायक पर्याप्त सामग्री है। भारत के पास 60, पाकिस्तान के पास 10 परमाणु बम बनाने की सामग्री है। विश्व में कुल भण्डार इस समय क्रमशः एक हजार और 1300 टन है। इससे 50 हजार परमाणु बम बनाये जा सकते हैं। यह स्थिति अत्यन्त खतरनाक स्थिति है।

तालिका दर्शाती है कि विश्व में विभिन्न राष्ट्र अनुमानतः इस संख्या में भविष्य में आणविक शस्त्रों का निर्माण कर सकते हैं।

देश	अनुमानतः शस्त्रों का निर्माण
रूस	4,650
अमेरिका	2,468
फ्रांस	300
चीन	180
ब्रिटेन	160

भारत	60-80
पाक	70-90
ईजराइल	60-80
उत्तरी कोरिया	8-12 बम बनाने के उपर्युक्त प्लुटोनियम

स्रोत : एन्ड्रयु हैबुड 'ग्लोबल पोलिटिक्स',

यह तालिका सिद्ध कर रही है कि विश्व में परमाणु बम का जखीरा अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए भयंकर खतरा उत्पन्न कर रहा है। अमेरिका द्वारा किया गया 'परमाणु हमला' इतना अधिक विनाशकारी थी कि इसने 'मानवता और वातावरण' दोनों को ही नष्ट किया। इस घटना ने संसार को 'परमाणु प्रसार' से 'परमाणु नियंत्रण' को बढ़ाने के लिए सोचने के लिए मजबूर किया। तथा परमाणु निरस्त्रीकरण का मुद्दा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक गंभीर मुद्दा बनकर उभरा था।

8.10 निःशस्त्रीकरण की दिशा में किये प्रयास

निःशस्त्रीकरण का अर्थ मौजूदा हथियारों के नियंत्रण के लिए किया जाता है। विश्व में शस्त्रों की होड़ तथा मौजूदा हथियारों पर नियंत्रण के लिए 'निःशस्त्रीकरण' का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उदय हुआ। अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए निःशस्त्रीकरण अनिवार्य है ताकि अंतर्राष्ट्रीय समाज में अवैध हिंसा एवं शक्ति के प्रयोग को रोका जा सके।

निःशस्त्रीकरण की दिशा में किये गये प्रयासों का इतिहास अनेक असफलताओं तथा कुछ सफलताओं की कहानी है। निःशस्त्रीकरण का प्रारंभ विश्व युद्ध की भयानकता से विश्व को बचाने के साथ ही हुआ था, ताकि फिर से विश्व को युद्ध का संकट न झेलना पड़े किन्तु यह सिर्फ एक प्रयास बनकर रह गया, जिसे द्वितीय विश्व के प्रारंभ ने सिद्ध किया था।

8.10.1 राष्ट्र संघ द्वारा किये गये निःशस्त्रीकरण के प्रयास

1. शांति और सुरक्षा के लिए निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता का अनुभव करते हुए पेरिस के शांति समझौते की विचित्र संधियाँ।
2. जनवरी 1920 में एक स्थायी परामर्शदाता आयोग (Permanent Advisory Commission) बनाया गया, 1923 में पारस्परिक सहायता की संधि का मसविदा (Draft Treaty of Mutual Assistance)।
3. 1924 में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के लिए सच्चीकरण आयोग बनाया गया।
4. राष्ट्र संघ का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन (Conference for the Reduction and Limitation of Armaments) जेनेवा में 3 फरवरी 1932 को हुआ।

8.10.2 राष्ट्र संघ के बाहर किये गये निःशस्त्रीकरण के प्रयास

1. वाशिंगटन सम्मेलन (1921-22) राष्ट्र संघ ने जिस समय अपना निःशस्त्रीकरण का कार्य आरंभ किया, उसी समय वाशिंगटन में राष्ट्र संघ से सर्वथा पृथक् विभिन्न देशों की जलीय शक्ति को नियंत्रित करने के लिए हुआ।
2. जेनेवा सम्मेलन (1927) वाशिंगटन सम्मेलन की सफलता से प्रभावित होकर जेनेवा में 5 महीने में पुनः जलशक्तियों का एक सम्मेलन बुलाया गया।
3. लंदन नौसैनिक सम्मेलन (1930) 21 जनवरी 1930 से आरंभ होने वाले इस सम्मेलन में ब्रिटिश प्रतिनिधियों ने सब महाशक्तियों द्वारा सब प्रकार के रणपोतों के निर्माण को घटाने पर बल दिया।
4. द्वितीय विश्व के प्रारंभ होने के कारण निःशस्त्रीकरण संबंधी समझौते असफलता के अंधकार में भटक रहे थे।

8.10.3 द्वितीय महायुद्ध के बाद निःशस्त्रीकरण के प्रयास

द्वितीय महायुद्ध के बाद निःशस्त्रीकरण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शान्ति की दृष्टि से अत्यधिक गंभीर और संजीदा मुद्दा बन गया था। विश्व का दो खेमों में बाँटना, शास्त्रों की होड़ के बढ़ावे को नियंत्रण करने के लिए निःशस्त्रीकरण अत्यधिक महत्वपूर्ण था।

संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर की दूसरी धरा में निःशस्त्रीकरण की चर्चा की गयी है। चार्टर में निःशस्त्रीकरण के बारे में संयुक्त राष्ट्र की जिम्मेदारी महासभा और सुरक्षा परिषद् दोनों पर डाली गयी थी। 15 नवम्बर, 1945 को उठाया गया जब कनाडा, ब्रिटेन और अमरीका की सरकारों ने एक घोषणा प्रकाशित करके यह प्रस्ताव रखा कि परमाणु ऊर्जा के अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण पर कार्य करने के लिए एक 'संयुक्त राष्ट्रीय आयोग' स्थापित किया जाए।

संयुक्त राष्ट्र संघ की पहली महासभा ने संयुक्त राष्ट्र परमाणु ऊर्जा (United Nations Atomic Energy Commission) की स्थापना की जिसके सदस्यों में सुरक्षा परिषद के सभी राष्ट्रों के साथ-साथ कनाडा भी था। परमाणु ऊर्जा आयोग की पहली बैठक में अमरीका ने एक राष्ट्रीय परमाणु विकास प्राधिकरण के लिए बरूख योजना (Baruch Plan) पेश की। इस योजना के अनुसार परमाणु ऊर्जा आयोग को विखण्डनीय पदार्थों के उत्पाद की सब अवस्थाओं का निरन्तर निरीक्षण करना था और उसे परमाणु अस्त्रों के परीक्षण करने का और परमाणु ऊर्जा के शान्तिकालीन लाभों को बढ़ावा देने का अनन्य अधिकार दिया गया।

13 फरवरी, 1947 को सुरक्षा परिषद ने पारस्परिक हथियार आयोग (Conventional Disarmament Commission) की स्थापना की जिसके सदस्य वे सब देश ही थे जो सुरक्षा परिषद के सदस्य थे। इस आयोग को वे कार्य करने की मनाही थी जो परमाणु ऊर्जा आयोग को सौंपे गये थे।

बरूख योजना के विकल्प के रूप में 11 जून, 1947 को सोवियत संघ ने कुछ प्रस्ताव पेश किये। सोवियत योजना में 'एक परमाणु नियंत्रण प्रणाली की शर्त और सिद्धांत स्थिर करने की बात कही गयी।

11 जनवरी, 1952 को छठी महासभा ने संयुक्त राष्ट्र निःशस्त्रीकरण आयोग की स्थापना की जिसने परमाणु ऊर्जा आयोग और पारस्परिक हथियार आयोग दोनों का स्थान ले लिया। ऐसा निश्चय किया गया कि निःशस्त्रीकरण आयोग सुरक्षा परिषद के नियंत्रण में कार्य करेगा। इस आयोग ने दो समितियों की स्थापना की। एक समिति को हथियारों से सेनाओं के नियमन का कार्य सौंपा गया और दूसरी समिति को यह कार्य दिया गया कि वह राष्ट्रों द्वारा सेनाओं व हथियारों के सम्बन्ध में दी गयी सूचनाओं पर विचार-विमर्श करेगी।

10 मई, 1955 को सोवियत संघ के प्रतिनिधि ने संयुक्त राष्ट्र संघ में निःशस्त्रीकरण की एक नयी योजना रखी। रूस ने सेना के एक-तिहाई कटौती की अपनी मांग को छोड़ दिया। आणविक हथियारों को तत्काल नष्ट करने की जिद छोड़कर उसने पश्चिमी गुट की यह बात मान ली कि तीन-चौथाई हथियारों और सैनिकों की कमी करने के बाद इस दिशा में कदम उठाये जायें तथा एक 'अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण संघ' की स्थापना की जाए।

जेनेवा के शिखर सम्मेलन जुलाई 1955 में सोवियत संघ, ब्रिटेन, अमरीका और फ्रांस ने भाग लिया। इस सम्मेलन में अमरीका के राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने मुक्त आकाश योजना रखी। इस योजना का उद्देश्य एक देश को दूसरे देश के आकाश पर निरीक्षण करने का अधिकार प्रदान करना था। इस योजना के अनुसार यह प्रस्ताव रखा गया कि सोवियत संघ व संयुक्त राज्य अमरीका अपनी सेना, शस्त्रागारों की संख्या, सैनिक सामग्री तैयार करने वाले कारखानों व सैनिक अड्डों की पूर्ण जानकारी प्रदान करें तथा विद्युत उपकरणों से हवाई निरीक्षण की व्यवस्था हो। 24 जनवरी, 1957 को सोवियत संघ ने यह प्रस्ताव रखा कि निःशस्त्रीकरण आयोग को विस्तृत किया जाए और मिश्र, भारत, पोलैण्ड और एक लैटिन-अमरीकी देश को भी इसका सदस्य बनाया जाये।

3 फरवरी, 1958 को सोवियत संघ के प्रधानमंत्री मार्शल बुल्गानिन ने अमरीका के राष्ट्रपति आइजनहॉवर के समक्ष निःशस्त्रीकरण की एक योजना प्रस्तुत की जो बुल्गानिन योजना के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना में निम्न बातों पर जोर दिया गया-

1. अणु व हाइड्रोजन बमों का परीक्षण बन्द किया जाये;
2. अमरीका, सोवियत संघ और ब्रिटेन आणविक शस्त्रों का परित्याग करें ;
3. नाटो तथा वारसा पैक्ट के देशों में अनाव्रफमण समझौता हो ;
4. जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों से विदेशी सेनाओं को हटाया जाये और ;
5. आकस्मिक आक्रमणों को रोकने के लिए समझौता हो।

इन्हीं दिनों पोलैण्ड के विदेश मंत्री ने एक योजना प्रस्तुत की जो रापाकी योजना (Rapacki Plan) के नाम से विख्यात है। इस योजना में यूरोप में सुरक्षा और शान्ति बनाये रखने हेतु पोलैण्ड,

चेकोस्लोवाकिया, पश्चिमी व पूर्वी जर्मनी का अणु-विहीन क्षेत्र बनाने का सुझाव दिया गया। 31 मार्च, 1958 को सोवियत संघ की सुप्रीम सोवियत ने यह घोषणा की कि वह अणु परीक्षण बन्द कर रहा है, दूसरे राष्ट्र भी उसका अनुसरण करें।

31 अक्टूबर, 1958 के दिन जेनेवा सम्मेलन में निःशस्त्रीकरण के विषय में अनेक प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये। सोवियत संघ का मत था कि सभी प्रकार के आणविक परीक्षण सदा के लिए बन्द कर दिये जायें, जबकि ब्रिटेन और अमरीका निरीक्षण प्रति के साथ एक वर्ष के लिए आणविक परीक्षणों को बन्द करने के पक्ष में थे।

18 दिसम्बर, 1959 को सोवियत प्रधानमंत्री खुश्चेव ने महासभा में 'पूर्ण सर्वमान्य निःशस्त्रीकरण' का प्रस्ताव रखा जिसमें कहा गया था कि चार साल के भीतर सभी राष्ट्रों को इस प्रकार निःशस्त्रीकरण करना चाहिए कि इस अवधि के बाद उनके पास युद्ध के साधन न रहें। आन्तरिक सुरक्षा के लिए वे थोड़ी-सी सेना व पुलिस रख सकते हैं।

सन् 1960 में निःशस्त्रीकरण पर विचार करने के लिए जेनेवा में 15 मार्च को दस राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। इस बार एक साथ दो सम्मेलन हो रहे थे एक, दस राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन तथा दूसरा, आणविक के तीन सदस्यों को आणविक परीक्षणों को निषेध करने के सम्बन्ध में वार्ता, लेकिन इन दोनों सम्मेलनों में कोई प्रगति नहीं हो सकी। निःशस्त्रीकरण और नियंत्रण पर दोनो पक्षों के बीच गतिरोध उत्पन्न हो जाना अवश्यम्भावी था।

दिसम्बर 1961 में महासभा ने निःशस्त्रीकरण आयोग का विस्तार करके आठ गुटनिरपेक्ष देशों- ब्राजील, बर्मा ;म्यांमार, इथियोपिया, भारत, मैक्सिको, नाइजीरिया, स्वीडन और संयुक्त अरब गणराज्य-को इसमें शामिल कर दिया। इस प्रकार 10 राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण आयोग अब 18-राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण आयोग बन गया। पर फ्रांस ने शुरू से ही इस पुनर्गठित आयोग का इस आधार पर बहिष्कार किया कि 18 राष्ट्रों वाला इतना बड़ा आयोग निःशस्त्रीकरण समस्या का कोई हल नहीं निकाल सकता।

1963 की आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध संधि 14 जुलाई, 1963 को ब्रिटेन, सोवियत संघ और अमरीका के प्रतिनिधियों का मास्को में एक सम्मेलन हुआ। 25 जुलाई, 1963 को इन तीनों देशों ने एक 'सीमित अणु प्रतिबन्ध संधि (Partial Test Ban Treaty - PTBT) पर हस्ताक्षर किये। इस संधि के द्वारा भूगर्भ परीक्षणों को छोड़कर बाह्य आकाश, समुद्र और वायुमण्डल में अणु परीक्षण करने पर रोक लगा दी गयी। फ्रांस ने इस संधि पर हस्ताक्षर नहीं किये, चीन इसका विरोधी था और भारत हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों में अग्रणी था।

आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध संधि का स्वागत करते हुए इसे "स्थायी शान्ति और निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रथम कदम", "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में एक नया मार्ग और अरुणोदय" और "मेल-मिलाप की प्रतिज्ञा और एक अधिक सौम्य भविष्य की आशा" कहा गया, परन्तु इस संधि से परमाणु परीक्षणों से सम्बन्धित सब समस्याएं, विशेष रूप से परमाणु अड्डों को लक्ष्यों पर पहुंचाने के

साधनों, प्रक्षेपास्त्र नाशक प्रक्षेपास्त्रों को त्रुटिहीन बनाने, और रूढ़ हथियारों से सम्बन्धित सब समस्याओं को हल नहीं किया जा सकता। यह न तो भूमिगत विस्फोटों पर रोक लगाती है और न परमाणु हथियारों का उत्पादन बन्द रखती है। इसके अलावा, यह परमाणु शक्तियों का उत्पादन बन्द रखती है। इसके अलावा, यह परमाणु शक्तियों को अपने हथियार अपने मित्र राष्ट्रों को देने से भी नहीं रोकती। वस्तुतः भू-गर्भ परीक्षण को पकड़ने का कोई उचित तरीका न होने के कारण इस पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता। खुश्चेव ने इसे एक अच्छी शुरुआत और युगान्तरकारी घटना कहा था।

27 जुलाई, 1965 को जेनेवा में निःशस्त्रीकरण आयोग की बैठक बुलाई गयी। इस सम्मेलन ने अपने कार्यों की, जो उसने अब तक किये थे, रपट पेश की। दोनों गुटों की ओर से ऐसे भाषण हुए जिन्होंने सम्मेलन के भाग्य का पहले ही फैसला कर दिया। अणु-हथियारों के नियंत्रण के तरीकों के सम्बन्ध में दोनों पक्षों में स्पष्ट मतभेद था।

बाह्य आकाश संधि (Outer Space Treaty – 1967) - बाह्य आकाश संधि भी शान्ति की दिशा में एक रचनात्मक संधि है। इस संधि द्वारा अमरीका, सोवियत संघ तथा ब्रिटेन ने बाह्य आकाश में न्यूक्लीयर शस्त्रों का भेजा जाना निषिद्ध मान लिया।

अणु अप्रसार संधि (Nuclear Non-Proliferation Treaty – NPT, 1968) - सन् 1966 में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा की राजनीतिक समिति ने परमाणु अस्त्रों के प्रसार और निर्माण पर नियंत्रण का प्रस्ताव पास किया। संघ के 112 सदस्यों में से 110 ने प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया। अल्बानिया ने प्रस्ताव का विरोध किया और क्यूबा तटस्थ रहा। इस संधि की मुख्य धाराएं निम्नलिखित हैं:-

1. परमाणु राज्य परमाणु अस्त्राविहीन राष्ट्रों को परमाणु बम के निर्माण के रहस्य की जानकारी नहीं देंगे।
2. परमाणु राज्य परमाणु अस्त्राविहीन राज्यों को परमाणु अस्त्र प्राप्त करने में सहायता नहीं देंगे।
3. परमाणु अस्त्राविहीन राष्ट्र परमाणु बम बनाने का अधिकार त्याग देंगे।
4. परमाणु अस्त्रों के परीक्षण और विस्फोटों पर रोक लगाने की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए।
5. ऐसे देश जिनमें परमाणु अस्त्र निर्माण की तकनीकी क्षमता है वे परमाणु शक्ति का विकास असैनिक कार्यों के लिए करेंगे।

इस संधि को 1963 की परमाणु निषेध संधि के उपरान्त निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक युगान्तरकारी कदम कहा गया। इस संधि को यद्यपि अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है, परन्तु यह संधि निःशस्त्रीकरण का कोई वास्तविक हल प्रस्तुत नहीं करती। यह संधि भी भूमिगत न्यूक्लीयर परीक्षणों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाती, परमाणु राज्यों द्वारा नये न्यूक्लीय अस्त्रों के निर्माण पर कोई रोक नहीं लगाती, न ही परमाणु राज्यों के न्यूक्लीय अनुसन्धान कार्यक्रम पर किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण या निरीक्षण की व्यवस्था करती है। इसी प्रकार कोई परमाणु राज्य एक शक्तिहीन राज्य पर

आक्रमण करे तो किसी बाध्यकारी प्रतिक्रिया की व्यवस्था यह संधि नहीं करती। राज्य असैनिक उपयोग के नाम पर जो परमाणु अनुसन्धान करेंगे उनका सैनिक उपयोग नहीं करेंगे इसकी कोई प्रत्याभूमि नहीं है। 1968 में अणु अप्रसार संधि को जब महासभा के समक्ष रखा तो भारतीय प्रतिनिधि ने इसका विरोध करते हुए इसे संयुक्त राष्ट्र संघ के निःशस्त्रीकरण के सिद्धांत के प्रतिकूल माना था, क्योंकि विश्व शान्ति को परमाणुविहीन राज्यों में परमाणु अस्त्रों के प्रसार से ही खतरा नहीं है, वरन् परमाणु राज्यों के पास अणु आयुधों के बने रहने से भी उतना ही खतरा है। वास्तव में, यह संधि एक भेदमूलक दृष्टि पर आधारित है जो परमाणुसम्पन्न और परमाणुविहीन राज्यों के वर्तमान विभाजन को निरन्तर बनाये रखना चाहती है। यह सन्धि उन देशों के लिए अहितकर मानी गयी जो न्यूक्लीय शस्त्रों का निर्माण कर सकते हैं। भारत के साथ पश्चिमी जर्मनी, इटली, संयुक्त अरब गणराज्य, रूमानिया, ब्राजील, अर्जेण्टाइन, नाइजीरिया ने भी इसका विरोध इन्हीं कारणों से किया। न्यूक्लीय मुक्त समुद्र तल संधि 1971 - 11 फरवरी, 1971 को सोवियत संघ, ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका ने न्यूक्लीय मुक्त समुद्र तल संधि पर मास्को, लन्दन तथा वाशिंगटन में हस्ताक्षर किये और उसी दिन 64 अन्य देशों ने भी इस पर हस्ताक्षर किये। संयुक्त राज्य की महासभा ने इसे 7 दिसंबर, 1970 को स्वीकृत किया था। इस संधि के अनुसार प्रत्येक देश के प्रादेशिक समुद्र के 19 किलोमीटर का क्षेत्र छोड़कर समुद्रतल और महासमुद्र तल पर न्यूक्लीय अस्त्रों और भयानक विनाश के अन्य परमाणु अस्त्र नहीं बिछाये जायेंगे।

सामरिक शस्त्र परिसीमन वार्ताएं (Strategic Arms Limitation Talks – SALT) और उपलब्धियाँ - नवम्बर 1969 में सामरिक शस्त्रास्त्रों को सीमित करने के मसले पर संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के मध्य फिनलैण्ड की राजधानी हेलसिंकी में वार्ता शुरू हुई हेलसिंकी वार्ता के साथ-साथ वियना में संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के बीच 'सामरिक शस्त्रास्त्रा परिसीमन वार्ता' भी शुरू हुई थी।

22 मई, 1972 को अमरीका राष्ट्रपति निक्सन जब मास्को गये तो वहां सोवियत संघ और अमरीका के बीच दो महत्वपूर्ण समझौते किये गये जिनका सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्रों पर रोक लगाने से था। इन समझौते के पक्ष में यह कहा गया कि इनसे शस्त्रों की होड़ में कमी आयेगी और परमाणु युद्ध को रोकने में सहायता मिलेगी।

3 जुलाई, 1974 को अमरीका और सोवियत संघ के मध्य दस-वर्षीय आणविक आयुध परिसीमन समझौता हुआ जिसे 31 मार्च, 1976 से लागू किया जाना निश्चित किया गया। समझौते के अनुसार दोनों ने 150 किलो टन से अधिक के भूमिगत आणविक परीक्षणों को रोकने तथा प्रक्षेपास्त्रों पर नयी सीमा लगाने का निश्चय प्रकट किया। यह निश्चित किया गया कि शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किए गए विस्फोट इस आंशिक प्रतिबन्ध व्यवस्था की परिधि में नहीं आएंगे।

लेकिन परमाणु-परीक्षण के खतरे से दुनिया को बचाने के लिए इतनी ही संधि काफी नहीं थी, अतः जून, 1976 से एक नयी धरा जोड़कर इस संधि को अधिक लाभकारी बना दिया गया।

साल्ट-2 समझौता SALT-II 1979 - 1979 में अमरीका और सोवियत संघ में साल्ट-2 समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इसके बाद इस संधि का दोनों देशों की संसदों द्वारा अनुमोदन होना था। अमरीकी कांग्रेस इस पर विचार कर ही रही थी कि अपफगानिस्तान में सोवियत संघ का हस्तक्षेप हो गया। राष्ट्रपति कार्टर ने इस हस्तक्षेप के विरोध में साल्ट-2 के अनुमोदन को स्थगित कर दिया और इस प्रकार एक गतिरोध की स्थिति आ गयी। 28 नवम्बर, 1980 को अमरीका द्वारा सोवियत संघ से 'साल्ट-2' पर नवीन वार्ता का प्रस्ताव किया गया ताकि इस संधि का पुनर्मूल्यांकन किया जा सके। मध्यम दूरी प्रक्षेपास्त्र संधि 8 दिसम्बर, 1987 - राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन और सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाच्योव ने 8 दिसम्बर, 1987 को ऐतिहासिक मध्यम दूरी प्रक्षेपास्त्र संधि ;आई.एन.एफ. INF Treaty (Intermediate-Range Nuclear Forces Treaty) सन्धि पर हस्ताक्षर किए। संधि दोनों देश मध्यम व कम दूरी के प्रक्षेपास्त्र नष्ट करने को सहमत हो गए। इस संधि से कुल मिलाकर 1139 परमाणु हथियार नष्ट किए जाने हैं। इन हथियारों की मारक क्षमता 50 कि.मी. से 5 हजार कि.मी. है। संधि के अनुसार सोवियत संघ के एल-एस-12, एस-एस-20, एस-एस-23 प्रक्षेपास्त्रों और अमरीका के पर्शिग-1 और पर्शिग-2 और भू-प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट किया जाना तय हुआ। एक अन्य समझौते के तहत दोनों देश अपने यहां परमाणु परीक्षणों की क्षमता की जांच के लिए एक-दूसरे को निरीक्षण की सुविधा देंगे।

यह संधि आणविक निःशस्त्रीकरण की दिशा में पहला कदम है। इतिहास में पहली बार ऐसा हुआ है कि शस्त्र नियंत्रण की भाषा का स्थान शस्त्र कटौती ने ले लिया।

वारसा और नाटो में ऐतिहासिक संधि 19 नवम्बर, 1990 - 19 नवम्बर, 1990 को पेरिस में वारसा व नाटो संधि देशों के 34 शासनाध्यक्षों ने एक ऐतिहासिक संधि पर हस्ताक्षर किए। संधि में दोनों गुटों के लिए सैनिकों की संख्या निर्धारित नहीं की गयी है लेकिन परम्परागत शस्त्रों की अधिकतम संख्या प्रत्येक के लिए इस प्रकार नियत की गयी-टैंक 20,000, आर्म पर्सनल, वैफरियर्स 30,000, अर्टिलरी पीसेज 20,000, लड़ावूफ विमान 6,800, लड़ावूफ हैलीकोप्टर 2,000. संधि में जांच-पड़ताल की भी व्यापक व्यवस्था की गयी ताकि कोई भी पक्ष उसका उल्लंघन न कर सके। संधि पर हस्ताक्षर करने के बाद अमरीका के राष्ट्रपति जार्ज बुश ने कहा कि इस संधि से यूरोप में आपसी सद्भाव व मैत्री का एक नया युग आरम्भ होगा।

सामरिक हथियारों में कटौती की ऐतिहासिक स्टार्ट-प्रथम संधि - 31 जुलाई, 1991 को मास्को में अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश और सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव के शिखर सम्मेलन में “सामरिक हथियारों में कटौती” की ऐतिहासिक स्टार्ट-1 संधि पर हस्ताक्षर हुए। संधि की शर्तों के अनुसार दोनों महाशक्तियां अपने परमाणु शस्त्रों की स्वेच्छा से 30 प्रतिशत कटौती करने को सहमत हो गयीं। यह संधि पहला बड़ा औपचारिक समझौता है जिसके माध्यम से सर्वाधिक खतरनाक एवं विनाशकारी शस्त्रों में इतनी कटौती के लिए स्वेच्छा से सहमति हुई।

अमरीका द्वारा सामरिक हथियारों में भारी कटौती की घोषणा - 28 सितम्बर, 1991 को अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश ने घोषणा की कि अमेरिका अपने सामरिक परमाणु हथियारों में एकतरफा भारी कटौती करेगा। राष्ट्रपति के अनुसार उन्होंने स्वेच्छा से यह फैसला किया है कि ताकि 'विश्व को परमाणु युग में इतनी बेहतर स्थिति प्रदान की जा सके जितनी पहले कभी नहीं रही।' एकपक्षीय निःशस्त्रीकरण (Unilateral Disarmament) की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं - ;

1. यूरोप और विश्व में कहीं भी विद्यमान अमेरिका के कम दूरी तक मार करने वाले सभी सामरिक परमाणु हथियारों को समाप्त करना, ;
2. जहाजों और पनडुब्बियों से छोड़ी जाने वाली सभी समुद्री परमाणु मिसाइलों की समाप्ति
3. सभी अमरीकी युद्धक बमवर्षकों को चौबीसों घण्टे चौकसी की हालत में न रखने का फैसला
4. लम्बी दूरी तक मार करने वाले सभी बी-52 और अन्य वर्षकों को निष्क्रिय हालत में रखना
5. 'स्टार्ट' संधि के अन्तर्गत जिन हथियारों को निष्क्रिय करने पर सहमति हुई थी उन्हें निर्धारित अवधि से पहले ही नष्ट करने का फैसला। सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव ने बुश की पहल को "अन्तर्राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण योगदान" बतलाया।

सोवियत संघ द्वारा परमाणु शस्त्रों में कमी करने पर सहमति - अमरीका के राष्ट्रपति बुश ने सितम्बर 1991 में कम दूरी के परमाणु प्रक्षेपास्त्र नष्ट करने की घोषणा की थी। इसी के प्रत्युत्तर में सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने अपने देश के परमाणु हथियारों में भी कमी करने की घोषणा की। गोर्बाच्योव ने कहा कि सोवियत संघ एक वर्ष के लिए परमाणु परीक्षण भी बन्द करेगा। गोर्बाच्योव ने निम्नलिखित प्रस्तावों पर सहमति प्रकट की - ;

1. जंगी जहाजों और बहु-उद्देशीय पनडुब्बियों से सभी सामरिक हथियारों को हटा लिया जाएगा,
2. भारी बमवर्षकों को तैयारी की स्थिति से हटा लिया जाएगा और उनके परमाणु हथियारों का भण्डारण कम कर दिया जाएगा ;
3. सोवियत संघ के छोटे आकार के संचल अन्तरमहाद्वीपीय बैलेस्टिक प्रक्षेपास्त्रों को सक्रिय नहीं किया जाएगा |
4. सामरिक महत्व के आक्रामक हथियारों में और कटौती की जाएगी। सोवियत संघ की इस घोषणा का अमरीका ने स्वागत किया। ब्रिटिश प्रधानमंत्री जान मेजर ने इसे एक रचनात्मक कदम बताया।

मास्को में ऐतिहासिक स्टार्ट-दो संधि पर हस्ताक्षर - 3 जनवरी, 1993 को अमरीकी राष्ट्रपति बुश और रूसी राष्ट्रपति बोरीस येल्टसिन ने भव्य व्लादिमीर पैलेस ;मास्को में ऐतिहासिक संधि

स्टार्ट-दो पर हस्ताक्षर किए। स्टार्ट-दो परमाणु हथियारों में कटौती पहली संधि का अगला चरण है जिस पर जुलाई 1991 में राष्ट्रपति जार्ज बुश और तत्कालीन सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव ने हस्ताक्षर किए। स्टार्ट-दो जिसे राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव ने हस्ताक्षर किए। स्टार्ट-दो जिसे राष्ट्रपति येल्टसिन ने शताब्दी की 'संधि' कहा है, का उद्देश्य दोनों देशों के परमाणु हथियारों में दो-तिहाई कटौती करना है, यानी वर्तमान में लगभग 20,000 को कम करके 6,500 रखना है; अमरीका के 3,500 और रूस के 3,000। इस प्रकार अमरीका के शस्त्रागार में परमाणु हथियारों की संख्या उतनी ही रह जाएगी जितनी 1960 में थी और रूसी हथियारों की संख्या उतनी ही रह जाएगी, जितनी 1970 में थी। स्टार्ट-दो पर हस्ताक्षर होना अन्तर्राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण की दिशा में स्मरणीय घटना है इसका महत्व और क्षेत्रा स्टार्ट-एक तथा सुप्रसिद्ध आई.एन.एफ. संधि से अधिक व्यापक है।

रासायनिक हथियार निषेध संधि (Chemical Weapons Convention, CWC), (13 जनवरी 1993) - रासायनिक हथियारों के विकास, उनका निर्माण, भण्डारण एवं उनके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने से सम्बन्धित संधि 29 अप्रैल, 1997 से लागू हो गई है। इस सम्बन्ध में 13 अप्रैल, 1993 को पेरिस में एक समझौते पर हस्ताक्षर किए गए थे जिसमें 160 देशों की सहमति थी। लेकिन इसे लागू करने के लिए कम से कम 65 देशों द्वारा इसका अनुमोदन किया जाना जरूरी था। 65 देशों के अनुमोदन के बाद इस संधि के कानूनी रूप लेने की अवधि 180 दिन थी। इस हिसाब से यह 29 अप्रैल, 1997 से प्रभावी हो गई है। इस संधि के मसौदे में रासायनिक हथियारों के लिए अनुसन्धन, उनका विकास, उनका भण्डारण एवं उनके हस्तान्तरण पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाने का प्रावधान रखा गया है। मसौदे में संधि पर हस्ताक्षर करने वाले देशों से आशा की गई कि वे 1 से 15 वर्ष के बीच अपने-अपने रासायनिक हथियारों के जखीरे नष्ट कर देंगे। रासायनिक हथियारों पर नियंत्रण के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनाई गई है। इस संस्था को मुख्यालय हेग में है।

व्यापक आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध संधि ;सी.टी.बी.टी. - सी.टी.बी.टी. अर्थात् व्यापक आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध संधि विश्व भर में किए जाने वाले परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाने के उद्देश्य से लायी गयी संधि या समझौता है जिसका 1993 में भारत, अन्य देशों के अलावा अमेरिका के साथ सह-प्रस्तावक था, लेकिन 1995 में उसने यह कहते हुए कि यह संधि सार्वभौमिक परमाणु निःशस्त्रीकरण के समयबद्ध कार्यक्रम से जुड़ी हुई नहीं है, सह-प्रस्तावक बनने से ही इंकार कर दिया। अगस्त 1996 में जेनेवा में इस विवादास्पद संधि के मसौदे पर विचार चलता रहा। इस बहुचर्चित संधि में परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाने तथा इस पर अमल की जांच के लिए अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की व्यवस्था है। भारत ने सी.टी.बी.टी. के प्रस्तावित मसौदे पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया क्योंकि प्रस्तावित मसौदे में परमाणु निःशस्त्रीकरण का कोई प्रावधान नहीं रखा गया। भारत का दूसरा विरोध यह था कि यह संधि बहुत ही संकीर्ण है यह केवल नए विस्फोट रोकने की बात करती है, पर नए तकनीकी विकास एवं नए परमाणु शस्त्रों के विषय में चुप है। संधि का स्वरूप

परमाणु राष्ट्रों की तकनीकी उपलब्धता को बरकरार रखकर उनके हितों की रक्षा करने के लिए अधिक है न कि सम्पूर्ण निःशस्त्रीकरण के लिए।

इस संधि पर 24 सितम्बर, 1996 से हस्ताक्षर प्रारम्भ हुए थे। अब तक कुल मिलाकर 154 राष्ट्रों ने इस पर हस्ताक्षर किए हैं जिनमें से 45 ने इसका विधिवत अनुमोदन भी कर दिया है किन्तु संधि के प्रभावी होने के लिए विश्व के उन सभी 44 देशों द्वारा इसकी पुष्टि किया जाना आवश्यक है जिनके पास परमाणु शस्त्र अथवा परमाणु विद्युत संयंत्र अथवा परमाणु क्षमता उपलब्ध है। विविध परमाणु क्षमताओं वाले इन 44 राष्ट्रों में से अभी तक 26 ने ही संधि का अनुमोदन किया है जबकि तीन देशों भारत, पाकिस्तान व उत्तर कोरिया ने इस पर अभी तक हस्ताक्षर भी नहीं किए हैं। परमाणु शक्ति के रूप में घोषित पांच राष्ट्रों-अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस व चीन ने यद्यपि सी.टी.बी.टी. पर हस्ताक्षर कर दिए हैं, किन्तु इनमें से केवल ब्रिटेन व फ्रांस ने ही संधि की पुष्टि की है। सी.टी.बी.टी. के भविष्य को एक बड़ा झटका अक्टूबर 1999 में उस समय लगा जब रिपब्लिकनों के वर्चस्व वाली अमेरिकी सीनेट ने इसका अनुमोदन नहीं किया। 100 सदस्यों वाली सीनेट में इसकी पुष्टि के लिए हुए मतदान ;13 अक्टूबर, 1999 में इसे 48 के मुकाबले 51 मतों से अस्वीकार कर दिया गया।

परमाणु अप्रसार संधि समीक्षा सम्मेलन(NPT Review Conference)

अप्रैल-मई, 2000 में सम्पन्न परमाणु अप्रसार संधि समीक्षा सम्मेलन में पाँच परमाणु सम्पन्न शक्तियाँ अपने परमाणु आयुध भण्डारों को पूरी तरह समाप्त करने पर राजी हो गईं, हालाँकि इसके लिए समय सीमा निर्धारित नहीं की गई। 2 मई, 2005 को न्यूयॉर्क में सम्पन्न परमाणु अप्रसार समीक्षा सम्मेलन में 190 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन में ईरान के विदेश मंत्री कमाल खराजी परमाणु अप्रसार संधि के उस प्रावधान पर अड़े रहे जिसके तहत ईरान सहित 182 देशों ने परमाणु हथियार नष्ट कर दिए थे, जबकि अमरीका और अन्य कुछ देश नए मानदण्ड निर्धारित करते हुए एक बार पिफर से विचार करने के पक्षध्र थे।

अमेरिका-रूस में परमाणु शस्त्रा कटौती संधि मई 2002 जिसे **"स्ट्रेटेजिक आर्म्स रिडक्शन TREATY (START III)"** या **"मॉस्को संधि"** के नाम से भी जाना जाता है - मई 2002 में अमरीकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने रूस की यात्रा की और रूस के साथ मित्रता मजबूत करने के लिए परमाणु शस्त्रों में कटौती के ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर किए। संधि की शर्तों के अनुसार अमेरिका और रूस दोनों मिलकर साढ़े चार हजार के करीब परमाणु हथियार कम करेंगे। संधि के अनुसार परमाणु हथियारों में कटौती का लक्ष्य 2012 तक पूरा कर लिया जाएगा।

सारांश - 16 जुलाई 1945 में अमेरिका ने नये हथियार के रूप में संसार को 'परमाणु बम' से अवगत कराया। अमेरिका ने अन्य राष्ट्रों को भी 'सुरक्षा' की दृष्टि से सुदृढ़ होने के लिए 'परमाणु सम्पन्न राष्ट्र' बनाने के लिए प्रोत्साहित किया। अमेरिका का परमाणु सम्पन्न देश बनाने के पीछे मुख्य कारण साम्यवादी शक्ति को कमजोर करना था, किन्तु साम्यवादी देश अर्थात् सोवियत संघ ने अपनी 'सुरक्षा' को मद्देनजर रखते हुए स्वयं को परमाणु सम्पन्न राष्ट्र बना लिया था।

इन दोनों देशों के बीच 'उत्तरजीविता' को लेकर उत्पन्न संघर्ष ने परमाणु प्रसार को हवा दे दी थी। धीरे-धीरे यह 'परमाणु प्रसार न्यूक्लिय क्लब' में बदल गया था, जिसमें फ्रांस, इंग्लैण्ड, चीन, भारत, पाक, उत्तरी कोरिया भी शामिल हो गये थे। गौरतलब है कि संसार जापान पर परमाणु हमले की त्रासदी से भी परिचित है, अर्थात् परमाणु हथियारों के निर्माण से संसार के राष्ट्र सुरक्षित नहीं बल्कि विनाशकारी त्रासदी की ओर बढ़ रहे हैं।

विश्व 'परमाणु हथियारों' के 'आतंक' के साये में जी रहा है। 1961 में राष्ट्रपति कैनेडी ने परमाणु हथियारों के विषय में कहा था कि 'धरती को रहने योग्य बने रहने के लिए परमाणु हथियारों को नष्ट कर देना होगा।' यदि परमाणु युद्ध हुआ तो यह बम इस पृथ्वी से मानवता का समूल नाश कर देंगे। परमाणु युद्ध के बाद धरती का तापमान 30 डिग्री 40 डिग्री सेल्सियस तक परिवर्तित हो जायेगा, पृथ्वी के सभी जीव-जन्तु काल के गाल में समाने के लिए बाध्य हो जायेंगे। परमाणु हथियारों से मानवता के साथ ही साथ पर्यावरण को अत्यधिक नुकसान हो सकता है –

1. आजकल परमाणु भट्टियाँ तथा अन्य-यन्त्र अंतर्राष्ट्रीय बाजार में सहज रूप से उपलब्ध हो रहा है। अमेरिका, इंग्लैण्ड, रूस, फ्रांस, कनाडा, जर्मनी आदि देश परमाणु भट्टियों को मुक्त रूप से बेच रहे हैं। इनके द्वारा भी अधिक मात्रा में परमाणु हथियार बनाये जाते हैं। बमों के परीक्षणों, विस्फोटों तथा परमाणु भट्टियों में प्रक्रीयाओं के कारण पर्यावरण में रेडियोधर्मी तत्वों की प्रतिशत मात्रा बढ़ती जाती है। रेडियोधर्मी तत्व शीघ्रता से विघटित नहीं होते और लम्बी अवधि तक रेडियो विकिरणों का उत्सर्जन करते हैं, यह पर्यावरण पर अत्यधिक खतरनाक प्रभाव डालता है। इसके प्रभाव से कैंसर जैसी बीमारियाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं। 1945 में जापान पर परमाणु हमले के बाद हिरोशिमा और नागासाकी में अधिकांश संख्या में लोग कैंसर जैसी भयानक बीमारी से पीड़ित हुए हैं।
2. न्यूक्लीय कचड़े को फेंकने की समस्या, इसके कचरे से भी लम्बे समय तक हानिकारक विकिरण निकलती रहती है, जो पर्यावरण में "रासायनिक प्रदूषण" फैलाती है। इसके कारण जापान में आज भी अपंग बच्चे जन्म लेते हैं।
3. परमाणु संयंत्रों में होने वाली आकस्मिक दुर्घटनाएँ केवल एक राष्ट्र की सीमा तक फैले पर्यावरण को ही नहीं बल्कि वैश्विक पर्यावरण पर अपना प्रभाव डालती हैं। हाल ही 2014 में जापान के शहर में परमाणु संयंत्र में विस्फोट से जापान में इसका विनाशकारी प्रभाव हुआ था।

आणविक शस्त्रों से उत्पन्न दुष्प्रभाव ने ही विश्व के राष्ट्र को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर परमाणु प्रसार की राजनीति से नियंत्रण की राजनीति की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित किया।

वैश्विक शांति को बनाये रखने के लिए 'निःशस्त्रीकरण' को राष्ट्रों के द्वारा बढ़ावा दिया गया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद निःशस्त्रीकरण वैश्विक स्तर पर गंभीर मुद्दे के रूप में उभरा तथा परमाणु शस्त्रों की

होड़ तथा उपयोग को नियंत्रित करने पर जोर दिया गया। परमाणु प्रसार की दौड़ को नियंत्रित करने की संभावनाओं को लेकर निःशस्त्रीकरण वैश्विक स्तर पर अत्यधिक गंभीर मुद्दा है।

निःशस्त्रीकरण का दौर 1945 से प्रारंभ हुआ, द्वितीय विश्व युद्ध, शीत युद्ध के दौरान निःशस्त्रीकरण के लिए संधियों और समझौतों का दौर चलाया गया। इस दौर में 4 जुलाई 1974 स्टार्ट-I, 1979 में स्टार्ट-II, परमाणु अप्रसार संधि 1968, व्यापक आणविक परीक्षण प्रतिबंध संधि 1993, परमाणु अप्रसार को बढ़ावा देने के उद्देश्य से किये गये निःशस्त्रीकरण के प्रयास 'आंशिक' प्रयास प्रतीत होते हैं। निःशस्त्रीकरण के लिए की गई संधियों और समझौते में पक्षपातपूर्ण प्रतीत होते हैं उदाहरण - NPT तथा CTBT संधियों पर भारत ने हस्ताक्षर नहीं किये हैं।

लघुस्तरीय अभ्यास प्रश्न एवं उनके उत्तर

प्रश्न.1 1945 के काल को 'नये हथियारों का युग' क्यों कहा जाता है?

उत्तर.1 द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अमेरिका ने जापान की बढ़ती शक्ति को रोकने के लिए '16 जुलाई 1945 को 'परमाणु बम' से हमला किया, संसार को 'नये हथियारों के युग में प्रवेश' दिलाया था। अमेरिका स्वयं को विश्व के समक्ष 'महाशक्ति' के रूप में दिखाना चाहता था, किन्तु सोवियत संघ की साम्यवादी विचारधारा के बढ़ते प्रसार के कारण ऐसा करना संभव प्रतीत नहीं हो रहा था। परिणामस्वरूप अमेरिका 'परमाणु संपन्न' राष्ट्र बनकर सोवियत संघ की बढ़ती शक्ति को रोकने का प्रयास था। इसके विपरीत सोवियत संघ ने भी अमेरिका को प्रति उत्तर देते हैं स्वयं को 1949 में एक 'परमाणु सम्पन्न' महाशक्ति के रूप में घोषित कर दिया गया। सोवियत संघ और अमेरिका में महाशक्ति के बढ़ते प्रसार ने धीरे-धीरे- परमाणु शक्ति का प्रसार कर दिया था। इन दोनों महाशक्तियों द्वारा संसार के अन्य राष्ट्रों को सहायता प्रदान की, जिसका लाभ उठाते हुए कमजोर राष्ट्र भी 'परमाणु संपन्न' राष्ट्र बन गया या परमाणु संपन्न राष्ट्र बनाने की 'दहलीज' पर पहुँच गये हैं।

प्रश्न.2 शीत युद्ध के काल को 'दूसरा परमाणु युग' क्यों कहा जाता है?

उत्तर.2 1990 के बाद सोवियत संघ के विघटन के साथ ही शीत युद्ध की समाप्ति हो गई थी, विघटन के साथ ही ऐसा प्रतीत होने लगा कि परमाणु प्रसार युग की भी समाप्ति हो जायेगी। परमाणु प्रसार अब 'इन दोनों खेमों' से निकल कर तृतीय विश्व के देशों की ओर बढ़ गया था, इन राष्ट्रों द्वारा अपनी क्षेत्रीय समस्या को ध्यान रखकर अपने प्रतिद्वंद्वी को कमजोर करने के उद्देश्य से 'परमाणु बम' का परीक्षण किया गया था। उदाहरणस्वरूप 18 मई 1974 में भारत ने अपने प्रतिद्वंद्वी पाक को कमजोर करने के उद्देश्य से 'परमाणु संपन्न राष्ट्र' बनाने का प्रयास किया, इसके प्रति उत्तर में पाक भी चुप नहीं रहा था, परिणामस्वरूप पाक ने स्वयं को 'परमाणु संपन्न' राष्ट्र बनाया।

इसके अलावा ईरान, सीरिया, इजराईल के कुछ 'धार्मिक संगठन' धार्मिक कट्टरता को बढ़ावा देने के लिए 'परमाणु बम' का निर्माण कर रहे हैं। इजराईल और पिफलिस्तीन में लगातार बढ़ते संघर्ष ने 'परमाणु बम' निर्माण को बढ़ावा दिया था। उत्तरी कोरिया ने भी परमाणु परीक्षण किया है।

गौरतलब है कि उत्तर शीत युद्ध, परमाणु प्रसार 'दोनों शक्तिशाली खेमों' से निकलकर तृतीय विश्व के कमजोर राष्ट्रों के द्वारा किये गये हैं।

परिणामस्वरूप उत्तर शीत युद्ध काल 'दूसरा परमाणु युग' कहलाता है

8.11 सारांश

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विकसित राष्ट्र चाहते हैं कि अधिक से अधिक निःशस्त्रीकरण तृतीय विश्व के देश की ओर से ही हो। विकसित राष्ट्र 'नियंत्रण की राजनीति' के अंतर्गत तृतीय विश्व के राष्ट्रों को 'परमाणु संपन्न राष्ट्र' बनाने से रोकना तथा परमाणु शस्त्र का उपयोग न करने के लिए बाध्य करते हैं, जबकि स्वयं पर इसे नहीं लागू करते हैं।

परिणामस्वरूप निःशस्त्रीकरण के प्रयास में की जाने वाली संधियों और समझौते 'एकपक्षीय' नजर आते हैं। वैश्विक स्तर पर परमाणु प्रसार तभी अप्रसार परिवर्तित किया जा सकता है जब सभी राष्ट्रों में निःशस्त्रीकरण को 'संवेदनशील' और 'संजीदगी' से अमल में लाने का प्रयास किया जायेगा।

परमाणु प्रसार के खतरे की गंभीरता को स्वीकारते हुए, परमाणु अप्रसार के लिए किये संधियों और समझौतों को 'निष्पक्षता' के साथ लागू और स्वीकार करना चाहिए। यदि 'निष्पक्षतापूर्ण' परमाणु अप्रसार को बढ़ावा नहीं दिया जायेगा, वैश्विक पटल पर 'परमाणु हमले' का संकट बना रहेगा। परमाणु प्रसार के प्रति राष्ट्रों को वैश्विक पटल पर 'एकजुटता और निष्पक्षता' दिखाने की आवश्यकता है, ताकि विश्व को आगामी 'परमाणु हमले' से बचाये जा सके।

विश्व में कई देश 'धार्मिक कट्टरता' का प्रसार करने के लिए 'परमाणु बम' का अनुचित प्रयोग कर सकते हैं, इजरायल और फिलिस्तीन के संघर्ष से हम सभी चिर परिचित हैं, इन दोनों देशों में लगातार बढ़ता संघर्ष कभी भी 'परमाणु आक्रमण' का रूप ला सकता है। विश्व के 'दहलीज' पर खड़े 'परमाणु हमले' को रोकने के लिए राष्ट्रों को परमाणु अप्रसार के लिए संधियों और समझौतों को 'एकजुटता', 'निष्पक्षता', 'संजीदगी' के साथ लाने की आवश्यकता है।

8.12 शब्दावली

परमाणु प्रसार - आणविक शस्त्रों का फैलाव, एक राष्ट्र द्वारा अपनी सैन्य शक्ति को सुदृढ़ बनाने के लिए नये हथियार के रूप 'परमाणु अस्त्रों' का परीक्षण करके स्वयं को 'परमाणु संपन्न' राष्ट्र बनाना। ठीक ऐसी ही सोच रखकर अन्य देशों ने भी जब 'हथियार के रूप में' 'परमाणु बम' का परीक्षण किया, विश्व पटल पर इसे 'परमाणु प्रसार' कहा गया।

निःशस्त्रीकरण- निःशस्त्रीकरण का शाब्दिक अर्थ है शारीरिक हिंसा के प्रयोग के समस्त भौतिक तथा मानवीय साधनों का उन्मूलन। निःशस्त्रीकरण का प्रयास युद्ध को पूरी तरह नियंत्रित करने की कला नहीं बल्कि यह शस्त्रों के उपयोग को नियंत्रित करने की ध्वनि है। इसका लक्ष्य इस समय जो हथियार उपस्थित हैं उनके प्रभाव को घटाना है।

भय का संतुलन - अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में 'भय' शब्द की अहम भूमिका है, इसी कारण वैश्विक पटल पर हर राष्ट्र के लिए 'सुरक्षा' गंभीर मुद्दा बन जाती है। 1945 से प्रारंभ परमाणु प्रसार की राजनीति को भी इन्हीं दो 'गंभीर' और

‘महत्वपूर्ण’ मुद्दों से जोड़कर देखा जा सकता है। परमाणु सम्पन्न अमेरिका से ‘भय का संतुलन’ करने के लिए सोवियत संघ तथा अन्य राष्ट्र भी परमाणु सम्पन्न राष्ट्र बन गये।

एक राष्ट्र पर प्रतिद्वंद्वी राष्ट्र आक्रमण न करे, अर्थात् ‘युद्ध की स्थिति का भय’ उसे अपनी सुरक्षा के लिए प्रतिद्वंद्वी की तुलना में शक्तिशाली हथियार की तैयारी पर बल देता है। अमेरिका और सोवियत संघ के बीच अपनी ‘सुरक्षा का भय’ से संतुलन बनाने के लिए परमाणु प्रसार को अत्यधिक बढ़ावा दिया।

8.13 संदर्भ ग्रंथ

फडिया, बल.एल. ;2008, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।

8.14 सहायक /उपयोग पाठ्यक्रम

एंड्रयू, हैवुड ;2011,, ग्लोबल पॉलिटिक्स, पेलगेरव मैकमिलन।

8.15 निबंधात्मक प्रश्न

‘अंतर्राष्ट्रीय राजनीति’ में ‘सुरक्षा’ अहम मुद्दा है, आप ‘सुरक्षा’ को नाभिकीय प्रसार और ‘नियंत्रण’ से कैसे जोड़कर देखते हैं?

इकाई- 9 : भूमंडलीकरण

इकाई की संरचना

- 9.1 प्रस्तावना
- 9.2 उद्देश्य
- 9.3 भूमंडलीकरण
 - 9.3.1 भूमंडलीकरण के प्रमुख तत्व
 - 9.3.2 भूमंडलीकरण का समाज के विभिन्न क्षेत्रों पर प्रभाव
 - 9.3.3 भूमंडलीकरण को बढ़ाने के मुख्य कारक
 - 9.3.4 भूमंडलीकरण के विपरीत प्रभाव
- 9.4 सारांश
- 9.5 शब्दावली
- 9.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 9.7 सन्दर्भ ग्रन्थ
- 9.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 9.9 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

इस इकाई में वर्तमान समय के सबसे ज्वलंत विषय भूमंडलीकरण का अध्ययन किया गया है | जिसमें भूमंडलीकरण के अर्थ और प्रकृति का अध्ययन किया गया है | साथ ही यह भी अध्ययन किया गया है की इनके तत्व क्या है | इसके सकारात्मक और नकारात्मक पक्षों के बारे में अध्ययन किया गया है | जिसमें यह स्पष्ट किया गया की भूमंडलीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा विश्व की विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं का समन्वय किया जाता है ताकि वस्तुओं एवं सेवाओं, तकनालॉजी, पूँजी और श्रम या मानवीय पूँजी का भी निर्बाध प्रवाह हो सके। वर्तमान समय में जब भूमंडलीकरण की बात करते हैं तो आर्थिक पक्ष को प्रधानता दी जाती है | यद्यपि इसमें संबंधो के अन्य पक्ष भी शामिल होते है |

9.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम

- भूमंडलीकरण के अर्थ को जान सकेंगे |
- भूमंडलीकरण के प्रमुख तत्वों को समझ सकेंगे
- भूमंडलीकरण का समाज के विभिन्न क्षेत्रों पर प्रभाव की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे |
- भूमंडलीकरण को बढ़ाने के मुख्य कारको और उसके विपरीत प्रभाओं के बारे में समझ सकेंगे

9.3 भूमंडलीकरण

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया का अर्थ एवं प्रकृति समझने के लिये इसकी शुरुआती जड़ों को ढूँढना बहुत आवश्यक है। ऐतिहासिक तौर पर, यह कहा जा सकता है कि आर्थिक रूप से भूमंडलीकरण की शुरुआत सिल्क मार्ग की स्थापना के साथ हुई जो कि यूरोप के भूमध्य देशों एवं चीन के बीच स्थापित हुआ था। आधुनिक काल में, यह कहा जा सकता है कि भूमंडलीकरण की शुरुआत कोलंबस की सन् 1492 की अमेरिका यात्रा के साथ हुयी।

रोबी रॉबर्टसन ने अपनी पुस्तक, 'द थ्री वेव्स आफ ग्लोबलाइजेशन' में आर्थिक भूमंडलीकरण के तीन चरणों की व्याख्या की है। ये तीन चरण निम्नलिखित हैं:-

1. पहला चरण कोलम्बस की सन् 1492 में अमेरिका यात्रा के साथ प्रारम्भ हुआ तथा उसका अंत अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भ के पहले हुआ।
2. दूसरा चरण अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति के साथ प्रारम्भ हुआ तथा उसका अंत दूसरे विश्वयुद्ध के पहले हुआ।
3. तीसरे चरण का प्रारम्भ दूसरे विश्व युद्ध के उपरान्त सन् 1945 में हुआ और जो आज तक जारी है।

भूमंडलीकरण की बात आज के युग में हर कोई करता है परन्तु इसकी व्याख्या करना कठिन है। कुछ विचारक इसे मुख्यतः एक आर्थिक अवधारणा मानते हैं। कुछ भूमंडलीकरण का अर्थ सांस्कृतिक आदान प्रदान के संदर्भ में निकालते हैं। वहीं कुछ इसे एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। अतः जॉन बेलिस तथा स्टीव स्मिथ ने (द ग्लोबलाइजेशन आफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स) भूमंडलीकरण को विभिन्न समाजों के बढ़ते हुए जुड़ाव की प्रक्रिया की संज्ञा दी जिसके वजह से विश्व के एक भाग में घटित हो रही घटनायें दूर दराज लोगों एवं समाजों को अधिक से अधिक प्रभावित कर रही हैं। एक वैश्वीकृत विश्व में राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में हो रही घटनायें एक दूसरे से जुड़ी हुयी होती हैं।

ऐन्थोनी गिडेन्स ने अपनी पुस्तक 'द कान्सीक्वेन्सेज आफ मॉडरनिटी' में भूमंडलीकरण को परिभाषित करते हुए लिखा है कि यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अंतरगत विश्व के विभिन्न क्षेत्रों के बीच में अन्योन्याश्रता तथा पारस्परिकता की बढ़ोतरी हुई है जिसके कारण किसी जगह की स्थानीय घटनायें हजारों मील दूर घटित घटनाओं के द्वारा निर्धारित हो रही हैं।

वहीं डी. हार्वे ने अपनी पुस्तक 'द कंडिशन आफ पोस्ट मॉडरनिटी' में भूमंडलीकरण द्वारा समय एवं स्थान की अवधारणा को जिस तरह प्रभावित किया गया है उस पर जोर दिया है। उसके अनुसार भूमंडलीकरण ने समय और स्थान की अवधारणा को एक नई दिशा दी है जिसके अंतरगत समय की गति और स्थान की दूरी का कोई महत्व नहीं रह गया है।

इस तर्क को आगे बढ़ाते हुए जेम्स रोजेनाऊ ने अपनी पुस्तक 'ट्रब्यूलेंस इन वर्ल्ड पोलिटिक्स' में भूमंडलीकरण के युग में दुनिया में व्याप्त पारस्परिकता, अन्तर्निर्भरता का कारण तकनीकी तंत्र को बताया है। उसके अनुसार तकनीकी तंत्र ने भौगोलिक और सामाजिक दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे तक यथाशीघ्र पहुँच जाते हैं।

इसी क्रम में राबर्ट गिलपिन ने अपनी पुस्तक 'द पोलिटिकल ईकान्मी आफ इण्टरनेशनल रिलेशन्स' में भूमंडलीकरण को एक ऐसी प्रक्रिया बताया है जिससे विश्व की अर्थ व्यवस्था का एकीकरण हुआ है। उसके अनुसार भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के द्वारा विश्व के प्रभुत्वशाली उदारवादी पश्चिमी राष्ट्र अपनी अर्थव्यवस्था और संस्कृति विश्व में विशेष रूप से विकासशील राष्ट्रों पर थोपना चाहते हैं। इसके द्वारा वे पुनः अपना आर्थिक एवं सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की स्थापना करना चाहते हैं।

मैलकम वाटर्स ने अपनी पुस्तक 'ग्लोबलाइजेशन' में कहा है कि भूमंडलीकरण की परिभाषा आज भी स्पष्ट नहीं है। अपनी परिभाषा में वाटर्स ने भूमंडलीकरण के युग में भौगोलिक दूरी की निरर्थकता पर बल दिया है। उसके अनुसार भूमंडलीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था पर जो भौगोलिक दबाव होते हैं वो पीछे हट जाते हैं क्योंकि भौगोलिक सीमाएं बेमतलब हो जाती हैं।

सौम्येन सिकदर ने अपनी पुस्तक 'कंटेम्पोरेरी ईश्यूज इन ग्लोबलाइजेशन' में भूमंडलीकरण को उदारीकरण से जोड़ा है। उसके अनुसार बाह्य उदारीकरण एक आर्थिक नीति के रूप में पिछले दो दशकों से चली आ रही भूमंडलीकरण की प्रक्रिया से करीब से जुड़ी हुई है। यह अन्तर्राष्ट्रीय एकीकरण की लगातार चली आ रही प्रक्रिया है जो कि व्यापार, प्रौद्योगिकी, ज्ञान, सूचना एवं विचार के राष्ट्रीय सीमाओं के पार के अप्रत्याशित प्रवाह का प्रतिफल है। इसमें तकनीकी नवाचार, सूचना प्रौद्योगिकी क्रान्ति तथा पैदावार की विकसित प्रौद्योगिकी एवं तकनीकी का बड़ा योगदान रहा है।

जोसेफ स्टगिलिटज ने अपनी पुस्तक 'मेकिंग ग्लोबलाइजेशन वर्क' में लिखा है कि भूमंडलीकरण के अंतर्गत बहुत सी चीजों का समावेश है, जैसे कि विचारों एवं ज्ञान का अंतर्राष्ट्रीय प्रवाह, संस्कृतियों का आदान प्रदान एवं विश्व नगरीय समाज और विश्व पर्यावरण आंदोलन। परन्तु मुख्यतः भूमंडलीकरण का अर्थ आर्थिक भूमंडलीकरण से है जिसके अंतर्गत विश्व के राष्ट्रों के बीच पूँजी, माल एवं सेवा तथा श्रमिकों के बढ़ते हुए प्रवाह के द्वारा आर्थिक एकीकरण की प्रक्रिया को बल मिला है एवं उसमें निकटता आयी है।

दीपक नय्यर ने अपनी पुस्तक 'गवर्निंग ग्लोबलाइजेशन: ईश्यूज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स' में भूमंडलीकरण के आर्थिक आधार को महत्व देते हुए उसके सम्बन्ध राष्ट्र राज्यों के सीमा पार बढ़ती हुई आर्थिक गतिविधियों तथा आर्थिक लेने देने से होने की बात की है। उसके अनुसार भूमंडलीकरण को एक ऐसी आर्थिक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसका सम्बन्ध विश्व अर्थव्यवस्था में राज्यों के बीच बढ़ते हुए आर्थिक खुलापन, बढ़ती हुई आर्थिक अन्तरनिर्भरता तथा गहराती हुई आर्थिक एकीकरण से है।

उपरोक्त परिभाषाओं के मूल्यांकन उपरान्त हम भूमंडलीकरण को इस तरह से परिभाषित कर सकते हैं कि वह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच तकनीक और प्रौद्योगिकी के विकास, आर्थिक एकीकरण तथा सूचना, विचारों एवं ज्ञान के प्रवाह के कारण एक ऐसी अंतरनिर्भरता एवं पारस्परिकता का विकास हो रहा है जिसमें कि राष्ट्रों की सीमा तथा समय एवं स्थान के बंधन का कोई अर्थ नहीं रह गया।

9.3.1 भूमंडलीकरण के प्रमुख तत्व

अतः हम यह कह सकते हैं कि भूमंडलीकरण के प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं:-

1. **आर्थिक एकीकरण:** 1990 में शीत युद्ध की समाप्ति के बाद पूरे विश्व में धीमे धीमे मुक्त बाजार आर्थिक व्यवस्था को अपनाना शुरू कर दिया जिसने कि राष्ट्रों के बीच में मुक्त व्यापार व्यवस्था को जन्म दिया है। साथ ही विदेशी पूँजी निवेश पर जो प्रतिबन्ध थे वो भी धीमे धीमे करके समाप्त कर दिये जा रहे हैं या कर दिये गये हैं। अतः पूरे विश्व में पाश्चात्य मुक्त उदारवादी बाजार अर्थ व्यवस्था को बोलचाला हो गया है जिसने कि फ्रांसिस फुकुयामा जैसे विद्वानों को यह कहने पर मजबूर किया कि "इतिहास का अंत" (End of History) हो गया है क्योंकि साम्यवादी राष्ट्रों के विघटन एवं उसके उपरान्त उनके द्वारा लोकतांत्रिक राजनैतिक एवं उदारवादी अर्थ व्यवस्था को अपनाने के बाद अब पूरे विश्व के सामने सिर्फ पाश्चात्य उदारवादी लोकतंत्र का विकल्प राजनैतिक एवं आर्थिक दोनों ही क्षेत्रों में रह गया है।
2. **तकनीक एवं प्रौद्योगिकी का विकास:** तकनीक एवं प्रौद्योगिकी के विकास के कारण एक ऐसी संचार व्यवस्था का निर्माण हुआ है जिससे कि पूरा विश्व एक वैश्विक गाँव (Global Village) बन गया है क्योंकि समय और स्थान पर आधारित सीमाओं का अब कोई मायने नहीं रह गया है।
3. **सूचना, ज्ञान एवं विचारों का प्रवाह:** प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुए विकास के कारण विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच सूचना, विचारों एवं ज्ञान का प्रवाह बहुत ही त्वरित गति से हो रहा है।
4. **अंतरनिर्भरता एवं पारस्परिकता:** पूरे विश्व के आर्थिक एकीकरण एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुए तेजी से विकास के कारण विश्व के विभिन्न राष्ट्र एक दूसरे पर पारस्परिक रूप से निर्भर हैं तथा कोई भी घटना पूरे विश्व को प्रभावित करती है।
5. **वैश्विक संस्कृति का विकास:** पूरे विश्व में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के कारण एक ऐसी वैश्विक संस्कृति का विकास हो रहा है जिसके अंतर्गत हम बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के उत्पादों को हर जगह प्राप्त कर सकते हैं तथा उनके द्वारा निर्मित खाने पीने तथा पहनने ओढ़ने के वस्त्र एक समान पर पूरे विश्व में उपलब्ध हैं, साथ ही उनमें कामकाज करने वाले लोगों की

जीवन शैली भी एक जैसी हो रही है। यह वैश्विक संस्कृति का विकास जो हो रहा है वह मुख्यतः पाश्चात्य संस्कृति ही है जिससे कि पाश्चात्य राष्ट्रों द्वारा सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को स्थापित करने का खतरा भी उत्पन्न हो गया है।

नगैर वुड्स (Ngair Woods) ने जॉन बेलिस तथा स्टीव स्मिथ द्वारा संस्करित पुस्तक 'द ग्लोबलाइजेशन आफ वर्ल्ड पोलिटिक्स' में अपने लेख 'इण्टरनेशनल पोलिटिकल इकानमी इन ऐन एज ऑफ ग्लोबलाइजेशन' "International Political Economy in an Age of Globalisation" में भूमंडलीकरण के तीन मुख्य तत्वों पर प्रकाश डाला है जो निम्नलिखित हैं:-

1. **अंतर्राष्ट्रीयकरण (Internationalisation)** का अभिप्राय राज्यों के बीच बढ़ते हुए व्यापार एवं पूँजी निवेश से है। अंतर्राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया को बढ़ाने में विभिन्न राज्यों के बीच व्यापार तथा पूँजी निवेश पर हुए समझौते तथा सरकारों की घरेलू नीतियाँ जिनके द्वारा निजी व्यवसायियों को विदेशों में निवेश करने की इजाजत दी गयी काफी मददगार साबित हुई।
2. **प्राद्योगिकी क्रांति (The technological revolution)** का सम्बन्ध जिस प्रकार से आधुनिक संचार व्यवस्था का विकास हुआ है उससे है जिसने स्थान एवं दूरी को न केवल सरकारों के लिये बल्कि निजी कम्पनियों के निर्णयों में तथा अन्य सामाजिक संगठनों की गतिविधियों को भी, कम महत्वपूर्ण बना दिया है।
3. **उदारवाद (Liberalisation)** - जिससे उनका अभिप्राय उन सरकारी नीतियों से है जिसकी वजह से राज्य की भूमिका अर्थव्यवस्था में कम हुई है। इनमें व्यापार पर शुल्क और प्रतिबंध की समाप्ति, वित्तीय क्षेत्र को विदेशी पूँजी निवेशकों को खोलना तथा राज्य के उपक्रमों का निजीकरण शामिल है।

9.3.2 भूमंडलीकरण का समाज के विभिन्न क्षेत्रों पर प्रभाव

उपरोक्त आधार पर स्टीव स्मिथ तथा जॉन बेलिस के अनुसार भूमंडलीकरण का समाज के विभिन्न क्षेत्रों पर प्रभाव निम्नलिखित ढंग से देखा जा सकता है।

1. **आर्थिक क्षेत्र** - मुक्त बाजार व्यवस्था एवं पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का निर्माण, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा विश्व स्तर पर उत्पादन एवं विपणन करना तथा विश्व के वित्तीय बाजारों द्वारा राष्ट्रों को मिलने वाले कर्ज की शर्तों का निर्धारण।
2. **सैन्य क्षेत्र** - इस क्षेत्र में विश्व अस्त्र शस्त्र व्यापार, जन विध्वंशकारी शस्त्रों (Weapons of mass destruction) का प्रसार, राष्ट्रोपरि आतंकवाद में वृद्धि, राष्ट्रोपरि सैन्य कम्पनियों का बढ़ता हुआ महत्व, और विश्व में व्याप्त असुरक्षा की चर्चा यह सब एक विश्व सैन्य व्यवस्था की स्थापना की ओर इशारा करते हैं।

3. **विधि क्षेत्र:** राष्ट्रोपरि एवं अंतर्राष्ट्रीय विधि का व्यापार से लेकर मानव अधिकार के क्षेत्र में वृद्धि तथा नव विश्व विधि संगठनों, जैसे कि अंतर्राष्ट्रीय अपराधी कोर्ट की स्थापना यह एक उभरते हुए विश्व विधि व्यवस्था का सूचक है।
4. **पर्यावरण क्षेत्र में साझा पर्यावरण समस्याएँ हैं,** जो कि विश्व में बढ़ती हुई गर्मी (Global warming) से लेकर विशिष्ट जैविक प्रणालियों की सुरक्षा तक सम्मिलित हैं तथा जिसके निराकरण के लिये एक वैश्विक पर्यावरण शासन व्यवस्था चाहिये।
5. **सांस्कृतिक क्षेत्र:** जिसमें कि सजातीयता (homogeneity) तथा बढ़ती हुई विजातीयता (heterogeneity) का मिश्रण हो रहा है। जहाँ एक वैश्विक संस्कृति का विकास हो रहा है, वहीं कहीं कहीं पर राष्ट्रवाद, जातीयता (ethnicity) एवं भिन्नता भी प्रभावी हो रहा है।
6. **सामाजिक क्षेत्र:** में भूमंडलीकरण का प्रभाव लोगों का दक्षिण से उत्तर तथा पूरब से पश्चिम की ओर जाने से प्रवास का एक बहुत बड़ा मुद्दा सामने आया है।

9.3.3 भूमंडलीकरण को बढ़ाने के मुख्य कारक

विश्व में भूमंडलीकरण के प्रभाव को बढ़ाने में जो प्रमुख कारक हैं वो निम्नलिखित हैं :-

1. जो सबसे महत्वपूर्ण कारक है वह है विश्व की सरकारों का भूमंडलीकरण की तरफ एक सकारात्मक रवैया।
2. उतना ही महत्वपूर्ण कारक है वो संस्थाएँ जो कि आर्थिक भूमंडलीकरण की ही देन हैं। उनमें से एक है अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएँ जैसे कि अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक एवं विश्व व्यापार संगठन। दूसरी प्रकार की संस्थाएँ जिन्होंने भूमंडलीकरण को बढ़ाने में अग्रणी भूमिका निभायी है वो हैं - बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ जिनका कि पूँजी निवेश, व्यापार एवं रोजगार पर बड़ा प्रभाव है।
3. तीसरा कारक जो महत्वपूर्ण है वह है प्राद्योगिकी का विकास, खास तौर पर परिवहन एवं संचार प्रौद्योगिकी।

9.3.4 भूमंडलीकरण के विपरीत प्रभाव

भूमंडलीकरण के समर्थकों द्वारा यह हमेशा उद्धोषणा की जाती रही है कि भूमंडलीकरण वो प्रक्रिया है जो सभी नावों को उठाने का काम करती है। पर अगर हम तथ्यों का मूल्यांकन करें तो हम पायेंगे कि ऐसा नहीं है क्योंकि भूमंडलीकरण ने अमीर राष्ट्रों को ही मुख्यतः लाभ पहुँचाया है। यह तथ्य हम निम्नलिखित आधार पर कह सकते हैं:-

1. **वैश्विक सम्पदा का ध्रुवीकरण:** औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत के उपरान्त विश्व के सबसे अमीर और सबसे गरीब गरीब राष्ट्रों के बीच की खाई और बढ़ी है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम के अनुमानों के अनुसार सन् 1820 में विश्व के अमीर और गरीब देशों की

प्रति व्यक्ति वार्षिक आय का अंतर 3: 1 के अनुपात में था जो कि 1913 में 11: 1 के अनुपात में हो गया, जो 1950 में बढ़कर 35: 1 के अनुपात में हो गया और जो 1992 में बढ़कर 72: 1 के अनुपात में हो गया। इसका यह मतलब नहीं कि 250 - 300 वर्ष पहले सब अमीर थे परन्तु इन वर्षों में कुछ गिने चुने ही और अमीर हुए हैं बल्कि बाकी सब पीछे छूट गये हैं।

2. **अमीर देशों तक प्रभाव:** पिछले 2-3 शताब्दियों में भूमंडलीकरण से विश्व में उत्पादन का केन्द्रीकरण विश्व के अमीर राष्ट्रों में हुआ है जिससे उनकी वित्तीय शक्ति में वृद्धि हुई है। आज अधिकतर औद्योगिक उत्पादन पश्चिम यूरोप, पूर्व एशिया तथा उत्तर अमेरिका में होता है। विश्व में व्यापार और पूंजी का प्रवाह भी इन्हीं राष्ट्रों तक केन्द्रित है। इस केन्द्रीकरण ने विश्व की अन्य आबादी की गरीबी और बढ़ाया है। गरीब राष्ट्रों की विश्व की अर्थ व्यवस्था में भूमिका घटी ही है। सिर्फ छः देश - ब्राजील, मेक्सिको, थाईलैंड, अर्जेन्टीना, इन्डोनेशिया और चीन विश्व के गरीब देशों में होने वाले कुल 32 प्रतिशत पूंजी निवेश का 60 प्रतिशत प्राप्त करते हैं। अतः भूमंडलीकरण ने विश्व वाणिज्य के कुछ गिने चुने केन्द्रों को विकसित किया है जिससे अधिकतर गरीब बाहर हैं।
3. **तीसरे विश्व की कर्ज की समस्या:** आर्थिक क्षेत्र में भूमंडलीकरण को तीसरे विश्व में थोपने का प्रमुख कारण है इन राष्ट्रों की कर्ज की समस्या। गरीब देश विश्व बैंक तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से कर्ज तभी प्राप्त कर सकते हैं जब वे उनके द्वारा सुझाये गये ढाँचागत सुधारों को अपनायें जो कि उन्हें अपनी अर्थ व्यवस्था को विश्व की मुक्त बाजार व्यवस्था के साथ जोड़ने के लिये मजबूर करते हैं। विश्व के लगभग 40 प्रतिशत देश विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के द्वारा निर्धारित आर्थिक सुधारों को अपनाये हुए हैं। इसका अर्थ यह है विश्व की आधी अर्थव्यवस्थाओं के असली प्रबंधक विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष हैं। आज के परिवेश में वर्ल्ड वाच इन्स्टीट्यूट की 2002-03 की रिपोर्ट के अनुसार तीसरे विश्व का कर्ज 2,530 बिलियन डालर है जो कि सन् 1980 का ढाई गुना है। कर्ज का सबसे अधिक बोझ अफ्रीका के उप सहारा क्षेत्र के देशों पर है।
4. **विश्व व्यापार:** गरीब देश न केवल कर्ज के बोझ से दबे हुए हैं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी इनका प्रदर्शन बहुत खराब है। न केवल विश्व व्यापार का बहुत बड़ा हिस्सा अमीर देशों के खाते में आता है बल्कि उसका संतुलन भी उन्हीं के पक्ष में है। गरीब देशों का व्यापार घाटा बहुत तेजी से बढ़ रहा है, जबकि अमीर देशों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ बढ़ रहा है। विश्व व्यापार धीमे धीमे तीन बड़े व्यापार समूहों, उत्तर अमेरिका, पूर्व एशिया तथा पश्चिमी यूरोप के इर्द गिर्द केन्द्रित है। इक्कीसवीं सदी की शुरुआत में विश्व के गरीब देशों के मन में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था से होने वाले लाभों के प्रति संशय की भावना उत्पन्न हो गयी है।

5. **सहायता:** गरीब देशों की गरीबी को देखते हुए लोगों को यह उम्मीद थी कि विदेशी सहायता उन्हें गरीबी से बाहर निकलने में मदद मिलेगी। परन्तु विदेशी सहायता भूमंडलीकरण की कमियों को दूर करने में मददगार नहीं साबित हो पायी है। अधिकतर आर्थिक सहायता देने के पीछे अमीर देशों का अपना छुपा हुआ राजनीतिक हित होता है। 1970 के दशक से आर्थिक सहायता के साथ बहुत सी शर्तें भी जुड़ी रहती हैं।
- उपरोक्त कारणों की वजह से हर्स्ट एवं थॉम्पसन ने यह तर्क दिया है कि आज की अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था कुछ विषयों के सम्बन्ध में सन 1870 से 1914 के बीच की अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से कम मुक्त है। साथ ही, उनके अनुसार वित्त और पूँजी विकसित से विकासशील देश में हस्तांतरित नहीं हो रही है। अतः यह कहा जा सकता है कि विश्व अर्थ व्यवस्था वैश्विक नहीं है बल्कि व्यापार, पूँजी निवेश एवं वित्तीय प्रवाह यूरोप, उत्तर अमेरिका एवं जापान तक सीमित रह गया है। उनके अनुसार भूमंडलीकरण का एक प्रभाव यह भी है कि वह प्रतीत होने देता है कि राष्ट्रीय सरकारें उसके आगे लाचार हैं जिससे कि वे वैश्विक आर्थिक शक्तियों पर किसी प्रकार का नियंत्रण न स्थापित करें।
- यह भी कहा जाता है कि वैश्वीकरण पाश्चात्य साम्राज्यवाद का तात्कालिक एवं आधुनिक चरण है क्योंकि वह जिस तरह की वैश्विक संस्कृति को जनम दे रहा है वह पाश्चात्य संस्कृति का ही पूरे विश्व में प्रसार कर रही है। साथ ही आर्थिक क्षेत्र में उदारीकरण एवं मुक्त बाजार व्यवस्था के द्वारा विश्व की अर्थव्यवस्था का एकीकरण तथा राजनीतिक क्षेत्र में लोकतंत्र एवं स्वतंत्रता के नाम पर पश्चिमी देश अपना साम्राज्यवाद या वर्चस्व पूरे विश्व, खास तौर पर गरीब एवं विकासशील देशों पर कायम रखना चाहते हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. कोलंबसने अमेरिका की यात्रा किस सन में की ?
2. 'द थ्री वेक्स आफ ग्लोबलाइजेशन' के लेखक कौन हैं ?
3. रोबी रॉबर्टसन ने आर्थिक भूमंडलीकरण के कितने चरणों की व्याख्या की ?
4. पुस्तक 'कंटेम्पोरेरी ईश्यूज इन ग्लोबलाइजेशन' के लेखक कौन हैं ?
5. भूमंडलीकरण को उदारीकरण से किसने जोड़ा है ?

9.4 सारांश

अंत में हम यह कह सकते हैं कि भूमंडलीकरण वह शक्ति नहीं जिससे पूरे विश्व का भला हो रहा हो जैसा कि पाश्चात्य पूँजीपति राष्ट्रों का दावा है। अतः इसका विस्तार एवं प्रसार का प्रबंधन बहुत ध्यानपूर्वक एवं सोच समझकर होना चाहिए क्योंकि यह लोगों की सशक्तीकरण करने वाली प्रक्रिया होनी चाहिए न कि फिर से एक तरह की गुलामी में ठेलने वाली प्रक्रिया होनी चाहिए। वैसे तो

9.11.2001 की घटनाओं के उपरान्त बहुत से विद्वानों का मानना है कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को एक करारा झटका लगा है क्योंकि राष्ट्रों की सुरक्षा अभी भी राष्ट्र-राज्य व्यवस्था पर ही आधारित हैं और भूमंडलीकरण की प्रक्रिया विश्व में सुरक्षा के क्षेत्र में बिल्कुल विफल रही है। बल्कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया का लाभ उठाकर आतंकवादी तथा अन्य विध्वंसकारी संगठन विश्व में अशांति एवं असुरक्षा का माहौल पैदा कर रहे हैं।

अतः हम यह कह सकते हैं कि विश्व के राष्ट्रों का एक दूसरे से जुड़ाव एवं अंतरनिर्भरता राष्ट्रों के पारस्परिक लाभ में तो है बशर्ते कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया अंतर्राष्ट्रीयवाद तथा सर्व मैत्री की भावना से लागू की जाय न कि विश्व में लोकतंत्र, स्वतंत्रता तथा आर्थिक विकास के नाम पर पाश्चात्य साम्राज्यवाद को पुनः स्थापित करने की भावना से की जाय।

9.5 शब्दावली

लोकतंत्र – जनता द्वारा निर्वाचित सरकार, जो जनता के प्रति उत्तरदाई होती है।

भूमंडलीकरण - यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अंतरगत विश्व के विभिन्न क्षेत्रों के बीच में अन्योन्याश्रता तथा पारस्परिकता की बढ़ोतरी हुई है जिसके कारण किसी जगह की स्थानीय घटनायें हजारों मील दूर घटित घटनाओं के द्वारा निर्धारित हो रही हैं।

9.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सन् 1492 ,2. रोबी रॉबर्टसन ,3. तीन चरणों की ,4. सौम्येन सिकदर ,5. सौम्येन सिकदर

9.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Palmer and Perkins : International Relations
2. Coloumbis & Wolfe : International Relations – Power and Justice.
3. Prakash Chandra : International Policies
4. Mahendra Kumar : Theoretical Aspects of International Relations.

9.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

कुमार, महेन्द्र (2013), अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक परिपेक्ष्य, शिवलाल अग्रवाल पब्लिकेशनस एण्ड कॉरपोरेशन।

फाड़िया, बी.एल. (2008) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशनस, आगरा।

खन्ना, बी.एन. (2003) अन्तर्राष्ट्रीय संबंध, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा.लि

9.9 निबंधात्मक प्रश्न

1- भूमंडलीकरण के अर्थ और उसके महत्वपूर्ण तत्वों की विवेचना कीजिये।

इकाई – 10 : भारत की विदेश नीति , विदेश नीति के निर्धारक तत्व

इकाई की संरचना

- 10.1 प्रस्तावना
- 10.2 उद्देश्य
- 10.3 विदेश नीति की अवधारणा
- 10.4 भारतीय विदेश नीति की अवधारणा
- 10.5 विदेश नीति के निर्धारक तत्व
 - 10.5.1 राष्ट्र का आकर
 - 10.5.2 भूगोलिक तत्व:
 - 10.5.3 आर्थिक विकास
 - 10.5.4 तकनीकी विकास
 - 10.5.5 वैचारिक तत्व
 - 10.5.6 इतिहास और परम्परा
 - 10.5.7 राष्ट्रीय हित
 - 10.5.8 सैनिक तत्व
 - 10.5.9 नेतृत्व-व्यक्तित्व
 - 10.5.10 भारतीय समाज
- 10.6 भारतीय विदेश नीति की विशेषताएँ
 - 10.6.1 गुट निरपेक्षता की नीति
 - 10.6.2 विश्व शांति की नीति
 - 10.6.3 पंचशील सिद्धांत
 - 10.6.4 साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का विरोध
 - 10.6.5 प्रजातीय विभेद का विरोध
 - 10.6.6 सयुक्त राष्ट्र संघ में भारत का विश्वास
- 10.7 भारत एक उभरती शक्ति के रूप में
 - 10.7.1 भौगोलिक कारक
 - 10.7.2 आर्थिक कारक
 - 10.7.3 सैनिक कारक
 - 10.7.4 विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी

-
- 10.7.5 ऊर्जा
 - 10.8 सारांश
 - 10.9 शब्दावली
 - 10.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
 - 10.11 संदर्भ ग्रन्थ
 - 10.12 सहायक - उपयोगी पाठ्य सामग्री
 - 10.13 निबंधात्मक प्रश्न
-

10.1 प्रस्तावना

भारत विश्व में एक विस्तृत भूभाग और विशाल जनसंख्या वाला देश है। अतः इसकी विदेश नीति का विश्व की राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। स्वतंत्रता से पूर्व भारत की कोई विदेश नीति नहीं थी क्योंकि भारत ब्रिटिश सत्ता के अधीन था, परन्तु विश्व मामलों में भारत की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। इसका सांस्कृतिक अतीत अत्यन्त गौरवमय रहा है। न केवल पड़ोसी देशों के साथ, अपितु दूर - दूर के देशों के साथ भी भारत का सांस्कृतिक एवं व्यापारिक आदान-प्रदान होता रहा है। आज भी अनेक पड़ोसी देशों पर उसकी सांस्कृतिक छाप स्पष्ट दिखायी पड़ती है। भारत 15 अगस्त 1947 को स्वतंत्रता हुआ और अपनी स्वतंत्रता के साथ ही विश्व का सबसे बड़ा प्रजातांत्रिक देश बन गया।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत हम मुख्यतः विदेश नीति की अवधारणा, इसका अर्थ, भारतीय विदेश नीति के निर्धारक तत्व और बदलते परिवेश में भारतीय विदेश नीति पर पड़ने वाले प्रभावों तथा विदेश नीति को प्रभावित करने वाले बाह्य कारकों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे, वैश्वीकरण के दौर में भारतीय विदेश नीति कहाँ तक सफल रही है यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

इस इकाई को पढ़ने और समझने के पश्चात हम :-

- विदेश नीति की अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- बदलते परिवेश में भारतीय विदेश नीति कहाँ तक सफल रही है से परिचय हो पाएँगे।
- भारतीय विदेश नीति को प्रभावित करने वाले कारकों को जान सकेंगे।
- भारतीय विदेश नीति की मूलभूत विशेषताओं के महत्व को समझ सकेंगे।

10.3 विदेश नीति की अवधारणा

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का निर्धारण प्रायः विदेश नीति के आधार पर होता है। प्रत्येक देश पहले अपने राष्ट्रीय हितों की समीक्षा करता है और फिर उन सिद्धांतों को निश्चित करता है जिन पर उसकी विदेश नीति आधारित होगी। किसी भी देश की विदेश नीति उसके राजनीतिक उद्देश्यों और महत्वपूर्ण कारकों पर आधारित होती है जो यह स्पष्ट करता है कि कोई देश विश्व के अन्य देशों और अन्य गैर - राजकीय संस्थाओं के साथ किस तरह के सम्बन्ध स्थापित करेगा। देश की विदेश नीति को प्रभावित करने वाले ये कारक घरेलू और बाह्य दोनों तरह के होते हैं। विदेश नीति का निर्माण प्रायः किसी देश के राष्ट्रीय हितों, राष्ट्रीय सुरक्षा, विचारधारा तथा आर्थिक विकास को सुरक्षित करने के लिए किया जाता है। सामान्यतः विदेश नीति के निर्माण का उत्तरदायित्व सरकार के अध्यक्ष एवम् विदेश मंत्री का होता है परन्तु इसकी निर्माण प्रक्रिया में कई प्रकार के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक समूहों वगैरें अथवा वर्ग हितों के दबाव कार्य कर रहे होते हैं।

10.4 भारतीय विदेश नीति की अवधारणा

जनसंख्या की दृष्टि से भारत संसार का दूसरे नंबर का सबसे बड़ा देश है जिसमें भिन्न - भिन्न जाति, धर्मों और भाषाओं वाले लोग रहते हैं। ऐसी व्यापक विभिन्नता वाले देश में एकता लाना और इसे प्रजातांत्रिक तरीके से प्रबंधित करना अपने आप में एक उपलब्धि है। 1947 के बाद, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत एक स्वतंत्र देश के रूप में उभरा और अपनी स्वतंत्रता के साथ ही भारत ने अपनी स्वतंत्र विदेश नीति का निर्माण किया। भारतीय विदेश नीति पर भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू की गहरी छाप है। उनके द्वारा निर्धारित विदेश नीति के मूलभूत सिद्धान्त आज भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं। भारत की विदेश नीति की रूप रेखा को स्पष्ट करते हुए जवाहर लाल नेहरू ने सितम्बर 1946 में यह कहते हुए उद्घोष किया था कि "विदेशिक संबंधों के क्षेत्र में भारत एक स्वतंत्र नीति का अनुसरण करेगा और गुटों की खींचतान से दूर रहते हुए संसार के समस्त पराधीन देशों को आत्म निर्णय का अधिकार प्रदान करने तथा जातीय भेदभाव की नीति का दृढ़तापूर्वक उन्मूलन करने का प्रयत्न करेगा।" नेहरू का यह कथन आज भी भारत की विदेश नीति एक आधार स्तम्भ है। शीत युद्ध युद्ध के समय भारत ने गुट - निरपेक्षता की नीति अपनाई तथा दोनों महाशक्तियों के संदर्भ में जहाँ तक हो सका राष्ट्रीय हितों के अनुरूप अपनी स्वायत्त विदेश नीति का अनुसरण किया।

भारत की विदेश नीति की मूल बातों का समावेश हमारे संविधान के अनुच्छेद 51 में कर दिया गया है जिसके अनुसार राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बढ़ावा देगा, राज्य राष्ट्रों के मध्य न्याय और सम्मान पूर्वक संबंधों को बनाये रखने का प्रयास करेगा, राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा संधियों का सम्मान करेगा तथा राज्य अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को पंच फैसलों द्वारा निपटाने की नीति को बढ़ावा देगा।

परन्तु बदलते परिवेश एवं समय के साथ भारतीय विदेश नीति में बहुत से बदलाव आये हैं। जिसके आधार पर भारत की विदेश नीति को तीन अलग - अलग ऐतिहासिक चरणों में बांटा जा सकता है। पहला चरण 1947 से 1962 तक, दूसरा चरण 1962 से 1991 तक और तीसरा 1991 से वर्तमान समय तक। पहली अवधि में भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू के संरक्षण के अंतर्गत भारतीय विदेश नीति के सबसे आदर्शवादी चरण का गठन हुआ।

दूसरा चरण, (1962) भारत-चीन सीमा युद्ध में भारत की विनाशकारी हार के साथ शुरू हुआ, और इसके साथ ही भारतीय विदेश नीति में क्रमिक बदलाव आना शुरू हो गया था।

तीसरे चरण में शीत युद्ध के अंत और यथार्थवाद के सिद्धांतों को बारीकी से तराश कर एक और अधिक व्यावहारिक विदेश नीति की गोद लेने के साथ शुरू हुआ।

जब भारत स्वतंत्र हुआ उस समय विश्व परिदृश्य काफी बदल चुका था। यह समय शीत युद्ध का था और विश्व दो शक्ति गुटों में विभाजित हो गया था। पहला गुट पूंजीवादी विचारधारा से प्रभावित था जिसकी अध्यक्षता अमेरिका कर रहा था और दूसरा गुट साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित था और इसका अध्यक्ष सोवियत रूस था। भारत के प्रधान मंत्री नेहरू जी किसी भी गुट में शामिल नहीं होना चाहते थे जिसकी वजह से उन्होंने एक नई नीति अपनायी जिसे गुट - निरपेक्षता के नाम से जाना जाता है। गुट - निरपेक्षता भारतीय विदेश नीति की सबसे बड़ी विशेषता है इसका उद्देश्य बाहरी हस्तक्षेप से राष्ट्रीय स्वतंत्रता को मुक्त रखना था। गुट - निरपेक्षता का अर्थ न तो तटस्थता न गैर-भागीदारी है और न ही पृथक्तावाद था यह एक गतिशील अवधारणा थी जिसका मतलब अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर स्वतंत्र रूप से खड़ा होना था।

परन्तु बदलते समय के साथ भारतीय विदेश नीति में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन आये जैसे 1954-55 में पकिस्तान ने अमेरिका के प्रतिनिधित्व वाले सैनिक गठबंधन केंद्रीय संधि सहयोग की सदस्यता स्वीकार की तो भारत को सोवियत संघ की ओर रुख करना पड़ा। दूसरी तरफ पाकिस्तान में अमेरिका के अड्डों ने सोवियत संघ की चिंता बढ़ा दी जिसके परिणामस्वरूप सोवियत संघ की भारत में रुचि बढ़ने लगी। इसके साथ ही अमेरिका और पाकिस्तान के संबंधों में मजबूतिया आई और दूसरी तरफ पाकिस्तान और चीन के बीच सैनिक और राजनैतिक सन्धियां हुईं जिससे पकिस्तान, 1965 के भारत - पाक युद्ध में चीन की सहायता प्राप्त करने में सफल रहा। वियतनाम युद्ध में व्यस्त होने की वजह से अमेरिका दोनों देशों के बीच कोई समझौता नहीं करवा पाया जिसका फायदा सोवियत संघ ने ताश्कंद में भारत और पाकिस्तान के बीच समझौता करवा के शांति स्थापित करने का श्रेय प्राप्त किया। एक तरफ 1971 में भारत और सोवियत संघ के बीच एक मैत्री

समझौता हुआ जिसके तहत भारत को न केवल सैनिक और तकनीकी सहायता मिली बल्कि भविष्य में होने वाले भारत-पाक युद्ध में पूर्ण रणनीतिक समर्थन भी मिला।

दूसरी तरफ अमेरिका ने 1971 के युद्ध में न केवल पाकिस्तान का साथ दिया बल्कि, भारत को चेतावनी दी और अपने 17वा फ्लीट के समुद्री बड़े को बंगाल की खाड़ी की तरफ भेज दिया जो की भारत के लिए खतरा बन सकता था। परन्तु सोवियत संघ की मदद से भारत को इस युद्ध में भी विजय प्राप्त हुई। वास्तव में कश्मीर का मुद्दा तथा अमेरिका का पाक समर्थित दृष्टिकोण, भारत की गुट - निरपेक्ष नीति, भारत का सोवियत संघ के साथ नजदीकी संबंध, और भारत का एन पी टी तथा सी टी बी टी पर हस्ताक्षर न करना ये कुछ ऐसे मुद्दे थे जिनके चलते भारत एवं अमेरिका में नजदीकी संबंध विकसित नहीं हो सके।

1991 में सोवियत संघ के विघटन से भारत ने सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में बड़ी शक्ति रखने वाला अपना एक विश्वसनीय दोस्त खो दिया इसके साथ ही सोवियत यूनियन से मिलने वाली आधुनिक सैनिक टेक्नोलॉजी गारंटी भी समाप्त हो गई। सोवियत संघ के पतन से भारत की राज्य निर्देशित आर्थिक विकास की नीति को भी जबरदस्त धक्का लगा जिससे विदेश नीति के संदर्भ में भी गम्भीर खतरा उत्पन्न हो सकता था। भारत ने अपने आंतरिक आर्थिक संकट के कारण उदारीकरण तथा निजीकरण की नीति अपनाई। जिससे भारत का झुकाव पश्चिमी देशों की तरफ बढ़ने लगा। 1999 का कारगिल युद्ध और 2001 में 9/11 की घटना के उपरांत अमेरिका में आतंकवाद के विरुद्ध भारत और अमेरिका का रुख मार्च 2006 में हुआ भारत-अमेरिका परमाणु समझौता। यह सबित करता है की भारत का झुकाव पश्चिमी देशों की तरफ ज्यादा रहा। परन्तु इसके बावजूद भी भारतीय विदेश नीति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया और यह कहना की भारत का झुकाव पश्चिमी देशों की तरफ रहा है यह पूरी तरह सही नहीं है क्योंकि आज भी भारत और रूस का संबंध उतना ही मजबूत है जितना पहले था, दिसम्बर 2014 में राष्ट्रपति पुतिन द्वारा की गई भारत यात्रा और संधि समझौते इस बात का प्रमाण है कि भारत, अमेरिका तथा रूस दोनों देशों से आर्थिक सहायता प्राप्त करने का इच्छुक है।

10.5 विदेश नीति के निर्धारक तत्व

भारतीय विदेश नीति को निर्धारित करने वाले निम्नलिखित कारक हैं :-

10.5.1 राष्ट्र का आकार

राष्ट्र का आकार विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण तत्व होता है। आकार, उस मनोवैज्ञानिक तथा परिचालक वातावरण को प्रभावित करता है जिसमें नीति - निर्माताओं तथा लोगों ने प्रतिक्रिया करनी होती है। बड़े आकार वाले राज्य से छोटे आकार वाले राज्य की विदेश नीति भिन्न होती है।

बड़े आकार वाले राज्य की विदेश नीति निश्चय ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में बड़ी शक्ति बनने की इच्छा द्वारा संचालित होती है। अमरीका, रूस, जर्मनी, फ्रांस, चीन, भारत तथा अन्य सभी राज्यों की विदेश नीतियों में आकार एक महत्वपूर्ण तत्व है। बड़े आकार वाले राज्य सदैव सक्रिय विदेश नीति बनाते हैं, जिसके द्वारा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में प्रमुख भूमिका निभाने का प्रयास करते हैं।

भारत अपने आकार के कारण दक्षिण एशिया का सबसे बड़ा देश है। भारत की केवल अफगानिस्तान को छोड़कर सार्क के सभी देशों के साथ साझी सीमाएँ हैं और अपने आकार एवं आबादी की दृष्टि से यह इन सभी देशों में अपनी महत्वपूर्ण स्थिति का लाभ उठा रहा है। इसके आलावा, भारत की विश्व के सभी देशों में एक विशिष्ट स्थिति है। क्योंकि यह सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक देश है। यह क्षेत्र की दृष्टि से विश्व का सातवा बड़ा देश है और विभिन्न भाषाओं एवं प्रादेशिक विविधताओं वाला विश्व में दूसरा सबसे अधिक आबादी वाला देश है। ये सभी विशेषताएँ वैश्विक शक्तियों द्वारा भारत को भी इसमें शामिल करने के लिए उन्हें प्रभावित करती हैं।

10.5.2 भूगोलिक तत्व:

किसी भी विदेश नीति के निर्माण में उस देश की भौगोलिक परिस्थितियाँ प्रमुख और निर्णायक भूमिका निभाती हैं। **के. एम. पणिक्कर** के अनुसार, “जब नीतियों का लक्ष्य प्रादेशिक सुरक्षा होता है तो उसका निर्धारण मुख्य रूप से भौगोलिक तत्व से हुआ करता है। **नेपोलियन बोनापार्ट** ने भी कहा था “की किसी देश की विदेश नीति उसके भूगोल द्वारा निर्धारित होती है।” **डा. एयर्स** का मत भी है की “समझोते तोड़े जा सकते हैं, सन्धियाँ भी एक तरफा समाप्त की जा सकती हैं, परन्तु भूगोल अपने शिकार को कसकर पकड़े रहता है।” भारत के संदर्भ में उपर्युक्त बातें सही हैं। भारत की विदेश नीति के निर्धारण में भारत के आकार, एशिया में उसकी विशेष स्थिति तथा दूर - दूर तक फैली हुई भारत की सामुद्रिक और पर्वतीय सीमाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। नेहरू जी ने 1949 में कहा था की भारत की स्थिति अत्यंत महत्वपूर्ण है जिसके कारण कोई भी देश भारत की उपेक्षा नहीं कर सकता। भारत उत्तर में साम्यवादी गुट के दो प्रमुख देशों - पूर्व सोवियत संघ और चीन के बिलकुल समीप है। भारत के एक छोर पर पाकिस्तान है तो दूसरे छोर पर उसकी सीमा समुद्रों से घिरी हुई है। स्वतंत्रता - प्राप्ति के बाद अपनी लम्बी सीमाओं की सुरक्षा भारत के लिए मुख्य चिंता का विषय था। यदि भारत साम्यवादी गुट में सम्मिलित हो जाता तो उसकी समुद्री सीमा पर खतरा उत्पन्न हो जाता, क्योंकि पश्चिमी गुट का अपनी नौ-शक्ति के कारण हिन्द महासागर पर दबदबा था। यदि भारत पश्चिमी गुट में सम्मिलित होता तो उत्तरी सीमा पर साम्यवादी राष्ट्र उसके लिए स्थायी खतरा उत्पन्न कर सकते थे। इन भौगोलिक परिस्थितियों में विदेश नीति की दृष्टि से भारत के लिए यह उचित है की वह दक्षिण में समुद्री सीमा सुरक्षित बनाये रखने के लिए ब्रिटेन से मैत्री सम्बन्ध बनाये रखे और उत्तर में अपनी स्थिति सुरक्षित रखने के लिए साम्यवादी देशों से अनुकूल संबंध बनाये रखने की चेष्टा करे।

हिमालय और हिन्द महासागर दोनों ही भारत की सुरक्षा में बहुत बड़ी भूमिका अदा करते हैं। हिमालय को भारत का प्रकृतिक सुरक्षा पट्टी के रूप में देखा जाता है और दूसरी ओर हिन्द महासागर से जुड़ी लगभग 3500 कि. मी. की समुद्री सीमा की सुरक्षा के लिए नई और मजबूत नौ सेना की जरूरत है। ताकि वह महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा को हिन्द महासागर में रोक सके। हिन्द महासागर में भारत का सबसे बड़ा हित यह है कि वह 'स्वतंत्रता एवं शांति का क्षेत्र' बना रहे। अतः भारत ने डियागो गार्शिया में अमरीकी सैनिक अड्डों का उतना ही विरोध किया जितना की वह इस क्षेत्र में बढ़ते हुए सोवियत प्रभाव का विरोधी रहा है। भारत की धारणा है कि इस क्षेत्र में महाशक्तियों की गतिविधियां बढ़ जाने से उसकी सीमाओं एवं व्यापार को खतरा उत्पन्न हो सकता है।

10.5.3 आर्थिक विकास

किसी भी देश की विदेश नीति में आर्थिक तत्व महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भारत की आर्थिक उन्नति तभी संभव थी जब अंतर्राष्ट्रीय शांति बनी रहे। आर्थिक दृष्टि से भारत का अधिकांश व्यापार पश्चात्य देशों के साथ था और पश्चात्य देश भारत का शोषण कर सकते थे। भारत अपने विकास के लिए अधिकतम विदेश सहायता का भी इच्छुक था। इस दृष्टिकोण से भारत के लिए सभी देशों के साथ मैत्री का बर्ताव रखना आवश्यक था और वह किसी भी एक गुट से बंध नहीं सकता था। गुटबंदी से अलग रहने के कारण उसे दोनों ही गुटों से आर्थिक सहायता मिलती रही, क्योंकि कोई भी गुट नहीं चाहता था कि भारत दूसरे गुट के प्रभाव - क्षेत्र में आ जाए।

स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय विदेश नीति के ये मुख्य निर्धारक रहे जिसका विवेचन निम्नलिखित रूपों से किया जा सकता है :-

1. भारत ने गुटनिरपेक्षता की नीति अपनायी ताकि शांति को प्रोत्साहन देते हुए वह दोनों गुटों से आर्थिक सहायता प्राप्त करता रहे।
2. भारत जैसे विशाल और महान देश के लिए यह स्वभाविक था कि वह ऐसी विदेश नीति का अनुसरण करता जिससे स्वयं के निर्णय शक्ति पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़ सके।
3. भारत के नीति - निर्माताओं ने यह भली-भांति समझ लिया कि उनका देश विश्व के पूंजीवादी और साम्यवादी शिविरों के साथ मित्रता स्थापित करके दोनों को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है।

10.5.4 तकनीकी विकास

स्वतंत्रता के समय भारत एक पिछड़ा हुआ देश होने के साथ अविकसित प्रौद्योगिकी और निम्न स्तर का औद्योगीकरण था, जिसकी वजह से भारत तकनीकी विकास और औद्योगीकरण के लिए

विकसित राष्ट्रों के आयात पर निर्भर करता था। परन्तु बाद में भारत ने धीरे-धीरे तकनीकी और औद्योगिक विकास किया, भारतीय वैज्ञानिकों ने तकनीकी में सफलता प्राप्त कर ली है। आज भारत तीसरी दुनिया के देशों में अपनी नई तकनीक और औद्योगिक मॉल निर्यात कर रहा है। राकेट टेक्नोलॉजी, सैटेलाइट टेक्नोलॉजी, एटॉमिक टेक्नोलॉजी और बढ़ता हुआ औद्योगिक उत्पादन इन सभी ने भारत की भूमिका को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर और ज्यादा बढ़ा दिया है। भारत और विकसित राष्ट्रों के बीच आज भी बहुत बड़ा अंतर है। भारत आज भी विकासशील राष्ट्र है जो अपने विकास के लिए विकसित राष्ट्रों पर निर्भर करता है। अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं पर भारत की लगातार बढ़ती निर्भरता उसकी विदेश नीति की सफलता में एक बड़ा खतरा बन सकती है।

10.5.5 वैचारिक तत्व

भारत की विदेश नीति के निर्धारण में शांति और अहिंसा पर आधारित गाँधीवादी विचारधारा का भी गहरा प्रभाव दिखाई देता है। इस विचारधारा से प्रभावित होकर ही संविधान के अनुच्छेद ५१ में विश्व शांति की चर्चा की गई है। भारत के द्वारा हमेशा ही विश्व शांति और शांतिपूर्ण सह-जीवन का समर्थन तथा साम्राज्यवाद और प्रजातीय विभेद का घोर विरोध किया गया है। भारत ने लोकतान्त्रिक समाजवाद को अपनी शासन व्यवस्था का आधार बनाया है। भारत की विदेश नीति की नींव डालने वाले पं. जवाहरलाल नेहरू पाश्चात्य लोकतंत्रीय परम्परा से बहुत प्रभावित थे। वे पश्चिमी लोकतंत्रवाद और साम्यवाद दोनों की अच्छाइयों को पसंद करते थे। इस प्रकार की समन्वयकारी विचारधारा ने गुट निरपेक्षता की नीति के विकास में योगदान दिया।

10.5.6 इतिहास और परम्परा

भारत की विदेश नीति के निर्धारण में ऐतिहासिक परम्पराओं का भी बड़ा योगदान रहा है। प्राचीनकाल से ही भारत की पहचान एक सहिष्णु और शांतिप्रिय देश के रूप में रही है। भारत ब्रिटिश उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का शिकार हुआ लेकिन उसने स्वयं कभी भी किसी भी देश पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। भारत की यह परम्परा विदेश नीति में स्पष्ट दिखायी देती है।

हिन्दू सभ्यता का चरित्र और उसकी विशेषताएँ; जैसे - शांति, समन्वय और सहिष्णुता की भावनाएँ हमारी विदेश नीति का बहुत बड़ा आधार हैं। 190 वर्षों के अंग्रेजी शासन का भी हमारी विदेश नीति के निर्धारण में बहुत बड़ा योगदान रहा है। देश में संसदीय प्रणाली, उदारवाद, अंग्रेजी भाषा का प्रयोग, प्रशासनिक ढाँचा, आदि इसके प्रमाण हैं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का हमारा कटु अनुभव इसके मूल में है। भारत का शुरु से ही पाकिस्तान के साथ शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध रहा। पाकिस्तान ने भारत पर एक के बाद एक आक्रमण किए और प्रत्येक युद्ध में भारत ने पाक को हराया लेकिन भारत ने कभी भी उस पर अपनी शर्तें आरोपित नहीं की। साम्यवादी चीन ने भारत के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाया

और १९६२ में भारत पर आक्रमण करके इसके विशाल भू - भाग पर अधिकार कर लिया इसके बावजूद भारत चीन के साथ सम्बन्ध सुधारने के लिए प्रयत्नशील है। इसके साथ ही दक्षिण - पूर्व एशियाई राष्ट्रों के साथ सांस्कृतिक व आध्यात्मिक सम्बन्ध भी ऐतिहासिक अनुभवों के परिणाम है।

10.5.7 राष्ट्रीय हित

किसी भी देश की विदेश नीति प्रायः राष्ट्रीय हित को ध्यान में रख कर निर्धारित होती है स्वयं नेहरू ने भी संविधान सभा में कहा था की “किसी भी देश की विदेश नीति की आधारशीला उसके राष्ट्रीय हित की सुरक्षा होती है और भारत की विदेश नीति का ध्येय यही है”। भारत के भी अपने राष्ट्रीय हित है जिनकी छाप भारत की विदेश नीति पर स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। भारत के दो प्रकार के राष्ट्रीय हित है स्थायी हित जैसे की अखंडता और सुरक्षा तथा दूसरा अस्थायी राष्ट्रीय हित जैसे खाधान, विदेश पूंजी, तकनीकी विकास आदि।

यदा - कदा भारत की विदेश नीति में विरोधाभास दिखाई देता है, यह इस बात को सिद्ध करता है की भारत की विदेश नीति में राष्ट्रीय हितों का सबसे बड़ा स्थान है। राष्ट्रीय हितों के सन्दर्भ में ही भारत ने पश्चिमी एशिया के संकट में इजरायल के बजाय अरब राष्ट्रों का सदैव समर्थन किया। गुट - निरपेक्ष होते हुए भी ९ अगस्त 1971 को सोवियत संघ के साथ एक 20 वर्षीय संधि की। भारत की विदेश नीति दूसरे देशों के आंतरिक मामलों से हस्तक्षेप के विरुद्ध है, परन्तु अपने राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए ही भारत ने अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप की भर्त्सना नहीं की। भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के १४ जनवरी १९८० के उस प्रस्ताव के मतदान में हिस्सा ही नहीं लिया जिसमें अफगानिस्तान से विदेशी सेनाओं तत्काल बिना शर्त और पूर्ण वापसी की बात कही गयी थी। भारत ने ५ जून, 1987 को मानवीय आघात पर श्रीलंका में जाफना की पीड़ित जनता का लिए हवाई मार्ग से रहत सामग्री पहुंचायी। स्वतंत्रता के बाद के इतिहास में यह पहला अवसर था जब भारत ने किसी देश की अंतर्राष्ट्रीय सीमा का उल्लंघन किया। निशस्त्रीकरण का प्रबल समर्थक होते हुए भी भारत ने अणु अप्रसार संधि (N.P.T.) तथा व्यापक परीक्षण प्रतिबंध संधि (CTBT) पर हस्ताक्षर करने से साफ इंकार कर दिया क्योंकि भारत का नाभिकीय विकल्प राष्ट्रीय सुरक्षा का एक अंग है।

10.5.8 सैनिक तत्व

नवोदित भारत सैनिक दृष्टि से निर्बल था अतः विदेशी नीति के निर्धारकों ने यह उपयुक्त समझा की दोनों गुटों की सहानुभूति अर्जित की जाये। यह तभी संभव था जब गुटनिरपेक्षता और सह - अस्तित्व की नीति अपनाई जाती। अपनी रक्षा के लिए अनेक दृष्टियों से वह पूरी तरह विदेशों पर निर्भर था। भारत की दुर्बल सैनिक स्थिति उसे इस बात के लिए बाध्य करती रही की विश्व की सभी महत्वपूर्ण शक्तियों के साथ मैत्री बनाये रखी जाये। प्रारम्भ से ही भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहा, उसका भी यही राज था कि सैनिक दृष्टि से भारत ब्रिटेन पर ही निर्भर था।

10.5.9 नेतृत्व-व्यक्तित्व

भारत की विदेश नीति पर वैयक्तिक तत्वों का विशेषकर नेहरू जी के व्यक्तित्व का व्यापक प्रभाव रहा। जवाहरलाल नेहरू न केवल भारत के प्रधान मंत्री थे, अपितु विदेश मंत्री भी थे उनका उनके व्यक्तित्व की छाप विदेश नीति के हर पहलू पर झलकती है। वे साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, और फासीवाद के प्रबल विरोधी तथा अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के प्रबल समर्थक थे। वे मैत्री, सहयोग और सहअस्तित्व की विचारधारा के पक्ष पाती थे। नेहरू जी महाशक्ति के संघर्ष में भारत के लिए ही नहीं अपितु विश्व के समस्त नवस्वाधीन राष्ट्रों के लिए असंलग्नता की नीति को सर्वोत्तम मानते थे। अपने इन्हीं विचारों के अनुरूप उन्होंने भारत की विदेश नीति को ढाला और आज इसका जो कुछ भी रूप है वह पंडित नेहरू के विचारों का ही मूर्त रूप है।

लेकिन स्वयं नेहरू इसे नहीं मानते थे। उन्होंने एक बार कहा था की "भारत की विदेश नीति को नेहरू नीति कहना सर्वथा भ्रांतिपूर्ण है। यह इसलिए गलत है की मैंने केवल इस नीति का शब्दों में प्रतिपादन किया है, मैंने इसका अविष्कार नहीं किया। यह भारतीय परिस्थितियों की उपज है। वैयक्तिक रूप से मेरा यह विश्वास है की भारत के वैदेशिक मामलों की बागडोर यदि किसी अन्य व्यक्ति या दल के हाथ में होती तो उसकी नीति वर्तमान नीति से बहुत भिन्न न होती।" नेहरू के अतिरिक्त राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन, विदेश मंत्री वी. के. कृष्ण मेनन और के. एम. पणिककर भी उन विशिष्ट व्यक्तियों में थे जिन्होंने भारत की विदेश नीति को प्रभावित किया।

10.5.10 भारतीय समाज

सामाजिक स्तर पर भारत एक बहुलवादी समाज रहा है जिसमें, विभिन्न जातियां, उपजातियां, वर्ग, विचारधारायें, भाषायें, धर्म, नस्लों आदि का सम्मिश्रण रहा है। राजनीतिक आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक सभी दृष्टिकोणों से यह भिन्नता का देश रहा है। अतः भारत की इस विभिन्नता में एकता बनाये रखने के लिए भारत को ऐसी विदेश नीति अपनाने की आवश्यकता थी जो सभी राष्ट्रीयताओं अथवा उप - राष्ट्रीयताओं को संतुष्ट कर सके। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय हिट को ध्यान में रखते हुए भारत ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न राज्यों में समझौता, तालमेल तथा सहयोग की नीति अपनाने में जोर दिया। जहां भारत पश्चिम की उदारवादी प्रजातांत्रिक परम्पराओं से प्रभावित हुआ, वह यह मार्क्सवादी समाज की उपलब्धियों का भी प्रशंसक रहा और अपनी समझौतावादी नीति के अनुरूप दोनों को उचित सम्मान दिया।

10.6 भारतीय विदेश नीति की विशेषताएँ

किसी भी देश की विदेश नीति के निर्माण में अनेक तत्वों का योगदान होता है। भारत की विदेश नीति के निर्माण में भी अनेक तत्वों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ये तत्व या कारक आंतरिक

वातावरण और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों, दोनों से संबंधित है जिनका विस्तृत वर्णन उपर्युक्त किया जा चुका है। भारत के नीति निर्माताओं ने कुछ विदेश नीति से संबंधित कुछ सिद्धांतों एवं उद्देश्यों को भी निश्चित किया जिन पर भारत के अंतर्राष्ट्रीय संबंध आधारित थे। भारत की विदेश नीति का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित विशेषताएँ भारतीय विदेश नीति में दिखाई पड़ती हैं।

10.6.1 गुट निरपेक्षता की नीति

विश्व राजनीति में भारतीय दृष्टिकोण मुख्यतः गुट निरपेक्षता का रहा है। इसे भारतीय विदेश नीति का सार कहा जाता है। राष्ट्र के रूप में भारत का जन्म हुआ। स्वतंत्र भारत के समक्ष यह विकट समस्या थी कि वह किस गुट में शामिल हो और किसमें नहीं? भारत के समक्ष दो मार्ग थे - या तो किसी एक गुट के साथ मिलकर संसार के संघर्ष क्षेत्र को और अधिक व्यापक करने में अपना योगदान दे या फिर गुटबन्धियों से दूर रहकर दो विरोधी गुटों में मेल मिलाप कराने का यत्न करे। बहुत विचार विमर्श के पश्चात् भारत ने किसी गुट में शामिल न होना स्वीकार किया, गुटबन्दी में शामिल होना न तो भारत के हित में था और न ही संसार के, अतः भारत ने दोनों गुटों से अलग रहने की जो नीति अपनाई उसे गुट निरपेक्षता की नीति के नाम से जाना जाने लगा जिसके अंतर्गत भारत अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रश्नों पर गुट निरपेक्षता की नीति का अनुसरण करते हुए उनकी वास्तविकता का ध्यान रखते हुए स्वतंत्रता रूप से सभी प्रश्नों पर अपना निर्णय देता है। स्वतंत्रता से लेकर आज तक भारत गुट निरपेक्षता की नीति का अनुसरण करता आ रहा है।

10.6.2 विश्व शांति की नीति

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् विश्व शांति की स्थापना के लिए सदातत्पर रहना और इस महान कार्य में योगदान करना भारतीय विदेश नीति का एक मूल तत्व बन गया है। भारत ने इस तरह अपनी विदेश नीति का निर्धारण करना शुरू किया जिनसे विश्व की शांति सुरक्षित रहे इसी उद्देश्य से प्रेरित हो कर उसने गुट निरपेक्षता की नीति का अनुसरण किया क्योंकि गुटबन्दी और हथियारों की होर को बढ़ावा देना विश्व शांति के लिए बहुत अधिक खतरनाक है। विश्व शांति के लिए ही भारत ने निशस्त्रीकरण का जबरजस्त समर्थन किया क्योंकि खतरनाक आणविक हथियारों का अस्तित्व तीसरे विश्व युद्ध का कारण बन सकता है। इसलिए 1953 में जब आणविक परीक्षण रोक संधि हुई तो भारत वह पहला देश था जिसने अविलम्ब इस संधि पर हस्ताक्षर किये। आज भी इस दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं आया है। भारत ने हर उस निर्णय की आलोचना की जो विश्व शांति के लिए खतरा उत्पन्न कर सकता है।

10.6.3 पंचशील सिद्धांत

पंचशील सिद्धांतों को भारत की विदेश नीति की आधारशिला कहा जाता है २९ जून १९५४ को अपनाये गए सिद्धान्त ने भारतीय विदेश नीति को एक नई दिशा प्रदान की ये सिद्धांत निम्नलिखित हैं :-

1. एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और संप्रभुता का सम्मान करे
2. एक - दूसरे राज्य पर अनाक्रमण
3. अहस्तक्षेप की नीति
4. पारस्परिक सहयोग और समानता का व्यवहार
5. शांतिपूर्ण सहअस्तित्व

इन सिद्धांतों का निर्धारण तिब्बत के संबंध में भारत और चीन के बीच हुए एक समझौते में किया गया था जिसमें चीन और भारत ने आपसी संबंधों के संचालन के लिए इन पांच सिद्धांतों के पालन का निश्चय किया, की वे एशिया तथा विश्व के अन्य देशों के साथ अपने संबंधों में भी इनका अनुसरण करेगा।

10.6.4 साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का विरोध

भारत स्वयं एक लम्बे अरसे तक उपनिवेशवाद का शिकार रहा यही कारण था की विश्व में जहां कहीं भी राष्ट्रवादी आंदोलन विदेशी सत्ता से मुक्ति पाने के लिए हुए भारत ने खुल कर उसका समर्थन किया साम्राज्यवादी राष्ट्रों की कटु आलोचना की। इण्डोनेशिया पर जब हॉलैंड ने दूरसे विश्व युद्ध के बाद पुनः अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयास किया तो भारत ने इसका घोर विरोध किया। इसके साथ - साथ भारत सयुक्त राष्ट्र संघ में भी उपनिवेशवाद के विरुद्ध बराबर आवाज उठाता रहा है। भारत इस बात पर भी जोर देता रहा है की स्वशासन करने वाले देशों का शासन राष्ट्र संघ के चार्टर के सिद्धांतों के अनुसार किया जाना चाहिए इसमें कोई संदेह नहीं है की साम्राज्यवाद को जड़ से हिलाने में भारत बहुमूल्य योगदान रहा है।

10.6.5 प्रजातीय विभेद का विरोध

भारत सभी लोगों को समान मानता है तथा उनमें रंगभेद के आधार पर भेदभाव का पूर्ण विरोध करता है। अपनी इसी वैदेशिक नीति के सिद्धांत के आधार पर ही भारत ने दक्षिण अफ्रीका के नस्लवादी शासन की कड़ी आलोचना की जहां पर लोगों के मध्य गोर और काले का विभेद मौजूद था। इसके विरोध में भारत ने न केवल दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध कुछ प्रतिबंध लगाये बल्कि कूटनीतिक संबंधों का विच्छेद भी किया। भारत के प्रयास के फलस्वरूप ही सयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व के अन्य राष्ट्रों ने दक्षिण अफ्रीका की सरकार को इस नीति को छोड़ने के लिए बाध्य किया।

10.6.6 सयुक्त राष्ट्र संघ में भारत का विश्वास

भारत शुरू से ही सयुक्त राष्ट्र संघ का प्रबल समर्थक रहा है। सयुक्त राष्ट्र संघ की विचारधारा का समर्थन करने तथा इसके क्रियाकलापों में सक्रियता, सकारात्मक तथा रचनात्मक रूप में भाग लेना भारतीय विदेश नीति का महत्वपूर्ण सिद्धांतरहा है। भारत ने अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा हमेशा ही सयुक्त राष्ट्र के तत्वाधान में करने की नीति अपनायी। इसकी संबंध संस्थाओं में भी भारत की सक्रिय भागीदारी रही है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ तथा सयुक्त राष्ट्र आर्थिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठनों के कार्यों में उसकी विशेष रुचि रही है। इस प्रकार भारत सयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थक है यह भारतीय विदेश नीति का महत्वपूर्ण पहलु है।

इस प्रकार भारत की विदेश नीति के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने से ही स्पष्ट होता है की अंतर्राष्ट्रीय जगत में भारत की प्रतिष्ठा इसकी विदेश नीति के कारण ही है क्योंकि इसमें विश्व शांति, सहअस्तित्व और सयुक्त राष्ट्र संघ में एवं सिद्धांत है जिन्होंने अंतर्राष्ट्रीय जगत में भारत को एक नई पहचान दी है।

10.7 भारत एक उभरती शक्ति के रूप में

10.7.1 भौगोलिक कारक

भारत अपने भौगोलिक आकार और जनसंख्या के कारण विश्व स्तर पर सातवे नंबर का सबसे बड़ा देश है। भारत 8°4' और 37° 6' उत्तरी अक्षांश और 68°7' और 97 ° 25' पूर्वी देशांतर के बीच भूमध्य रेखा के उत्तर में स्थित है। भारत का कुल क्षेत्रफल 3,166,414 वर्ग किलोमीटर है। और यह हिन्द महासागर के उत्तर में स्थित है। जिससे यूरोप और एशिया बहुत से रास्ते भारत के समुंद्री क्षेत्र से होकर गुजरते हैं। उत्तर और उत्तर पूर्व में हिमालय न सिर्फ इसे कड़ाकेदार सर्दियों से बचाता है बल्कि मानसून की हवाओं को संरक्षित रखने में भी सहायता करता है। भारत में आवश्यक खाद्यान्न एवं जल संसाधन भरपूर मात्रा में उपलब्ध हैं, जो भारत के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। प्रचुर मात्रा में संसाधनों के होने से यह विकसित राष्ट्रों का आकर्षक केंद्र है और इसके साथ ही भारत विश्व का सबसे बड़ा बाजार है जिसमें उत्पादित वस्तुओं की खपत आसानी से हो जाती है जो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत के महत्व को बढ़ा देती है

10.7.2 आर्थिक कारक

भारत का अर्थव्यवस्था की दृष्टि से विश्व स्तर में अमेरिका, चीन जापान के बाद चौथा स्थान है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है की भारत की विकास दर दिन प्रति बढ़ती जा रही है 1989 में भारत की विकास दर 1.9 billion थी, 1990 में यह बढ़कर 7.1 billion हो गयी और 2003 में 10.4 % था

| 2004 से 2014 तक भारत की विकास दर 721.6 से बढ़कर 1876.8 हो गई जो की अन्य उभरती अर्थव्यवस्थाओं में सर्वोच्च है | वास्तव में यह वृद्धित्व विकास दर ही भारत को एक महाशक्ति के रूप में उभरने के लिए परिपक्व कर रही है |



SOURCE: WWW.TRADINGECONOMICS.COM | WORLD BANK GR

10.7.3 सैनिक कारक

भारतीय सैन्य शक्ति विश्व में अमेरिका और चीन के बाद तीसरे नंबर की सबसे बड़ी सैन्य शक्ति है जिसकी संख्या 24 लाख से ऊपर है | भारत ने अमेरिक, रशिया,, इजराइल तथा यूरोपियन यूनियन के साथ सैनिक तकनीक हस्तांतरण समझोते किये हुए है | भारतीय सेनाय न केवल भारतीय सीमाओ की रक्षा करती है बल्कि सयुक्त राष्ट्र की शांति सेना में भी यह अहम भूमिका निभा रही है | भारत सयुक्त राष्ट्र प्रजातान्त्रिक निधि का सबसे बड़ा अंशदाता है जिसमे अमेरिका का अनुदान न के बराबर है |

10.7.4 विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी

भारत ने विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी में भी काफी सफलता प्राप्त की है | 2002-03 में भारत ने 3.7 बिलियन यु०एस \$ विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी में निवेश किया है| 31 विकासशील देशो में से सिर्फ भारत,चीन, ईरान, दक्षिण अफ्रीका और ब्राजील देशो ने सफलता प्राप्त की है | दुनिया के कुल

वैज्ञानिक उत्पादकता में 97.5% इन विकासशील देशों का योगदान है, शेष 162 विकासशील देशों का योगदान 2.5% रहा है। इसके साथ -2 भारत में अधिक से अधिक शोध एवं विकास केंद्र खुलते जा रहे हैं जिससे भारत जिसकी वजह से भारत विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी में धीरे-धीरे सफलता प्राप्त कर रहा है। और इसके साथ ही भारतीय राष्ट्रीय अंतरिक्ष एजेंसी आई. एस. आर. ओ. जिसे अमेरिका के बाद भारत में ही लगाया गया है जो की भारत के वैज्ञानिक प्रयत्नों का सबसे बड़ा उदाहरण है। भारत अंतरिक्ष में सेटलाइट भेजने वाला तीसरा नंबर का सबसे बड़ा देश है।

10.7.5 ऊर्जा

भारत पेट्रोलियम के बड़े आयातकों में से एक है भारत ने अपने इस ऊर्जा संकट को कम करने के लिए अमेरिका के साथ 2006 परमाणु समझौता किया और दिसम्बर २०१४ रूस के साथ संधि की जिससे भारत को भविष्य में होने वाले ऊर्जा संकट से राहत मिलेगी। और अपने इस ऊर्जा संकट को कम करने के लिए भारत, नागरिक परमाणु एक्टयर तथा जल ऊर्जा केन्द्रों का निर्माण कर रहा है।

अभ्यास प्रश्न

1. भारत की विदेश नीति के मूल तत्व कौन से हैं ?
 A. गुटनिरपेक्षता की नीति
 B. साम्राज्यवाद और प्रजातीय भेदभाव का विरोध
 C. शांति की विदेश नीति
 D. उपर्युक्त सभी
2. भारत ने किस देश की रंगभेद नीति का विरोध किया
 A. नेपाल
 B. पाकिस्तान
 C. दक्षिण अफ्रीका
 D. घाना
3. ताशकंद समझौते के लिए किसने मध्यस्थता की ?
 A. अमेरिका
 B. सोवियत संघ
 C. फ्रांस
 D. चीन
4. १९९७ में भारत के किस प्रधानमंत्री ने नेपाल की ?
 A. देवगौड़ा
 B. अटल बिहारी वाजपेयी
 C. विश्वनाथ प्रतापसिंह
 D. श्री इंद्र कुमार गुजराल

10.8 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत हमने, "विदेश नीति का अर्थ, भारतीय विदेश नीति की अवधारणा, बदलते परिवेश में भारतीय विदेश नीति के महत्व और भारतीय विदेश नीति के निर्धारक तत्वों का अध्ययन किया है। 1947 के बाद भारत ने अपनी स्वतंत्र विदेश नीति का निर्माण, भारत के पहले प्रधान मंत्री जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में किया जिसकी आधारशिला गुट-निरपेक्षता थी। भारतीय विदेश नीति की रूपरेखा आज भी उतनी ही सफल है जितनी की पहले थी परन्तु बदलते परिवेश में भारत

को कई उत्तर चढ़ाव का सामना करना पड़ा जिससे विदेश नीति में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन आये परन्तु इसके बावजूद भी भारत ने गुट – निरपेक्षता की नीति का त्याग नहीं किया। भारत की विदेश नीति का विश्व के सिद्धान्तों में अपना विशेष महत्व है। आज भारत विश्व में विकसित देशों के बराबर है और अगले 20 सालों में भारत एक महाशक्ति के रूप में उभर कर विश्व के एक विकसित देश के रूप में अपनी पहचान बनाएगा।

10.9 शब्दावली

प्रस्तावना - परिचय, भूमिका, इत्यादि

साम्राज्यवाद - किसी अन्य देश पर राजनीतिक नियंत्रण स्थापित कर लेना

उपनिवेशवाद - किसी देश द्वारा अपने आर्थिक लाभ के लिए दूसरे देश में उपनिवेश स्थापित करना।

गुट – निरपेक्षता - किसी भी शक्ति गुट में शामिल न होना, स्वतंत्र रूप से निर्णय लेना।

निःशस्त्रीकरण - एक ऐसा अधिनियम जिसके द्वारा हथियारों की होड़ को कम करना

10.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.A, 2. .C. 3. .B. 4.D

10.11 संदर्भ ग्रन्थ

1. Appadorai A (1981), “*India’s Foreign Policy*”, Oxford University Press, New Delhi.
2. Dixit, J. N.(200),*India’s Foreign Policy*, New Delhi: Picus Books
3. Appadorai, A., M.S. Rajan (1985), *India’s Foreign Policy and Relations*, New Delhi: South Asian Publishers.
4. J.Bandyopadhyaya (2003), *The Making of India’s Foreign Policy- Determinants, Institutions, Processes and Personalities*, New Delhi: Allied Publishers Pvt. Limited.
5. आर. सी. वरमानी (2012), *समकालीन अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, गीतांजलि पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।*

10.12 सहायक - उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Rajan, M.S. (1990), *Non-alignment and Non-aligned Movement: Retrospect and Prospect*, New Delhi: Vikas Publishing House Pvt Ltd.
2. Kissinger Henry (1994), *Diplomacy*, New York, Simon and Schuster.

-
3. Waltz Kenneth (1979), Theory of International Politics, New York, McGraw Hills.
-

10.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतीय विदेश नीति और बदलते समय में उस पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करो ?
2. गुटनिरपेक्षता भारतीय विदेश नीति की प्रमुख विशेषता है विवेचन करो ?
3. क्या भारतीय विदेश नीति अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल रही है ?
4. भारतीय विदेश नीति की मूलभूत विशेषताओं का अध्ययन करो ?

ईकाई-11 : गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एवम् उसकी प्रासंगिकता

ईकाई की रूपरेखा

- 11.1 प्रस्तावना
- 11.2 उद्देश्य
- 11.3 गुटनिरपेक्षता की अवधारणा
- 11.4 भारतीय गुट निरेपक्षता की अवधारणा
- 11.5 गुटनिरपेक्ष की नीति अपनाने का कारण
- 11.6 भारतीय गुटनिरपेक्ष नीति के विकास के विभिन्न चरण
- 11.7 अभी तक संपन्न गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सम्मलेन
- 11.8 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रासंगिकता
- 11.9 भारत की भूमिका
- 11.10 गुटनिरपेक्ष नीति
- 11.11 सारांश
- 11.12 शब्दावली
- 11.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 11.14 संदर्भ ग्रन्थ
- 11.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 11.16 निबंधात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

गुट निरपेक्ष आन्दोलन एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है तथा यह भारतीय विदेश नीति की एक विशिष्ट विशेषता रही है। भारतीय विदेशनीति के एक आधारभूत विशेषता के रूप में गुट निरपेक्षता का निहितार्थ विभिन्न शक्ति गुटों से समान एवं सैद्धान्तिक दूरी बनाये रखना, सभी गुटों से समान मित्रवत सम्बन्ध बनाये रखना, किसी भी सैन्य गठजोड़ में शामिल न होना तथा एक स्वतंत्र विदेश नीति के मार्ग पर चलना, से है। ऐसा माना जाता है कि गुटनिरपेक्षता की नति मुख्यतः शीतयुद्ध का राजनीति परिणाम थी जो द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्त होने के तत्काल बाद शुरू हो गया था। इस नीति के विकास में भारत का योगदान प्रमुख था तथा यह अब भी इस आंदोलन के अग्रणी सदस्यों में से एक है। जिस समय गुटनिरपेक्षता की नीति पर बल दिया जा रहा था, उस समय पूरा विश्व शीत युद्ध के दौर से गुजर रहा था। पूरा विश्व दो ध्रुवो-संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत यूनियन में बँटा हुआ था। साम्यवाद के बढ़ते प्रसार को रोकने के लिए जहाँ लगभग सम्पूर्ण दक्षिण पूर्व एशिया तथा पश्चिमी यूरोप अमेरिका के नेतृत्व वाले गठबंधन से जुड़ गया था, वहीं दूसरे तरफ पूर्वी यूरोप तथा चीन, सोवियत यूनियन के साथ जुड़ गये थे। उसी समय भारत समेत अनेक तीसरी दुनियाँ के देश, उनके यहाँ राष्ट्र निर्माण और विकास का प्रतिरूप किस प्रकार हो कि समस्या से जुझ रहे थे। इस परिस्थिति में किसी एक गुट के साथ गठबंधन का अर्थ, दूसरे गुट से मिलने वाली सहायता से वंचित होना था। अतः इन नवोदित राष्ट्रों ने दोनों गुटों से समान दूरी बनाकर, दोनों गुटों से सहायता प्राप्त कर अपने राष्ट्रीय विकास की प्रक्रिया को बढ़ाने का प्रयास किया। स्वाभाविक रूप से इस सन्दर्भ में गुटनिरपेक्ष की नीति का अनुसरण करना सर्वोत्तम मार्ग था।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत हम मुख्यतः गुटनिरपेक्षता की अवधारणा की व्याख्या, इसका अर्थ तथा उन कारणों की विवेचना करेंगे जिनका गुट निरपेक्ष आन्दोलन के उद्भव में मुख्य भूमिका थी। वर्तमान भूमण्डलीकरण के दौर में, विदेश नीति के आधार के रूप में गुटनिरपेक्षता की नीति कहाँ तक प्रासंगिक है, यह अत्यन्त ही महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस इकाई को पढ़ने एवं समझने के पश्चात् हम:-

- गुटनिरपेक्षता की विशेषताएँ अवधारणाओं से परिचीत हो सकेंगे।
- भारतीय विदेश नीति के आधार के रूप में गुटनिरपेक्षता का अर्थ, विशेषताएँ और महत्व समझ सकेंगे।
- गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का विभिन्न कालों के दौरान विकास और कार्यान्वयन को जान सकेंगे।

- उत्तर शीत युद्ध काल में गुटनिरपेक्षता की नीति कहाँ तक प्रासंगिक है, इसका विश्लेषण कर सकेगें।

11.3 गुटनिरपेक्षता की अवधारणा

जैसा कि हमने प्रस्तावना में देखा कि गुटनिरपेक्षता का अपना एक विशिष्ट अर्थ है। अनेको पश्चिमी विद्वानों ने गुट निरपेक्ष के शाब्दिक अर्थ को संज्ञान में लेते हुए इसे नाकारात्मक अवधारणा के रूप में व्याख्यायित किया है। उन्होंने गुटनिरपेक्षता का तात्पर्य, तटस्थता या तटस्थतावाद के रूप में लिया है। अतः गुटनिरपेक्षता के विशेषताओं और उद्देश्यों का विवेचन करने से पूर्व, इसकी, इससे मिलती जुलती कुछ शब्दालियों से तुलना करना अत्यन्त आवश्यक है। सामान्यतया गुटनिरपेक्षता को तटस्थता, तटस्थीकरण, अलगाववाद एकलवाद, गैर प्रतिबद्धता असम्बद्धता जैसे शब्दों से तुलना की जाती है। तटस्थता शब्द का तात्पर्य युद्ध में सहभागी न होने से है। यह एक कानूनी अवधारणा है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धीत है तथा केवल युद्ध के सन्दर्भ में प्रयुक्त होता है। यह एक ऐसी अवस्था है जो कि केवल युद्ध की स्थिति में अपनाया जा सकता है। अतः तटस्थता पद केवल प्रत्यक्ष संघर्ष के स्थिति में प्रासंगिक है। एक तटस्थ देश वह देश होता है जो कि तटस्थता के नीति का पालन करता है। तटस्थीकरण किसी देश विशेष के स्थायी तटस्थ अवस्था को प्रदर्शित करता है, जो कि किसी भी अवस्था में तटस्थता की नीति को छोड़ नहीं सकता। उदाहरणस्वरूप स्वीटजरलैण्ड ऐसा देश है जो कि स्थायी रूप से तटस्थ है। अलगाववाद से तात्पर्य, दुसरे देशों के समस्याओं से पूर्ण रूप से अलग होने की अवस्था से है। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तक अमेरिका पूर्ण अलगाववाद की नीति के पालन के लिए जाना जाता था। गैर प्रतिबद्धता से तात्पर्य त्रीकोणीय या बहुपक्षीय सम्बन्धों में दुसरे शक्तियों से दूरी बनाये रखना है। एकलवाद से तात्पर्य सुनियोजित जोखिम उठाकर अपने ही नीतियों पर सदैव चलना, जैसे अपने थर्मोन्यूक्लीयर हथियारों को नष्ट करना। असम्बद्धता से तात्पर्य विभिन्न महाशक्तियों के बीच चल रहे विचारधारात्मक संघर्ष से दूरी बनाए रखना, लेकिन कुछ विशेष परिस्थिति में जबकि दूरी बनाये रखना असम्भव हो तो, कुछ हद तक एक विशेष गुट की तरफ झुकने से है।

गुटनिरपेक्ष का तात्पर्य, महाशक्तियों के साथ किसी भी तरह के सैन्य गुट में गैर-सहभागिता से है। भारतीय गुटनिरपेक्षता के नीति के निर्माण कर्ता, पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी गुट निरपेक्षता को राष्ट्रों के द्वारा सैन्य शक्ति से दूरी बनाये रखने के रूप में परिभाषित किया है। इसका तात्पर्य यह है कि, जहाँ तक सभव चीजों को सैन्य दृष्टि से न देखना, बल्कि देशों को स्वतंत्र रूप से अन्य देशों के साथ स्वतंत्र मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने से है।

नेहरू के अनुसार गुटनिरपेक्षता एक विस्तृत अवधारणा है। तटस्थ देशों के विपरित, गुटनिरपेक्ष देश प्रत्येक घटना को उसके गुणों के आधार पर परखेगा न कि केवल दुसरे देशों के दृष्टिकोण के अनुसार।

इस वधरणा का सिधा सम्बन्ध स्वतंत्रता से है। तटस्थता के विपरित गुटनिरपेक्षता का संबध शांति एवं युद्ध दोनों की अवस्थाओं से होता है। गुटनिरपेक्षता की नीति प्रत्येक देशों को विभिन्न परिस्थितियों में अपने-अपने निर्णय के अनुसार अपने-अपने राष्ट्रीय हितों में अभिवृद्धि करने के नीति पर आधारित है। लेकिन गुटनिरपेक्षता की नीति अन्तराष्ट्रीय घटनाओं के प्रति उदासिनता नहीं है। गुटनिरपेक्षता के अवधारणा को स्पष्ट करने लिए इसे दो रूपों में दिखना आवश्यक है- साकारात्मक और नाकारात्मक। नाकारात्मक रूप में यह किसी भी प्रकार के सैन्य गठजोड़ को निषेध करता है। यह गुटनिरपेक्षता का सबसे निम्नतम शर्त माना जा सकता है। अपने-अपने विदेश नीति का संरक्षण संवर्द्धन गुटनिरपेक्षता का महत्वपूर्ण साकारात्मक स्वरूप है। यह पांरपरिक रूप से विदेश नीति का संरक्षण और संवर्द्धन गुटनिरपेक्ष का सबसे माना जा सकता है। अपने विदेश नीति का संरक्षण और संवर्द्धन गुटनिरपेक्षता का सबसे महत्वपूर्ण साकारात्मक स्वरूप है। यह पांरम्परिक रूप से विदेश नीति का महत्वपूर्ण सिद्धान्त भी माना जाता है। साकारात्मक रूप में यह विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर खुल कर उसके गुणों-अवगुणों के आधार पर निर्णय लेना भी है।

यदि देखा जाय तो गुटनिरपेक्ष के नीति की शुरुआत एक साकारात्मक अन्तर्राष्ट्रीय घटना के द्वारा हुई थी। इस आन्दोलन का बीज 1955 में इण्डोनेशिया के बांडुंग में हुए एफ्रो-एशियाई देशों के सम्मलेन में पड़ गई थी। इस सम्मेलन में एशिया और अफ्रीका के नवोदित स्वतंत्र देशों ने पूर्व-पश्चिमी वैचारिक संघर्ष में शामिल न होने की स्वतंत्र इच्छा की घोषणा की थी। एक राजनीतिक आन्दोलन के रूप में गुटनिरपेक्षता के विकास के लिए बांडुंग सम्मेलन मील का पत्थर साबित हुआ।

आगे चलकर 1961 में युगोस्लाविया के बेलग्रेद में हुए प्रथम सम्मलेन में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की औपचारिक शुरुआत हुई। इस सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के लिए कुछ प्रतिबद्धताओं की घोषणा हुई थी, जिसके माध्यम से गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का अर्थ बहुत हद तक स्पष्ट किया जा सकता है-

- I. शांति और निशस्त्रीकरण, मुख्य रूप से महाशक्तियों के बीच तनाव को कम करना।
- II. स्वतंत्रता, सारे औरपनिवेशिक लोगों को आत्मनिर्णय का अधिकार तथा सभी प्रजातियों को समानता का अधिकार।
- III. आर्थिक समानता की माँग, मुख्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की पुर्नसंरचना की माँग मुख्य था, जिसमें गरीब और सम्पन्न राष्ट्रों की बीच असमानता न हो।
- IV. सांस्कृतिक समानता की माँग। पश्चिमी सांस्कृतिक वर्चस्व का विरोध।
- V. सार्वभौमिकतावाद और बहुदेशवाद की माँग, जिसमें, सयुक्त राष्ट्र संघ व्यवस्था में विश्वास पर जोर दिया जाए।

स्पष्ट है कि ये सारे के सारे प्रतिबद्धताएँ आज के सन्दर्भ में भी प्रासंगिक है। शीत युद्ध के समाप्त होने से विकासशील और गैर-विकसीत देशों की समस्याएँ अभी खत्म नहीं हुई है।

11.4 भारतीय गुट निरेपक्षता की अवधारणा

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के गठन में भारत के जवाहर लाल नेहरू, इण्डोनेशिया के सुकार्णो, इजिप्ट के कर्नल नासिर और घाना के क्वामे एनक्रुमा का योगदान महत्वपूर्ण है। परन्तु जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में भारत ही वह पहला देश था जिसने गुटनिरपेक्षता की नीति को सर्वप्रथम अपनाया। जिसका सीधा तात्पर्य अपनी विदेश नीति को स्वतंत्र बनाये रखना, किसी भी शक्ति गुट से संलग्न न होना, अपने विकल्पों को खुला रखना, पूर्वधारणा आधारित निर्णयों को न लेना और सभी मुद्दों को उसके गुण-दोषों के आधार पर परखना था। भारतीय गुटनिरपेक्षता का तात्पर्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों से अलगाव नहीं था। जैसा कि नेहरू जी ने 1948 में अमेरिकी काँग्रेस में घोषणा के द्वारा स्पष्ट किया था कि जहाँ पर भी स्वतंत्रता को कुचला जायेगा या न्याय को खतरा पहुंचाया जायेगा, या फिर आक्रमण होता है, हम न तटस्थ रह सकते हैं, न ही रहेंगे.....। हमारी नीति तटस्थतावाद नहीं है बल्कि हमारा मुख्य उद्देश्य शान्ति का संरक्षण है। भारतीय गुटनिरपेक्षता की मुख्य विशेषताओं को निम्न उपशीर्षकों के माध्यम से देखा जा सकता है।

- I. **सैन्य गठजोड़ का विरोध** - गुट निरेपक्षता का एक मुख्य आवश्यक शर्त सैन्य गठजोड़ का विरोध करना था। सैन्य गठजोड़ के कारण पाकिस्तान शुरू-शुरू में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में शामिल नहीं हो सका था, क्योंकि वह पश्चिमी सैन्य संगठनों-दक्षिण पूर्व अटलांटिक एशियाई सन्धि-संगठन (सीटो) तथा मध्य पूर्व सन्धि संगठन (सेंटो) का सदस्य था। बाद में 1979 में इन सैन्य संगठनों की सदस्यता छोड़ने के बाद वह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का सदस्य बन सका।
- II. **राष्ट्रीय हित का सर्वोर्ध्वन** - गुटनिरपेक्षता का तात्पर्य अपने विदेश नीति के स्वतंत्र रखने से भी था क्योंकि इसी के माध्यम से कोई भी देश विभिन्न विकल्पों में से सर्वोत्तम विकल्प चुन सकता था। विभिन्न मुद्दों पर उसके गुणो-दोषों के आधार निर्णय दे सकता था।
- III. **शीत युद्ध का विरोध** - गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के जन्म के पीछे शीत युद्ध ही मुख्य कारण था जो कि अमेरिका और सोवियत संघ के आक्रामक गुट निर्माण के प्रक्रिया के रूप में पहचाना जाता था। इस शीत युद्ध के वातावरण ने गुटनिरपेक्षता के नीति के उद्भव के लिए एक सशक्त आधार प्रस्तुत किया, क्योंकि इसी नीति के माध्यम से आसानी से विश्वशान्ति के लक्ष्य को पूरा किया जा सकता था। विशेषकर यह एशिया और अफ्रिका के नवोदित स्वतंत्र देशों के लिए ज्यादा उपयोगी था क्योंकि इसके माध्यम से वे संघर्ष से दूर रहकर, विकास के मार्ग को अपना सकते थे।

- IV. **शक्ति के राजनीति का विरोध** - गुटनिरपेक्षता शक्ति राजनीति के स्थान पर प्रभाव राजनीति का विकल्प प्रस्तुत करता है जो कि शांति, न्याय और विकास जैसे मुद्दों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मुख्य लक्ष्य मानता है।
- V. **अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना** - शीत युद्ध ने अनावश्यक रूप से विश्व में आतंक और अशांति का वातावरण उत्पन्न कर दिया था। गुटनिरपेक्षता की नीति का मुख्य दर्शन यह है कि शक्ति के माध्यम से किसी भी समस्या का हल नहीं प्रस्तुत किया जा सकता बल्कि इससे समस्या और गंभीर हो जाती है। जबकि अन्तर्राष्ट्रीय शांति के माध्यम में विश्व में व्याप्त गरीबी तथा अविकास जैसे मुद्दों का आसानी से हल प्रस्तुत किया जा सकता है।
- VI. **स्वतंत्र विदेश नीति का पालन** - किसी भी गुट में शामिल न होकर कोई भी देश स्वतंत्र विदेश नीति का पालन कर सकता है तथा अपनी सम्प्रभुता एवं राष्ट्रीय हित का संरक्षण एवं संवर्द्धन कर सकता है।
- VII. **गुटनिरपेक्षता क्रियात्मकता आधारित नीति है न कि अलगाववाद आधारित-** गुटनिरपेक्षता की नीति अलगाववाद की नीति का विरोध करती है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में तटस्थता एक प्रकार से अन्याय का समर्थन ही होता है। इसके विपरीत गुटनिरपेक्षता की नीति, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में पूर्ण भागीदारी तथा निरंतर सहयोग के लिए तत्परता की नीति है।
- VIII. **दोहरी गुट की नीति नहीं** - गुटनिरपेक्षता एक आन्दोलन है न कि संगठन जिसे किसे औपचारिक संगठन के समर्थन की आवश्यकता है। निर्गुट आन्दोलन देशों का कोई तीसरा गुट नहीं है। वास्तव में गुटनिरपेक्षता शांति और विकास के मार्ग पर चलने की एक वैकल्पिक व्यवस्था है।
- IX. **विकास का अपना प्रतिरूप** - गुटनिरपेक्षता की नीति अपने पर थोपे गये किसी भी तरह के विकास के प्रतिरूप का पुर-जोर विरोध करती है। यह नीति गुटनिरपेक्ष देशों को अपने आर्थिक, राजनीतिक और समाजिक व्यवस्था को आकार देने के लिए स्वयं का अपना प्रतिरूप और दृष्टिकोण अपनाने पर जोर देती है। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का नवनिर्माण करने का प्रयास करती है।
- X. **नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का निर्माण** - नवीन अन्तर्राष्ट्रीय विश्व अर्थव्यवस्था की माँग, गुटनिरपेक्षता की नीति को एक नवीन आयाम देती है। इसी के साथ या विश्व राजनीति को भी पूर्णपरिभाषित करती है। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में “यथास्थितिवाद” का विरोध करती है।

इस प्रकार भारतीय गुटनिरपेक्षता की नीति तात्पर्य उपनिवेशवाद, सामाज्यवाद प्रजातीवाद तथा आधुनिक सन्दर्भ में नव-उपनिवेशवाद के विरोध से है। यह महाशक्तियों के वर्चस्व का विरोध करती

है। यह सभी देशों के समान सम्प्रभुता तथा उनमें मित्रवत सम्बन्ध को बढ़ावा देने में विश्वास करती है। यह अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांति पूर्ण समाधान में विश्वास करती है। तथा शक्ति द्वारा किसी भी तरह के समाधान का सर्वथा विरोध करती है। यह संयुक्त राष्ट्र संघ व्यवस्था तथा निःशास्त्रीकरण के प्रक्रिया का समर्थन करती है। सबसे महत्वपूर्ण भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति सामाजिक और आर्थिक मुद्दों को प्राथमिकता देती है। भारत नवीन आर्थिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का पूर्ण समर्थन करता है, जिससे विश्व में अन्यायपूर्ण एवं असंतुलित आर्थिक व्यवस्था के जगह न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना हो सके।

11.5 गुटनिरपेक्ष की नीति अपनाने का कारण

भारत द्वारा गुटनिरपेक्ष की नीति अपनाने के पिछे निम्न कारण थे-

नाकारात्मक तत्व

- I. शीत युद्ध - भारत को अपने विकास की चुनौति से निपटने के लिए दोनों गुटों के सहायता की आवश्यकता थी। अतः भारत ने दोनों गुटों से दुरी बनाये रख, दोनों से मित्रतापूर्ण संबंध रखने का प्रयास किया।
- II. सैनिक संगठन-नाटो, सीटो, सेंटो, वारसा पैक्ट जैसे सैन्य संगठन शीत युद्ध के देन थे। इनमें से किसी संगठन में शामिल होना, विपक्षी गठबंधन से शत्रुता लेना था। साथ ही ये सैन्य संगठन अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए खतरा और शस्त्र होड़ को बढ़ाने वाले थे।
- III. साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध - शीत युद्ध के समय हो रहे विचारधारात्मक और प्रसारवादी संघर्ष एक तरह उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के पर्नावृति का प्रयास था अतः इनका विरोध गुटनिरपेक्षता की नीति के पालन से आसानी से सम्भव था।

सकारात्मक तत्व

- I. प्रबल राष्ट्रवाद - सभी सम्प्रभु राष्ट्रों की तरह भारत भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वतंत्र भागीदारी चाहता था। गुटनिरपेक्ष की नीति इसके लिए सर्वथा उपयुक्त प्लेटफार्म था।
- II. राष्ट्रीय हित - गुटनिरपेक्ष की नीति को अपनाने के पश्चात् भारत के पास सभी तरह के विकल्प खुले थे, जोकि किसी एक गुट के साथ होने पर संभव नहीं था।
- III. आर्थिक विकास की आवश्यकता - गुटनिरपेक्षता के नीति के साथ भारत दोनों गुटों से आर्थिक सहायता प्राप्त करने में सक्षम था।
- IV. शान्ति की स्थापना - गुटनिरपेक्षता की अवधारणा और भारत के पारम्परिक विश्वासों शांति, अहिंसा, सहिष्णुता इत्यादि में बिल्कुल अनुरूपता है। अतः गुटनिरपेक्षता के माध्यम से भारत अपने स्वाभाविक शांतिवाद विकास के मार्ग पर चल सकता था।
- V. विश्व राजनीति में सक्रिय भूमिका - भारत जैसा विशाल देश विश्व राजनीति में किसी विशेष गुट का पिछलग्गु बन कर नहीं रह सकता था। उसे सारे गुटों से हटकर अन्तर्राष्ट्रीय

राजनीति को एक साकारात्मक आयाम देना था। गुटनिरपेक्षता की नीति निश्चय ही इसके लिए उचित मंच था।

- VI. भू-राजनीति तत्त्व - भारत विश्व को दो सबसे बड़े साम्यवादी देशों चीन और सोवियत संघ रूस का पड़ोशी था। राजनीतिक रूप से एक लोकतांत्रिक देश होने के चलते भारत पश्चिम के नजदीक था, जबकि भौगोलिक रूप से पूर्व के नजदीक। इस स्थिति भारत का किसी एक गुट के साथ जाना उचित नहीं था।

स्पष्ट है कि गुटनिरपेक्ष की नीति अपनाने के पिछे अनेक कारण उत्तरदायी थे। 5-12 जून 1961 में काहिरा में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के प्रथम सम्मेलन के तैयारियों के लिए हुए मीटिंग में गुटनिरपेक्षता के लिए पाँच शर्तें तय की गईं। ये शर्तें निम्न लिखित हैं-

- I. देशों को स्वतंत्र विदेश नीति अपनाना होगा, जो कि विभिन्न राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था वाले देशों के साथ शांतिपूर्ण सह अस्तित्व पर आधारित होनी चाहिए। इन राज्यों की विदेश नीति गुटनिरपेक्षता पर आधारित होनी चाहिए।
- II. इन देशों को विभिन्न देशों में चल रहे राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलनों को समर्थन देना चाहिए।
- III. गुटनिरपेक्ष देशों को महाशक्तियों में चल रहे संघर्ष हेतु स्थापित बहुपक्षीय सैनिक संगठनों का भाग नहीं होना चाहिए।
- IV. यदि किसी देश का किसी महाशक्ति के साथ द्विपक्षीय सैनिक गठबंधन है या वह किसी क्षेत्रीय सुरक्षा संधि का सदस्य है, तो ये गठजोड़ जानबुझकर शीत युद्ध के सन्दर्भ वाले नहीं होने चाहिए।
- V. यदि कोई गुटनिरपेक्ष देश किसी विदेशी शक्ति को अपने यहाँ सैनिक अड्डा बनाने की सहमति देता है तो यह आवश्यक रूप से महाशक्तियों के शक्ति संघर्ष के सन्दर्भ में नहीं होना चाहिए।

11.6 भारतीय गुटनिरपेक्ष नीति के विकास के विभिन्न चरण

भारतीय गुटनिरपेक्ष नीति के इतिहास को निम्न चरणों में विभाजित किया जा सकता है

I. 1946-1954 यह चरण गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का शुरुआती निर्माण काल था। सितम्बर 1946 में अंतरिम सरकार में शामिल होने के तुरंत बाद जवाहरलाल नेहरू ने यह स्पष्ट किया था कि, भारत की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका होगी तथा भारत एक स्वतंत्र विदेश नीति का अनुसरण करेगा जो कि इसके राष्ट्रीय हित में होगी। इस स्वतंत्र विदेश नीति का तात्पर्य होगा कि भारत किसी भी गुट में शामिल नहीं होगा। परन्तु कुछ विश्लेषक ऐसा मानते हैं कि भारतीय गुटनिरपेक्षता अपने आरंभिक दौर में पश्चिम की तरफ झुका हुआ था विशेषकर अमेरिका की तरफ। इसके कुछ महत्वपूर्ण कारण थे-

1. भारत सुरक्षा उपकरणों के लिए मुख्यतः ब्रिटेन पर निर्भर था। हमारी सेना ब्रिटीश स्वरूप पर आधारित थी।
2. भारतीय प्रबृद्ध जनमानस तथा नेतृत्व शासन के वेस्टमिनिस्टर स्वरूप से अत्यन्त प्रभावित था
3. हमारे व्यापार सबंध मुख्यतः पश्चिमी देशों के साथ थे।
4. तथा अंत में उस समय सोवियत नीति विकासशील देशों के पक्ष में नहीं थी तथा गैर साम्यवादी देश को साम्यवाद विरोधी देश माना जाता था।

लेकिन भारत के पश्चिम की ओर झुकाव के बावजूद, पश्चिम ओर पूर्व के बीच एक तरह का सेतु बनने का काम किया। जैसे भारत ने संयुक्त राष्ट्र के इस निर्णय को स्वीकार किया था कि उत्तरी कोरिया आक्रमणकारी है, परन्तु संयुक्त राष्ट्र संधि सेना के उत्तरी कोरिया में प्रवेश का विरोध किया था। कोरिया संकट के समाधान में भारत की अत्यन्त ही महत्वपूर्ण भूमिका थी। भारत ने 1949 में सर्वप्रथम साम्यवादी चीन को मान्यता दी। इस समय तक सोवियत रूस से भारत का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। परन्तु जब भारत ने दक्षिण पूर्वी एशियाई संधि संगठन (सीटों) में शामिल होने के अमेरिकी प्रस्ताव को ठुकराया, तब से सोवियत संघ गुट भारत के साथ सहयोगी संबंध स्थापित करने का प्रयास करने लगा था।

II. 1954-62- गुटनिरपेक्षता के इस चरण में 1954 में भारत ने सर्वप्रथम चीन के तिब्बत पर अधिपत्य को स्वीकार किया। भारत और चीन ने भारत और तिब्बत के बीच व्यापार संबंधी सुवधाओं के लिए मसौदा तैयार किया। इस मसौदे का प्रस्तावना पंचशील सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है जो कि शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व पर आधारित है। यह तय किया गया कि दोनों देश आपसी संबंधों को पंचशील के आधार पर ही विकसीत करेंगे। इस चरण में एफ्रो-एशियाई देशों का बांडुंग सम्मेलन हुआ, जो कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की आधार शिला थी। यह सम्मेलन बांडुंग में 18-24 अप्रैल 1955 के दौरान सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में एशिया और अफ्रीका दोनों महाद्विपों के 29 देशों के राज्याध्यक्षों ने भाग लिया जो कि इन देशों की पहली उत्तर-औपनिवेशिक नेतृत्व की पिढ़ी थी तथा जिनका उद्देश्य विश्व मुद्दों पर विचार-विमर्श कर उनके समाधान के लिए सामुहिक नीतियों का निर्माण एवं कार्यान्वयन था। बांडुंग सम्मेलन के छः वर्षों बाद 1-6 दिसम्बर 1961 के दौरान गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के पहले सम्मेलन का आयोजन हुआ। इस सम्मेलन का भौगोलिक आधार बांडुंग से ज्यादा व्यापक था। इसमें 25 देशों के राज्याध्यक्षों ने भाग लिया था।

III. 1962-71 - इस चरण में सर्वप्रथम भारत और चीन के मध्य हुए सीमा विवाद के कारण 1962 में दोनों देशों के बीच युद्ध छिड़ गया। युद्ध के दौरान नेहरू ने अमेरिका से सैन्य सहायता लेने का प्रयास किया जो कि आलोचकों के निर्गुट राज्य के रूप में भारत की स्थिति पर सवाल उठाने के लिए पर्याप्त था। इसके अलावा भारत चीन सीमा विवाद ने भारत के सैन्य तैयारियों और कमजोर सुरक्षा

व्यवस्था पर भी प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दिया था। आलोचकों का मानना था कि विदेश नीति, सुरक्षा नीति द्वारा समर्थित होती है और युद्ध में भारत की असफलता भारतीय विदेश नीति की विफलता को दर्शाता है। परन्तु यह धरणा सुरक्षा नीति के संकुचित अवधारणा पर आधारित थी। भारतीय गुटनिरपेक्षता जिस तरीके से संचालित हो रही थी, सोवियत रूस ने वही रुख अपनाया। उसने युद्ध में बजाय कम्युनिस्ट भाई और एक गैर पूँजीवादी मित्र (भारत) में से किसी एक से चुनने में तटस्थता की नीति अपनाई, और दोनों देशों को प्रत्यक्ष वार्ता के माध्यम से युद्ध अंत करने का सलाह दिया। गुटनिरपेक्षता की नीति इतनी लचीली थी। कि भारत युद्ध के दौरान अमेरिका से सहायता प्राप्त कर सकता था। भारत ने पहली बार इतने बड़े पैमाने पर सैन्य सहायता की माँग की थी। दूसरी तरफ नेहरू के शब्दों में गुटनिरपेक्षता की नीति भारत के राष्ट्रीय हितों के सुरक्षा का एक साधन थी। विशेषकर जब भारत की सुरक्षा हित खतरे में हो तब गुटनिरपेक्षता का तंत्र खतरे के हटाने के लिए भारत को महाशक्तियों से सैन्य सहायता प्राप्त करने का स्पष्ट रूप से सुविधा मुहैया कराता था। संक्षेप में महाशक्तियों में से एक से सैन्य सहायता प्राप्त कर भारत उपमहाद्वीप में शान्ति बहाल करने में सक्षम हुआ। युद्ध में हारने के बावजूद, बिना गुटनिरपेक्षता के मूल को त्याग किये भारत ने इस प्रक्रिया को पुरा किया। 1964 में नेहरू के निधन के बाद उनके उत्तराधिकारी लाल बहादुर शास्त्री ने अधिक दृढ़ता से गुटनिरपेक्षता की नीति का पालन किया। यहाँ तक की 1964 में चीन के प्रथम परमाणु परीक्षण करने के बावजूद शास्त्री जी ने परमाणु परीक्षण करने के लिए किसी भी तत्काल भारतीय योजना से इकारा किया। उसी समय भारत में लगभग 18 महिनो की खाद्यान्न की कमी हुई थी। अमेरिका ने वियतनाम युद्ध में भारत के समर्थन के शर्त पर भारत को सहायता की पेशकश किया। लेकिन भारत ने इस शर्त को स्वीकार नहीं किया 1965 के भारत-पाक युद्ध में अमेरिका और चीन दोनों ने पाकिस्तान को मदद दिया। दूसरे तरफ भारत को सोवियत संघ ने हथियारों की सहायता प्रदान किया। भारत ने इस युद्ध को जीत करके अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त किया। दुर्भाग्य से लाल बहादुर शास्त्री जी का ताशकंद समझौता होने के बाद निधन हो गया। इसके बाद इंदिरा गाँधी भारत की प्रधानमंत्री बनीं। जिन्होंने पूनः एफ्रो-एशियन देशों के संगठन को बढ़ावा देने का प्रयास किया।

IV. 1971-1990 - इस दौर में भारतीय गुटनिरपेक्षता की नीति को एक और चुनौति भारत-पाक के बीच 1971 के युद्ध के द्वारा मिला जो कि अतंतः बांग्लादेश के जन्म का कारण भी बना। भारत की मदद से बांग्लादेश एक सम्प्रभु राष्ट्र बना। इसी दौरान 1971 में भारत ने सोवियत संघ के साथ मैत्री और सहयोग का समझौता किया। यह संधि अमेरिका के युद्ध में पाकिस्तान के पक्ष में शामिल होने के भारत को दिये गये धमकी के निवारक क रूप में किया गया था। दूसरी तरफ सोवियत संघ ने भी भारत के गुटनिरपेक्ष की नीति का समर्थन करते हुए इस संधि को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए उपयोगी बताया। अतः इस संधि को गुटनिरपेक्षता की नीति विरुद्ध बताना सही नहीं है। भारत जैसा देश उस समय इस उपमहाद्वीप में हो रहे घटनाओं के प्रति निष्क्रिय नहीं बना रह सकता था।

भारत द्वारा निभाया गया यह सक्रिय भूमिका वास्तव में गुटनिरपेक्षता के आदर्श का पालन था, क्योंकि इसके द्वारा जहाँ भारत ने अपनी क्षेत्रीय अखण्डता और एकता को सुरक्षित किया वही दुसरी तरफ मानवता खिलाफ हो रहे अन्याय का सशक्त विरोध किया। आगे चलकर जनता पार्टी सरकार ने “वास्तविक गुटनिरपेक्षता ” का नारा दिया जो कि महाशक्तियों से समान दुरी बनाये रखने के सिद्धान्त पर आधारित थी। यद्यपि कुछ आलोचको मानना था कि जनता सरकार के काल में भारत-सोवियत संघ संबंध थोड़ा ठड़ा पड़ा, जबकि भारत-अमेरिका संबंधों में सुधार हुआ। लेकिन कुछ भी हो जनता सरकार भी सोवियत संघ के विरुद्ध नहीं गया। इस सरकार ने चीन और पाकिस्तान से भी संबंधों में सुधार किया। इसी दौरान भारत ने अमेरिका के दबाव की अवहेलना करते हुए परमाणु अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। 1980 से 1990 तक के काल में भारत और सोवियत संघ के संबंध अपने ऊँचाई पर थे। परन्तु भारत अपने गुटनिरपेक्ष नीति का लगातार बढ़ावा देता रहा। भारत ने इसी समय 1983 में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सातवें बैठक की मेजबानी किया। 1990 तक आते-आते शीत युद्ध की समाप्ति की घोषणा हो गई।

V. 1991 से अब तक - सोवियत संघ के बिखराव के बाद शीत युद्ध के समाप्ति की घोषणा हुई तथा इस घटना ने गुटनिरपेक्षता के प्रासंगिकता को सबसे बड़ी चुनौति दिया। अनेक आलोचको का मानना था कि गुटनिरपेक्षता का अर्थ, महत्व और प्रासंगिकता, शीत युद्ध के कारण ही था। परन्तु अब जबकि सोवियत गुट पुरी तरह टुट गया था, देशों द्वारा गुटनिरपेक्षता के नीति को अपनाने का कोई अर्थ नहीं था। लेकिन इसी समय अपने पाँचवें चरण में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने उभरते हुए नवीन विश्व व्यवस्था के सन्दर्भ में नया स्वरूप धरण किया। अब भारतीय गुटनिरपेक्षता का प्रमुख मुद्दा आर्थिक, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध करना हो गया। आगे चलकर नरसिम्हा राव सरकार ने अमेरिका के व्यापक परमाणु अप्रसार निषेध संधि ;बृजज्झ का समर्थन किया जो कि नेहरूवादी निःशस्त्रीकरण नीति की पूर्णवृत्ति थी। आगे चलकर इन्द्र कुमार गुजराल और देवगौड़ा के नेतृत्व में भी भारत ने उत्तर शीत युद्ध काल के दौरान भारतीय विदेश नीति के आधार के रूप में गुटनिरपेक्षता के महत्व को स्वीकारा और इस नीति का लगातार समर्थन करते रहे। भारत, इजिप्ट और क्यूबा के नेताओं ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन के कार्टेगना (1996) और डरबन (1998) सम्मेलनों में दक्षिण-दक्षिण संवाद पर जोर दिया तथा पर्यावरण के मुद्दा को पृथ्वी के अस्तित्व के लिए सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा बताया। क्वालालम्पुर में 2003 के गुटनिरपेक्षता आन्दोलन के 13 वें सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के पुनरोद्धार का प्रयास किया गया। इस सम्मेलन में एकलवादी वर्चस्व की आलोचना की गई तथा गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को और सशक्त बनाने पर जोर दिया। भारत ने गुटनिरपेक्ष देशों के मध्य अधिक से अधिक व्यापारिक सहयोग बढ़ाने पर जोर दिया। भारत ने शुरू से ही गुटनिरपेक्षता की नीति को विकासशील देशों के द्वारा अपने आर्थिक स्थिति को सुधारने का एक मंच के तौर पर देखा है। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने अनेकों सघर्षों का शांतिवादी ढंग से सुलझाने का प्रयास किया। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के 14वें सम्मेलन में भारत के तात्कालिन प्रधानमंत्री मनमोहन

सिंह ने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के बदलते भूमिका और प्रांसगिकता पर जोर देते हुए, समावेशी भूमण्डलीकरण, पश्चिम एशिया के लिए उच्च स्तरीय समुह का निर्माण, ऊर्जा चुनौति से निपटने के लिए ऊर्जा सुरक्षा का गुटनिरपेक्ष देशों की समीति बनाने इत्यादि का आह्वान किया। इजिप्ट में हुए 15 वें गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सम्मेलन में भारतीय प्रधानमंत्री ने आतंकवाद को वैश्विक शांति के लिए खतरा बताया और उससे निपटने के लिए पुरे विश्व को एक होने की माँग की। तेहरान में हुए 16 वें सम्मेलन में भी भारतीय प्रधानमंत्री ने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सामुहिक लक्ष्य, शांति और समृद्धि को साकार करने के प्रयास पर जोर दिया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उत्तर शीत युद्ध काल में भी भारत गुटनिरपेक्षता की नीति को लगातार समर्थन और सवर्द्धन करने का प्रयास कर रहा है।

11.7 अभी तक संपन्न गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सम्मलेन

स्थान	वर्ष	भाग लेने वाले देशों की संख्या	मुद्दा
1.बेलग्रेद (यूगोस्लाविया)	1961	25	गुटनिरपेक्ष आंदोलन का औपचारिक शुभारंभ,प्रतिभागियों को द्वारा आंदोलन को पहचान करने के लिए शब्द "तटस्थ" को अस्वीकार कर दिया। भले ही उसके आगे "सकारात्मक" उपसर्ग का ही प्रयोग क्यों ना हो ।
2.काहिरा (मिस्र)	1964	47	इसमे उस समय के तीसरी दुनिया के लिए चिंता का विषयों जैसे उपनिवेशवाद के समापन, नस्लीय भेदभाव, आत्मनिर्णय, निरस्त्रीकरण, सैन्य गठबंधन, और आर्थिक विकास इत्यादि मुख्य रूप से राजनीतिक मुद्दों पर चर्चा हुई।
3.लुसाका(ज़ाम्बिया)	1970	54	शिखर सम्मेलन में आंदोलन का प्रारंभिक उद्देश्य- आर्थिक मुद्दों को वरीयता दी गई। शिखर सम्मेलन ने अंतरराष्ट्रीय संबंधों को लोकतांत्रिक बनाने तथा एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में, स्वतंत्रता विकास और सहयोग जैसे मुद्दों को साथ इस प्रक्रिया को जोड़ने की बात की गई ।
4.अल्जीयर्स (अल्जीरिया)	1973	76	एकनवीन आर्थिक विश्व व्यवस्था बनाने का आह्वान किया गया और इसके लिए संयुक्त राष्ट्र महासभा में एक प्रस्ताव लाने की बात की गई।

5.कोलंबो (श्रीलंका)	1976	87	एशियाई महाद्वीप में आयोजित होने वाला पहला शिखर सम्मेलन। यह उस समय हुआ था जब पूरे विश्व में राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रताओं, शांति और प्रगति, दुनिया के सभी लोगों के लिए आत्मनिर्णय का अधिकार तथा शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए लोगों द्वारा संघर्ष किया जा रहा था।
6. हवाना (क्यूबा)	1979	100	लैटिन अमेरिका में आयोजित होने वाले इस पहले शिखर सम्मेलन में इस क्षेत्र की समस्याओं के समाधान की शुरुआत की बात की गई। साथ ही वैश्विक परिदृश्य पर संघर्ष की संख्या की वृद्धि पर भी चर्चा हुई। शिखर सम्मेलन में आत्मनिर्णय के अधिकार और मानव स्वतंत्रता पर एक तदर्थ घोषणा भी जारी किया गया।
7.नई दिल्ली (भारत)	1983	101	इसमें सुपर शक्तियों के बीच बढ़ रही बेलगाम आयुध होड़ और विकसित और विकासशील देशों के बीच तेजी से बढ़ती आर्थिक खाई को समकालीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के दो बुनियादी मुद्दों के रूप में पहचान की गई।
8. हरारे (जिम्बाब्वे)	1986	101	इस शिखर सम्मेलन में रंगभेद और नस्लीय भेदभाव का स्पष्ट शब्दों में निंदा की गई।
9.बेलग्रेद (यूगोस्लाविया)	1989	103	शिखर सम्मेलन में कई मुद्दों की समीक्षा की गई जैसे; फिलिस्तीन लेबनान और अफगानिस्तान में स्थिति; ईरानी-इराक संबंध, पश्चिमी सहारा, साइप्रस और कोरिया के घटनाक्रम; रंगभेद नीति; दक्षिणी अफ्रीका की स्थिति, अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा और निरस्त्रीकरण की स्थिति; आदि। इसके अलावा विकास में महिलाओं का प्रश्न, पर्यावरण की भूमिका, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, खाद्य और कृषि, विकासशील देशों के बीच आर्थिक सहयोग इत्यादि की भी चर्चा हुई।
10.जकार्ता (इंडोनेशिया)	1992	108	शिखर सम्मेलन में कई मुद्दों पर चर्चा की गई जैसे; शीत युद्ध के बाद के युग में गुटनिरपेक्ष आंदोलन के लिए एक नई भूमिका के लिए खोज, समानता, न्याय और लोकतंत्र के आधार पर एक नई विश्व व्यवस्था के निर्माण की समस्या; ऋणग्रस्तता की समस्या; अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग, निरस्त्रीकरण; मानव अधिकार; फिलिस्तीनी मुद्दा और सोमाली

			संकट।
11.कार्टागिना (कोलम्बिया)	1995	113	शिखर सम्मेलन विकासशील देशों के समग्र विकास लिए, और अधिक अंतरराष्ट्रीय सहयोग और एक नए विश्व व्यवस्था के निर्माण का आह्वान किया गया। शीत युद्ध के बाद के युग में विकासशील देशों के प्रवक्ता के रूप में आंदोलन की भूमिका बढ़ाने का निश्चय किया गया। शिखर सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र के पुनर्गठन, विकासशील देशों में मानव अधिकार, पर्यावरण संरक्षण और आतंकवाद में वृद्धि इत्यादि मुद्दों पर भी चर्चा की गयी।
12.डरबन (दक्षिण अफ्रीका)	1998	115	यह शिखर सम्मेलन अपने समय और जारी किए गए प्रस्तावों की महत्ता से इसके अत्यंत उल्लेखनीय है। उत्तर-शीत-युद्ध युग के नये चुनौतियों का सामना करने के लिए रणनीतियों का निर्माण किस प्रकार हो, यह प्रमुख मुद्दा था। इसके लिए आंदोलन के सदस्य-राज्यों ने नई सहस्राब्दी में आंदोलन का दृष्टिकोण, पहचान, भूमिका और नीति विस्तृत करने के लिए अवसरों के तलाश पर जोर दिया।
13.कुआलालंपुर (मलेशिया)	2003	116	शिखर सम्मेलन में कई मुद्दों पर सदस्य देशों के बीच मतभेदों को देखा गया। जिनमें से शीर्ष पर इराक, दक्षिण कोरिया और तथाकथित आतंकवाद के मुद्दे थे। वास्तव में शिखर सम्मेलन ने राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्तर पर अंतरराष्ट्रीय घटनाक्रमों को समझने तथा उनके निदान की बात की गई, इसमें अमेरिका द्वारा इराक मामले में हस्तक्षेप सबसे आगे आया।
14. हवाना (क्यूबा)	2006	118	सम्मेलन अच्छा या बुरा के रूप में राज्यों के वर्गीकरण की निंदा किया गया। सावधानी के पहले हमला करने का सिद्धांत जिसमें परमाणु हथियारों से हमले भी शामिल थे की भी आलोचना हुई। निरस्त्रीकरण के मुद्दे पर, परमाणु अप्रसार के लिए प्रयासों को, परमाणु निरस्त्रीकरण के समान होना चाहिए माना गया। इस संबंध में, शिखर सम्मेलन में परमाणु निरस्त्रीकरण के लिए एक चरणबद्ध कार्यक्रम पर सहमती के लिए एक अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन को आयोजित करने का

			आह्वान किया गया
15. शर्म अल शेख (मिस्र)	2009	118	गुटनिरपेक्ष आंदोलन के नेताओं ने उनके निरंतर परमाणु हथियारों के उन्मूलन, परमाणु हथियार मुक्त क्षेत्र के लिए सरकार का समर्थन करने के लिए, विशेष रूप से मध्य पूर्व में, प्रतिबद्धता को दोहराई, और शांतिपूर्ण परमाणु ऊर्जा के उपयोग की घोषणा भी की।
१६ .तेहरान (ईरान)	2012	120	शिखर सम्मेलन का शिर्षक "संयुक्त वैश्विक शासन के माध्यम से स्थायी शांति" था। शिखर सम्मेलन का मुख्य दस्तावेज में शांति पर जोर दिया गया। प्रतिभागीयों ने दुनिया में वैश्विक शासन में मौलिक परिवर्तन और शांति स्थापित करने की पूर्व शर्त के रूप में दुनिया के सामूहिक प्रबंधन और दुनिया को संघर्ष से बचने का आह्वान दिया।

11.8 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रासंगिकता

गुट निरपेक्ष आन्दोलन का 16वाँ सम्मेलन इरान के तेहरान में 30-31 अगस्त 2012 को सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। यह सम्मेलन पिछले पाँच दशकों में सबसे बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था कि जैसा कि इसमें 120 देशों के राज्याध्यक्षों ने भाग लिया और 17 देशों के प्रतिनिधियों ने समीक्षक के रूप में सम्मेलन में भाग लिया।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन संयुक्त राष्ट्र संघ जैसा अनिवार्य सदस्यता वाला संगठन नहीं है। यह एक एच्छिक सदस्यता वाला संगठन है, फिर भी बेलग्रेद (1961) के पहले सम्मेलन के 25 सदस्य संख्या वाला यह संगठन आज 120 सदस्यों वाले बड़े आन्दोलन में परिवर्तित हो चुका है, जिसमें विभिन्न इतिहास संस्कृति और राजनीतिक व्यवस्था वाले देश एकजुट होकर वैश्विक मुद्दों पर सामूहिक शांतिपूर्ण समाधान पर पहुँचने का प्रयास करते हैं। आखिर ऐसा क्या था कि इतनी में संख्या में विभिन्न देशों ने इसकी सदस्यता ली, जबकि इस संगठन के पास अपने निर्णयों को मनवाने के लिए कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं है। सदस्य देशों का ऐसे संगठन में शामिल होने का क्या फायदा है? ऐसा कहा जा सकता है कि 1950 के दशक में साझा औपनिवेशिक सघर्षों के अनुभवों वाले कुछ देशों ने अपनी सापेक्षिक स्वायत्ता और मार्मिक राष्ट्रीय हित की महाशक्तियों के हस्तक्षेप से रक्षा हेतु गुटनिरपेक्ष आन्दोलन जैसे मंच की स्थापना किया। यह एक तरह से वैश्विक मामलों में स्वतंत्र रूप से निर्णय लेने की इच्छा थी जिसने की भारत, इण्डोनेशिया, इजिप्ट युगोस्लाविया (भूतपूर्व), चीन इत्यादि देशों को एक मंच पर ला कर खड़ा कर दिया तथा इन्हीं कारणों से या आन्दोलन लगातार बढ़ता रहा। शीतयुद्ध काल में इसने दो विपक्षी महाशक्तियों के दबाव को सफलतापूर्वक झेला। जब

शीत युद्ध खत्म हो गया तो आलोचकों ने कहना शुरू किया कि गुटनिरपेक्षता का अब समय पूरा हो चुका है, क्योंकि शीत युद्ध काल के द्विध्रुवीय विश्व के स्थान पर अब बहुध्रुविय व्यवस्था आ गई है। परंतु आज जो नये प्रकार के आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का उद्भव हो रहा है, उसमें गुटनिरपेक्षता की नीति की भूमिका और अधिक बढ़ गई है। वास्तव में आज के सन्दर्भ में विश्व, अमेरिका के एकलवादी नीतियों के वर्चस्व में है तथा सारे देशों को इन नीतियों का समना करना पड़ रहा है। अगर हम पिछले पाँच दशकों के गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के इतिहास पर जाये तो हम पायेंगे कि अमेरिका ने सदैव गुटनिरपेक्षता का विरोध किया है। अमेरिका ने हमेशा गुटनिरपेक्ष देशों द्वारा नव उपनिवेशवाद और नव साम्राज्यवाद के विरोध को दबाने का प्रयास किया है। जब भी गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने एशिया, अफ्रिका या लैटिन अमेरिका के नव स्वतंत्र राष्ट्रों के आर्थिक और राजनीति स्वतंत्रता का समर्थन किया तो वह अमेरिका की सहायता से बुरी तरह से दबा दिया गया। अमेरिका का गुटनिरपेक्षता के सन्दर्भ में यह मानना था कि जो हमारे साथ नहीं है वह हमारे विरुद्ध है। अमेरिका के नेतृत्व में नाटों द्वारा विश्व के कई देशों में शासन परिवर्तित कर, उसके नव उपनिवेशवाद नीतियों के समर्थन वाली कठपुतली सरकार स्थापित करना उत्तर शीत युद्ध काल में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के प्रासंगिकता को पुरी तरह से न्यायोचित ठहराता है। अमेरिका द्वारा युगोस्लाविया, अफगानिस्तान, इराक, लीबिया में जो एक तरफा सैन्य कार्यवाहीयाँ की गई वह अपने आप में वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की कमजोरी को दर्शाती है। अतः इस तरह के अव्यवस्था के विरोध के लिए गुटनिरपेक्ष आन्दोलन जैसे बड़े मंच की आवश्यकता और बढ़ जाती है। वर्तमान विश्व पूनः उन पुराने उपनिवेशवादी शक्तियों द्वारा नवउपनिवेशवादी नीतियों के प्रसार के खतरे से ग्रस्त है। अतः इन नवउपनिवेशवादी शक्तियों का प्रतिरोध गुटनिरपेक्ष आन्दोलन जैसे मंच से ही संभव है। जैसा कि हम देख सकते हैं कि अभी हाल में ही तेहरान में हुए गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सम्मेलन का अमेरिका ने विरोध किया था। स्पष्ट है कि एक महाशक्ति के टुटने से वैश्विक समस्याओं का अंत नहीं हो जाता। आज के नये भू-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में जहाँ विश्व, आतंकवाद, प्रजातिवाद, अविकास शस्त्र होड़, खाद्यान्न संकट, जलवायु परिवर्तन, विभिन्न महामहारियाँ के प्रसार इत्यादि समस्याओं से जुझ रहा है, वहाँ गुटनिरपेक्ष आन्दोलन जैसे साकारात्मक उद्देश्य वाले अन्तर्राष्ट्रीय मंच की प्रासंगिकता और बढ़ जाती है। अतः गुटनिरपेक्षता की नीति इस एक ध्रुवीय विश्व में प्रासंगिक और भविष्य में आने वाले बहुध्रुवीय विश्व में भी प्रासंगिक रहेगा।

गुटनिरपेक्ष का आधारभूत सिद्धान्त- निःशस्त्रीकरण, दुसरे देशों के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप, समान आर्थिक और राजनितिक व्यवस्था की माँग तथा संयुक्त राष्ट्र संघ व्यवस्था को मजबूत बनाना इत्यादि पूरे विश्व के लोगों के जीवन को सुधारने के लिए पर्याप्त है। संयुक्त राष्ट्र के सुरक्षा परिषद में सुधार की माँग गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य रहा है। आन्दोलन द्वारा सुरक्षा परिषद के विस्तार की माँग एक तरह से संयुक्त राष्ट्र को बहुपक्षीय बनाने का प्रयास है। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के 15वें सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के प्रति विश्वास को दोहराया गया। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन

अनेको वैश्विक सुधारों की माँग और समर्थन करता रहा है। जैसे नव अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (1974), पृथ्वी सम्मेलन एजेण्डा - 21 (1992) तथा रियो घोषणा पत्र। 15वें सम्मेलन में सर्वसमती से सभी सदस्यों ने अमिर और गरीब देशों के मध्य असमानता को कम करने की प्रतिबद्धता को दोहराया। अमेरिका के विरोध के बावजूद तेहरान में सम्पन्न हुआ गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का 16वाँ सम्मेलन इसके प्रासंगिकता के औचित्य को सही ठहराता है। इस सम्मेलन में भारतीय प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने सुरक्षा परिषद्, विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं वैश्विक व्यापार, कृति और निवेश में सुधार का आह्वान किया। उन्होंने वैश्विक शासन व्यवस्था में सुधार की माँग किया। सिरिया में चल रहे गृह युद्ध को इंगित करते हुए उन्होंने ने यह माँग कि, यह समस्या सिरिया के लोगों द्वारा सुलझाया जाना चाहिए। सिरिया में लोकतंत्र का समर्थन, उस पर सैन्य कार्यवाही के माध्य से नहीं होनी चाहिए। शुरू से ही गुटनिरपेक्षता की नीति देशों के स्वतंत्र विदेश नीति की माँग करती रही है और कोई भी देश महाशक्तियों के हाथ में कठपुतली न बने इसका प्रयास करती रही है। आन्दोलन के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों के सन्दर्भ में तीन प्रमुख माँग रहे हैं। - स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार, सामाज्यवाद एवं नव उपनिवेशवाद का विरोध तथा सभी महाशक्तियों के साथ मित्रवत संबंध। यह आज भी उतना ही प्रासंगिक है। इसके अलावा आज के सन्दर्भ में इसका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का पुनर्गठन करना हो गया है।

11.9 भारत की भूमिका

भारत के विदेश नीति के आधार के रूप में गुटनिरपेक्षता की नीति इस एक ध्रुवीय विश्व में कहाँ तक प्रासंगिक है, प्रश्न भारतीय विदेश नीति के सन्दर्भ में 1990 के बाद सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न रहा है। आलोचकों का मनना है यदि भारत केवल गुटनिरपेक्षता की नीति का पालन करता रहता तो शायद अपने राष्ट्रीय हितों का सफलता पूर्वक वहन न कर पाता तथा शायद आज की तरह उभरती हुई शक्ति के रूप में न पहचाना जाता। भारत गुटनिरपेक्षता का संस्थापक देश था। इसने 1983 में गुटनिरपेक्षता के सम्मेलन की मेजबानी की और इसी ने सर्वप्रथम गुटनिरपेक्षता नियमों से सबसे ज्यादा दुरी भी बनाया। आलोचकों के अनुसार 1998 में भारत द्वारा परमाणु परीक्षण करने के बाद तथा उसके पश्चात भारत-अमेरिका परमाणु समझौता जैसे कदमों ने अनेकों गुटनिरपेक्ष देशों को यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि भारत गुटनिरपेक्षता के आधारभूत सिद्धान्त से भटक गया है। और भारतीय विदेश नीति में इसकी कोई प्रासंगिक नहीं रही है। भारत-अमेरिका परमाणु समझौता का विशेषकर इरान ने विरोध किया और भारत पर आरोप लगाया कि वह अपने परम्परागत गुटनिरपेक्षता के मार्ग से भटक गया है। परन्तु ये सारे निर्णय कहीं से गुटनिरपेक्षता के नीति से भटकाव नहीं है। गुटनिरपेक्षता का सिद्धान्त किसी देश को उसके राष्ट्रीय हित का सर्वोच्च और इस उद्देश्य के लिए महाशक्तियों से मित्रवत सम्बन्ध बनाये रखने पर प्रतिबंध नहीं लगाती। भारत का परमाणु परीक्षण भी शांतिवाद उद्देश्य तथा प्रथम बार प्रयोग न करने के सिद्धान्त पर आधारित है। भारतीय

राष्ट्रीय हित के सुरक्षा के सन्दर्भ में परमाणु परीक्षण आवश्यक था। अपनी विदेश नीति में गुटनिरपेक्षता के मूल्यों के प्रति भारत का प्रबल समर्थन इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि भारत ने कभी भी अमेरिका का पिछलग्गु बनना स्वीकार नहीं किया। जब अमेरिका के तात्कालीन विदेश मंत्री ने 2007 में भारत को गुटनिरपेक्षता की नीति को छोड़ने का सलाह दिया तो भारत में इसका कड़ा विरोध हुआ। बाद में भारत में तात्कालीन अमेरिकी राजदुत डेविड सी मलफोर्ड को यह कहना पड़ा कि भारत गुटनिरपेक्षता की नीति का महत्वपूर्ण रूप से पालन कर रहा है। 16 वें गुटनिरपेक्ष सम्मेलन का अमेरिका द्वारा किये जाने वाले विरोध के बावजूद भारत ने इसमें भाग लिया। भारत के इस सम्मेलन में भागीदारी ने भारत के गुटनिरपेक्षता के प्रति आस्था गहराई से प्रकट करता है। इस सम्मेलन में भारतीय प्रधानमंत्री के भाषण ने भारत की पश्चिम एशिया के प्रति नीति को स्पष्ट कर दिया जिसमें भारत ने अपनी पुरानी प्रतिबद्धता को दोहराते हुए इस बात पर बल दिया कि बाह्य राष्ट्रों को किसी भी देश के सम्प्रभुता का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। भारत ने सिरिया और फिलिस्तीन मुद्दों के भी शांतिपूर्ण समाधान पर जोर दिया तथा यह विश्व से यह सुनिश्चित करने का आह्वान किया कि लंबे समय से कष्ट झेल रहे लोगों को राहत पहुँचना चाहिए। भारत लगातार गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को समसामायिक वैश्विक मुद्दों में सक्रिय भूमिका निभाने पर जोर दे रहा है - जैसे - वैश्विक आतंकवाद मानवाधिकार, विकास एवं नारी उन्मुक्ति, पर्यावरण संरक्षण इत्यादि।

11.10 गुटनिरपेक्ष नीति

बदलते हुए नये वैश्विक परिदृश्य के सन्दर्भ में गुटनिरपेक्ष की नीति को नया स्वरूप देना का प्रयास करते हुए कुछ विद्वान, विश्लेषकों, पूर्व अधिकारियों द्वारा गुटनिरपेक्षता 2.0 नामक प्रपत्र तैयार किया गया है जो कि दिल्ली स्थित शोध संस्थान सेंटर फार पॉलिसी रिसर्च द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसमें लेखकों ने स्ट्रेटिजिक ऑटोनॉमी (रणनीतिक स्वायत्तता) शब्द का प्रयोग करके गुटनिरपेक्ष को और अधिक प्रभावी बनाने का प्रयास किया गया है। इसमें भारत को उभरती अर्थव्यवस्थाओं के साथ सबंध सुधारने का नीतिगत सुझाव दिया गया है। इसमें यह सुझाव दिया गया है कि भारत चीन से लगे अपने उत्तरी सीमाओं पर दृढ़ता का रुख अपनाये। इसमें देश के अन्दर शासन के कमियों की तरफ भी ध्यान दिलाया गया है। इस प्रपत्र में यह ध्यान दिलाया गया है कि विश्व आज जिन समस्याओं का सामना कर रहा है उससे निपटने के लिए भारत को अपनी नेतृत्व क्षमता दिखानी चाहिए। इस रिपोर्ट का शिर्षक महत्वपूर्ण रूप से इस बात को इंगित कर रहा है कि गुटनिरपेक्षता भारतीय कुट नीति का एक गम्भीर एवं खास हिस्सा अभी भी है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि भारत के विदेश नीति के आधार के रूप में गुटनिरपेक्षता की नीति अब भी प्रासंगिक है। भारत के सुरक्षा परिषद् के सदस्य बनने का लक्ष्य बिना गुटनिरपेक्ष आन्दोलन जैसे बड़े मंच के सहायता के संभव नहीं हैं साथ ही भारत को पाँच महाशक्तियों के साथ भी सबंध अच्छे बनाकर रखने होंगे। भारत का गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को और अधिक प्रभावी बनाने का प्रयास

भी करना चाहिए। इसके लिए वह गुटनिरपेक्षता की नीति के लिए नया रोडमैप बना सकता है। साथ ही सदस्यों देशों के आन्तरिक मतभेदों को दूर करने के प्रयास भी कर सकता है। भारत को सदस्यों देशों का वैश्विक शासन से जुड़े हुए मुद्दों तथा मतभेदों को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। साथ ही भारत को गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के गरीबी उन्मुलन, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, आपदा प्रबंधन जैसे प्रोजेक्टों को आर्थिक मदद भी मुहैया करानी चाहिए। भारत इतना सशक्त है कि वह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को और अधिक प्रभावी बना सके। यह भारत के राष्ट्रीय हित के अभिवृद्धि में सहायक भी होगा।

अभ्यास प्रश्न

(1) भारतीय विदेश नीति में गुटनिरपेक्षता नीति का तात्पर्य –

A. राष्ट्रों के बीच एक मध्यस्थ के रूप में कार्य करना B. महशक्तियों के गुट राजनीति में गैर-भागीदारी

C. पड़ोसी देशों के साथ सहयोग D. सारे देशों का पक्ष लेना

(2) पंचशील समझौता किन देशों के बीच हुआ था

A. भारत और म्यांमार B. भारत और पाकिस्तान C. भारत और चीन D. भारत और नेपाल

(3) पहला गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन किस शहर में आयोजित किया गया था-

A. हवाना B. जकार्ता C. बेलग्रेड D. नई दिल्ली

(4) पहला गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन कब आयोजित किया गया था

A. 1961 B. 1964 C. 1970 D. 1973

11.11 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत हम लोगो ने गुटनिरपेक्षता की नीति की अवधारणाएँ इसके एक आंदोलन के रूप में जन्म के कारण तथा इसके विकास के विभिन्न चरणों का अध्ययन किया। साथ ही हमने भारत के विदेश नीति के एक आवश्यक पहलू के रूप में इस अवधारणा का विश्लेषण भी किया। गुटनिरपेक्ष आंदोलन दो वैश्विक घटनाक्रम के संदर्भ में उभरा था। पहला तीसरी दुनिया के देशों का उपनिवेशवादी शासन से मुक्त होना और विश्व के दो महाशक्तियों के अमेरिका और सोवियत संघ के बीच शीत युद्ध का होना। इसी संदर्भ में गुटनिरपेक्षता का अर्थ एवं उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है क्योंकि गुटनिरपेक्षता की नीति शीत युद्ध और उससे उपजे गुटों की राजनीति से दूर रहते हुए अपनी विदेश नीति का स्वतन्त्र रूप से पालन करने के नजरिए को दर्शाता है। दूसरे शब्दों में गुटनिरपेक्षता का जन्म विशिष्ट राजनीतिक, आर्थिक, सामरिक तथा स्थानीय प्रस्थितियों के संदर्भ में हुआ था। गुटनिरपेक्षता की नीति ने अपने शुरुवाती दौर में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। विशेषकर संयुक्त

राष्ट्र संघ में आगे चलकर शीतयुद्ध के समाप्ति और एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था के कारण आलोचकों ने इसे अप्रासंगिक बताना शुरू कर दिया स परंतु यह विचार उचित नहीं है क्योंकि निःसन्देह शीतयुद्ध का संदर्भ परिवर्तित हो गया है लेकिन आज भी विश्व गरीब और अमीर दो भागों में विभाजित है स ऐसे अनेकों कारण आज भी विद्यमान है जिनके लिए गुटनिरपेक्षता की नीति का पालन अपरिहार्य है। उदाहरणस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ का लोकतांत्रिकरण वैश्विक आतंकवाद, मानवाधिकार, विकास एवं नारी उन्मुक्ति, पर्यावरण संरक्षण इत्यादि स और इसी कारण भारत आज भी इस आंदोलन का प्रबल समर्थन कर रहा है स आवश्यकता इस बात की है इस आंदोलन को बदलते वैश्विक संदर्भ पुनः परिभाषित की जाय ताकि वैश्विक न्याय के इसके लक्ष्य को साकार किया जा सके।

11.12 शब्दावली

प्रस्तावना- परिचय, भूमिका इत्यादि

सामरिक- युद्ध, नीति, विषय, कारण, रणनीति, संबंधी

उपनिवेशवाद- इसका अभिप्राय उस स्थिति से है जिसमें कोई राष्ट्र अपनी राजनीतिक एवं सैनिक शक्ति का विस्तार अन्य राष्ट्रों पर कर नियंत्रण स्थापित कर वहां के संसाधनों का अपने हित में शोषण करता है स

तटस्थ- उदासीन

11.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.B, 2.C, 3.C 4.A

11.14 संदर्भ ग्रन्थ

1. Arun Mohanty (2012), "Nam's Relevance in the Emerging Multipolar World and India", *Mainstream*, 50(37).
2. J.Bandyopadhyaya (2003), *The Making of India's Foreign Policy- Determinants, Institutions, Processes and Personalities*, New Delhi: Allied Publishers Pvt. Limited.
3. Muhammad Badiul Alam (Fall 1977), "The Concept of Non - Alignment: A Critical Analysis", *World Affairs*, 140(2): 166-185

-
4. Palmer and Parkins (2005), *International Relations-The World Community in Transition*, New Delhi: A.I.T.B.S. Publishers and Distributers.
 5. Rao, P.V. Narasimha (2009), "Nehru and Non-alignment", *Mainstream*, 47(24).
-

11.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Dixit, J. N.(2000),*India's Foreign Policy*, New Delhi: Picus Books
 2. Rajan, M.S.(1990), *Non-alignment and Non-aligned Movement: Retrospect and Prospect*, New Delhi : Vikas Publishing House Pvt Ltd.
 3. Appadorai, A., M.S. Rajan (1985), *India's Foreign Policy and Relations*, New Delhi: South Asian Publishers.
-

11.16 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति का आलोचनात्मक समीक्षा करें।
2. शीत युद्ध के पश्चात भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति की प्रासंगिकता का परीक्षण करें।

इकाई -12 : भारत की दक्षेश (SAARC) नीति, आशियान एवं पूर्व की ओर देखो नीति

इकाई की संरचना

- 12.1 प्रस्तावना
- 12.2 उद्देश्य
- 12.3 सार्क तथा भारत
- 12.4 सार्क देश और भारत
 - 12.4.1 सार्क की विभिन्न विकास परियोजनाओं में भारत की भूमिका
 - 12.4.2 सार्क में भारत की भूमिका
 - 12.4.3 सार्क में भारत की चुनौतियां
- 12.5 पूर्व की ओर देखो नीति तथा भारत
 - 12.5.1 पूर्व की ओर देखो नीति में भारत के तीन सूत्री कार्यक्रम
 - 12.5.2 पूर्व की ओर देखो नीति में भारत की चुनौतियां
- 12.6 आसियान तथा भारत
 - 12.6.1 आसियान में भारत की भूमिका
 - 12.6.2 आसियान देशों के साथ भारत व्यापार संबंध
 - 12.6.3 आसियान में भारत की चुनौतियां
- 12.7 सारांश
- 12.8 शब्दावली
- 12.9 संदर्भ ग्रंथ
- 12.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 12.11 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

क्षेत्रीय सहयोग संगठन की स्थापना क्षेत्रीय एकीकरण की आवश्यकता पर आधारित होती है। अनेक सामान्य निर्धारक तत्व, जो प्रायः क्षेत्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देते हैं, वे हैं: भूगोल, जाति, भाषा, धर्म, सभ्यता, ऐतिहासिक-राजनीतिक अथवा सामाजिक-आर्थिक समानताएं। सामाजिक तथा राजनीतिक दोनों ही स्तरों पर मानव संबंध प्रायः संघर्ष-पूर्व रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में संघर्ष का बाहुल्य रहता है। समय-समय पर राज्यों के मध्य किसी प्रश्न विशेष पर विवाद उत्पन्न होते रहते हैं। अतः जरूरी है कि विभिन्न देशों में जितना अधिक पारस्परिक मेल-जोल और आदान-प्रदान होगा, सामूहिक प्रयासों की सफलता की संभावनाएं उतनी ही अधिक होंगी। उपरोक्त उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए सार्क, आसियान, जैसे क्षेत्रीय सहयोग संगठन की स्थापना की गई तथा अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा और राष्ट्रहित को ध्यान में रखते हुए भारत पूर्व की ओर देखने की नीति पर अग्रसर है। क्षेत्रीय संगठनों की स्थापना तथा इस दिशा में प्रयास के लिए संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद 52 में प्रावधान है।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम –

- क्षेत्रीय संगठनों जैसे सार्क तथा आसियान के संगठन के बारे में जान सकेंगे।
- इन संगठनों के उद्देश्यों को समझ सकेंगे।
- इन क्षेत्रीय सहयोग संगठनों के भारत के साथ सम्बन्ध और इनमें भारत की भूमिका को जान सकेंगे।
- भारत किस प्रकार इन क्षेत्रीय संगठनों में महत्व रखता है इसको भी जान पायेंगे।

12.3 सार्क तथा भारत

सार्क को लगभग 29 वर्ष यानी 1985 से अस्तित्व में आए हो गया है, ये विश्व की लगभग 25 प्रतिशत आबादी का प्रतिनिधित्व करने वाला बेहिसाब प्राकृतिक संसाधनों वाला क्षेत्रीय सहयोग संगठन है। प्रधान सार्क क्षेत्र वास्तव में दक्षिण एशिया, मध्य एशिया तथा पश्चिम एशिया के बीच सेतु का काम कर सकता है, बशर्ते दक्षिण एशिया के देशों को न केवल अपनी आर्थिक क्षमता की पहचान हो बल्कि वे आपस में तालमेल तथा समन्वय और पारस्परिक सद्भाव तथा मैत्री संबंध स्थापित करें, इस दिशा में कदम उठाने के लिए भारत ने समय-समय पर कई महत्वपूर्ण प्रयास किए। भारत सार्क देशों का मेरूदण्ड है। वास्तव में भारतीय उपमहाद्वीप के इन देशों को भारत से न केवल मार्ग दर्शन होता है बल्कि देशभारत पर अनेक बातों पर निर्भर भी रकते हैं। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े ये

भारत की मजबूत आर्थिक स्थिति के कारण अपनी उन्नति के आशवस्त है। पारस्परिक आर्थिक सहयोग ने इन देशों में विश्वास पैदा किया है। सामरिक महत्व के इस क्षेत्र के देशों पर महाशक्तियां अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए निरंतर प्रयत्न करती रही है। भारत की सैनिक शक्ति की परोक्ष छात्रछाया में ये देश अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाए रखने में समर्थ है। भारत सार्क देशों का सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है जो निम्नलिखित है:

12.4 सार्क देश और भारत

भारत और पाकिस्तान के बीच यदि व्यापार पैटर्न को देखे तो पाकिस्तान को भारत का निर्यात 1.8 अरब डॉलर है।

भारत और बंगलादेश दोनों देशों के बीच 1.6 अरब डॉलर का व्यापार होता है। जिसमें बंगलादेश का भारत को निर्यात मात्र 25 करोड़ डॉलर है।

भारतीय कंपनियों ने नेपाल के बाजार में 14 अरब डॉलर का निवेश किया। विदेश व्यापार के लिहाज से नेपाल का लगभग दो तिहाई व्यापार भारत से होता है।

भारत ने भूटान की पंचवर्षीय योजनाओं तथा ढांचागत विकास हेतु 10,000 करोड़ रूपए कर्ज बतौर दिए है जिसका उपयोग सड़क तथा रेल पटरी बिछाने हेतु किया गया।

भारत और श्रीलंका के बीच मुक्त व्यापार व्यवस्था दोनों देशों के बीच सौहार्दपूर्ण संबंधों का एक उल्लेखनीय उदाहरण है।

मालदीव की अर्थव्यवस्था पर्यटन तथा मत्स्यिकी पर निर्भर है। वहां लगभग 60 हजार से अधिक श्रमिक में 50 प्रतिशत भारतीय है।

भारत अफगानिस्तान को सहायता देने वाला चौथा बड़ा देश है। भारत अफगानिस्तान में पिछड़े 6-7 साल से उसके पुनः निर्माण में सहायता देता रहा है।

12.4.1 सार्क की विभिन्न विकास परियोजनाओं में भारत की भूमिका

सार्क को वैश्विक व्यवस्था बनाने का भारत का सुझाव ताकि बढ़ती तेल और खाद्य पदार्थों की कीमतों से तेल उपभोक्ता देशों के हितों की रक्षा की जा सके।

भारत खाद्य संकट के समाधान में कोष की स्थापना के माध्यम से अन्य सार्क देशों की मदद करते हुए प्रतिबद्ध है।

सार्क विकास कोष जिसके तहत भारत ने सामाजिक और ढांचागत विकास सहित विभिन्न क्षेत्रों विशेषकर कम विकसित देशों की परियोजना हेतु सहायता उपलब्ध करने की वचनबद्धता। 4.3.5.4 सार्क विश्वविद्यालय जिसके तहत 2010 तक 5000 छात्र विद्या अध्ययन के लिए एवं विश्व स्तर के वैज्ञानिक, तकनीकी विद् और चिंतक शामिल होंगे।

12.4.2 सार्क में भारत की भूमिका

सार्क विकास कोष (एस.बी.एफ) भी चालू हो गया है। इसे सार्क सचिवालय के अस्थायी प्रकोष्ठ में चलाया जा रहा है। भारत ने अपने वायदे के अनुसार 18.99 करोड़ अमरीकी डॉलर का पूरा योगदान एसडीएफ को हस्तांतरित कर दिया है उसने सार्क सदस्य देशों को बायो मास कूकिंग स्टोव तथा सोलर लालटेन प्रदान करने के बारे में तीसरी परियोजना प्रस्तावित की है।

भारत टेलीमेडिसिन (भूटान और अफगानिस्तान), दालों की शटल ब्रीडिंग (भूटान), बीज परीक्षण प्रयोगशाला की स्थापना (भूटान), वर्षा जल संरक्षण (भूटान और श्री लंका) और ग्रामीण सौर ऊर्जा विद्युतीकरण परियोजना (श्रीलंका) के क्षेत्रों में भी परियोजनाएं लागू कर रहा है। ये परियोजनाएं हब एंड स्पोक मैकेनिज्म के अंतर्गत लागू की जा रही हैं, जिनका केंद्र भारत है। दक्षिण एशिया मुक्त व्यापार समझौता (साफ्टा) पूरी तरह लागू किया जा रहा है।

सार्क के सदस्य देशों के बीच लोगों के स्तर पर गतिविधियों और यात्राओं के आदान-प्रदान में महत्वपूर्ण बढ़ोत्तरी हुई है। इसका श्रेय प्रशिक्षण कार्यक्रमों, कार्यशालाओं में हिस्सा लेने के अवसरों और सांस्कृतिक गतिविधियों के आयोजन को जाता है जैसे प्रगति मैदान, आईटीपीओ, सूरजकुंड मेले में सार्क के, सदस्य देशों की हथकरघा और हस्तशिल्प प्रदर्शनियां इत्यादि की जाती हैं।

सार्क की प्रक्रियाओं में भारत ने जो गतिशीलता पैदा की है, उसका पता, असंख्य प्रशिक्षण कार्यक्रमों से भी चलता है, जिनकी मेजबानी भारत द्वारा सदस्य देशों के लिए की जाती है जैसे महिला अधिकारिता सुरक्षा, ऊर्जा इत्यादि।

भारत सार्क के प्रति इस बात के लिए गतिशील रूप से प्रतिबद्ध है कि वह स्वास्थ्य, शिक्षा और बुनियादी ढांचा जैसे मूलभूत विकासात्मक पहलुओं के बारे में पड़ोसी देशों को शामिल करेगा।

भारत के प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने 18वें सार्क सम्मेलन में सार्क क्षेत्र के लिए स्वास्थ्य, विज्ञान, वीजा नीति, मूलभूत संरचना में सुधार के मुद्दों को उठाया और काठमांडू से दिल्ली की बस का उद्घाटन किया।

सार्क व्यापार में तेजी से बढ़ोत्तरी के लिए भारत द्वारा साफ्टा (एसएएफटीए) तथा साफ्टा (एसएपीटीए) के लागू करने पर बल देना क्योंकि साफ्टा के बिना सार्क अधूरा है।

12.4.3 सार्क में भारत की चुनौतियां

1. दक्षिण एशिया में कई द्विपक्षीय समस्याएं हैं। साफ्टा को लागू करने या सार्क देशों के आपसी व्यापार के विस्तार हेतु भारत और पाकिस्तान के बीच संबंधों में यथोचित सुधार पहली शर्त है।

2. जीरो ट्रेडिफ की व्यवस्था होने के बावजूद सार्क देशों का विश्व अर्थव्यवस्था में व्यापार लगभग 6 प्रतिशत है जबकि नाफ्टा के संबंध में यह 49 प्रतिशत और आसियान के लिए 30 प्रतिशत है।
3. सार्क की तुलना अक्सर अन्य क्षेत्रीय संघों, विशेषकर आसियान से की जाती है। परंतु पाकिस्तान या कभी-कभी दूसरे सार्क देशों में पारस्परिक विश्वास की कमी के कारण सार्क इस तुलना में खरा नहीं उतरता।
4. सार्क क्षेत्र में अंतःक्रियावाद भारत के लिए बहुत बड़ी चुनौती है, कई सार्क शिखर सम्मेलनों में भारत ने यह मुद्दा उठाया है। नवम्बर, 2014 18वें शिखर सम्मेलन के दौरान आतंकवाद को अहम मुद्दा बताया।
5. सार्क देशों के बीच अविश्वास अधिक और विश्वास कम रहा है। भारत के पड़ोसी देशों को इस बात का डर था कि सार्क के दाये में रहकर आर्थिक सहयोग करने से अधिक शक्तिशाली देश यानी भारत के पूंजीपतियों की स्थिति मजबूत होगी और ऐसा पड़ोसी देशों की कीमत पर होगा।
6. अतः उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत सार्क देशों के लिए बड़े भाई (Big Brother) की भूमिका निभा रहा है। विभिन्न चुनौतियों के बावजूद भारत ही सार्क का नेतृत्व कर सकता है। इसीलिए सबसे बड़ा देश होने के नाते भारत को सामरिक दृष्टिकोण अपनाना होगा। नीचे भारत एकमात्र देश है जिसकी सब से साथ सीमाएं हैं या सबका निकटतम पड़ोसी है। हमें उदारवादी दृष्टिकोण से एकतरफा वाणिज्य सुविधाएं देनी होंगी, जिससे इन देशों की जनता और सरकार दोनों ही भारत से अच्छे संबंधों का महत्व समझे और भारत विरोधी तत्व कमजोर हों।

12.5 पूर्व की ओर देखो नीति तथा भारत

भारत के पूर्वोत्तर सीमांत से जुड़े म्यांमार से शुरू होकर जो भाग प्रशांत महासागर की तरफ अपनी पीठ कर फिलिपीन्स द्वीप समूह तक फैला है। आज दक्षिण-पूर्वी एशिया के नाम से जाना जाता है। चीन के दक्षिण में और आस्ट्रेलिया के उत्तर में स्थित यह सारा इलाका हजारों वर्षों से भारतीय उपमहाद्वीप के साथ घनिष्ठ एवं आत्मीय संबंध तथा संपर्क बने रहे हैं। किंतु जब आसियान का गठन हुआ तो भारत का मानना था कि यह क्षेत्रीय एकीकरण का रचनात्मक प्रयास नहीं वरन् साम्यवाद निरोधक मोर्चा बंदी का इंतजाम था। इसीलिए उसके साथ सहकार में खास रुचि सोवियत संघ के साथ विशेष मैत्री संधि संपन्न करने के बाद इंदिरा गांधी ने नहीं दर्शाई। बाद के वर्षों में अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य तेजी से बदला और भारत को अपनी अदूरदर्शिता पर पछतावा होने लगा। इंडोनेशिया, मलेशिया तेल संपदा के कारण खुशहाली में भारत को पछाड़ कर कहीं आगे निकल गए हैं। नन्हा सा सिंगापुर भी भारत को अपनी बेहतरी के लिए नसीहत देने लगा है। ब्रूनेई की रस्ती जैसी

सलतनत भी तेल के कारण सामरिक महत्व की बन चुकी है। इन्हीं सभी कारणों से नरसिंह राव के कार्यकाल में ‘पूर्व की ओर देखो’ का नारा बुलंद किया गया। यह भारत की विदेशनीति को ‘नयी’ दिशा देने और गतिशील बनाने का तर्कसंगत प्रयोग था। पर राव के अस्ताचलगाकी होने के साथ-साथ यह पहल भी चुक गई। सन् 2001 के आरंभ में भारत की नई ‘पूर्व की ओर देखो’ नीति के क्रियान्वयन हेतु प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने प्रथम चरण में वियतनाम तथा इंडोनेशिया की अत्यंत सफल यात्राएं की। इंडोनेशिया की यात्रा के बाद/पश्चात् प्रधानमंत्री ने कहा कि ‘‘यह पूर्व की ओर देखो नहीं, पूर्व को ओर पुनः देखो की प्रक्रिया है। साथ ही मनमोहन सरकार ने भी इसे अपने कार्यकाल में लागू किया था। दुनिया में मुसलमानों की सबसे बड़ी आबादी इंडोनेशिया में बसी है। भारत की सोच है कि सऊदी अरब के आक्रमक उग्र बहाबी इस्लाम की तुलना में सहिष्णु उदारवादी इंडोनेशियाई इस्लाम के साथ दक्षिण एशियाई इस्लाम का नाता विश्व के लिए कहीं अधिक कल्याणकारी हो सकता है। यह बात पूर्व की ओर देखने की प्रमुख प्रेरणा है।

12.5.1 पूर्व की ओर देखो नीति में भारत के तीन सूत्री कार्यक्रम

1. आसियान के सदस्यों से रणनीतिक संबंधों का नवीनीकरण करना।
2. दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों से आर्थिक संपर्क बढ़ाना जैसे व्यापार, निवेश, पर्यटन, विज्ञान और तकनीक आदि।
3. राजनीति समझ बढ़ाने के लिए इस क्षेत्र के अनेक देशों से मजबूत रक्षा संबंधों की स्थापना करना।

भारत ने दक्षिण पूर्व एशिया और प्रशांत क्षेत्र के कुछ देशों के साथ आपसी संबंधों का विस्तार सामरिक संबंधों तक किया, जबकि अन्य देशों के साथ भी संबंधों में विविधता लाने और उन्हें अधिक सुदृढ़ बनाने के प्रयास किए गए। द्विपक्षीय स्तर पर उच्च स्तरीय नेताओं ने एक-दूसरे के यहां यात्राएं की ओर क्षेत्रीय तथा बहुराष्ट्रीय मंचों पर भी परस्पर वार्तालाप के अवसर मिले, जिनमें इस क्षेत्र के नेताओं के बीच घनिष्ठता बढ़ी और इन देशों के साथ भारत के संबंधों में नई गतिशीलता विकसित करने में मदद मिली।

दक्षिण पूर्व एशिया और प्रशांत क्षेत्र के सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए, भारत ने कंबोडिया-लाओस, वियतनाम और फिलीपीन्स के अनुदानों, आसान ऋणों और क्रेडिट लाइनों के रूप में सहायता देना जारी रखा तथा आईटीईसी कार्यक्रम के अंतर्गत प्रशिक्षण कार्यक्रमों के जरिए इन देशों की मदद की। प्रशांत आइलैंड फोरम (पीआईएफ) देशों के वार्ता भागीदार के रूप में, भारत क्षमता निर्माण और सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति तथा स्थायी विकास में क्षेत्रीय सहायता प्रदान करते हुए प्रशांत द्वीप देशों के साथ जुड़ा रहा है। इसके बदले में भारत अपने हित के मुद्दों जैसे संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में सदस्यता के लिए भारत की उम्मीदवारी, राष्ट्रमंडल, असेनिक परमाणु सहयोग आदि के बारे में इन देशों में अधिकांश का समर्थन हासिल करने में कामयाब है।

भारत के बढ़ते प्रभाव ने दक्षिण पूर्वी एशिया और प्रशांत क्षेत्र में क्षेत्रीय और बहुराष्ट्रीय मंचों जैसे आसियान, ईएएस, बिमस्टेक, एमजीएफ और एआरएफ देशों को घनिष्ठ सहयोग के लिए आकर्षित किया है।

भारत दुनिया की सबसे तेजी से उभरती अर्थव्यवस्था है और इसका भारत और आसियान दोनों में राजनयिक रिश्तों पर भी इसका अच्छा असर पड़ेगा। आसियान देशों में भारत का सबसे बड़ा व्यापारिक भागीदार सिंगापुर है जिसके साथ सन् 2004 में 17.411 करोड़ रूपए का व्यापार हुआ, अकेले-सिंगापुर के साथ भारत का व्यापार आसियान के साथ कुल व्यापार का 43 प्रतिशत है। दूसरे स्थान पर इंडोनेशिया है जिसके साथ पिछले साल 7.480 करोड़ रूपए का व्यापार हुआ।

आसियान के साथ व्यापारिक घुसपैठ बढ़ाने के लिए म्यांमार भारत के लिए प्रवेश द्वारा साबित हो रहा है। म्यांमार के साथ भी भारत का व्यापार बढ़कर 1.265 करोड़ रूपए हो गया है। यह व्यापारिक साझेदारी भारत और पूर्वी क्षेत्र दोनों के लिए फायदेमंद है।

अतः उपरोक्त विवरण को ध्यान में रखकर स्वीकार किया जा सकता है कि कई करणों से ‘पूर्व की ओर देखो’ नीति से भारत को लाभ हुआ है और वह इस नीति के द्वारा अपने संबंध इन पूर्वी देशों से मजबूत करने में सफल रहा है। जिस तरह भारत “पूर्व की ओर देखो” नीति अपनाएं हुए है। उसी तरह थाइलैंड “पश्चिम की ओर देखो” की नीति अपनाएं हुए है। और ये दोनों नीतियां ही बिंदु पर मिलती है। भारत ने चीन को भी बार-बार यह समझाने की कोशिश की है कि यह भारत की “पूर्व की ओर देखो” नीति चीन के कंटेनमेंट के लिए नहीं है जैसा कि चीन इसे मानता है।

12.5.2 पूर्व की ओर देखो नीति में भारत की चुनौतियां

भारत की ‘पूर्व की ओर देखो’ नीति के सामने कई चुनौतियां हैं जो दक्षिण पूर्व क्षेत्र में भारत के बढ़ते कदम में रुकावट बन सकती है, भारत के व्यापारिक साझेदारी को प्रभावित कर सकती है, ये चुनौतियां निम्नलिखित हैं-

1. दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों का खासकर भारत के साथ जिस तरह कदम द कदम बढ़े है। भारत के साथ ये आसियान देश भी भारत जैसी सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक समस्याओं व चुनौतियों का मुकाबला कर रहे हैं। आज जो चुनौतियां हैं-उनमें प्रमुख है आतंकवाद की समस्या, आतंकवाद की समस्या एक विकराल रूप धारण कर चुकी है जिसकी लपेट में न सिर्फ भारत, अमेरिका, आसियान व अन्य देश हैं, बल्कि इसका कर्ताधर्ता पाकिस्तान भी इसका गंभीर परिणाम झेल रहा है। पिछले वर्ष 2014 में पेशावर धमाका इसका ताजा उदाहरण है।
2. मलेशिया में हिड्राफ (हिन्दू राइट्स एक्शन फोर्स) के खिलाफ सरकार द्वारा देश-द्रोह के आरोप में उठाया गया कदम सामाजिक धर्मनिरपेक्षता पर लगाया गया प्रश्न है जिसमें अनेक

हिड्राफ नेता देश-द्रोह के आरोप में जेल भेद दिए गए हैं। इसका नकारात्मक प्रभाव भारत की धर्मनिरपेक्षता तथा व्यापार पर पड़ सकता है।

3. तेल उत्पादक खाड़ी देशों द्वारा कच्चे तेल की कीमतों में वृद्धि के कारण आर्थिक मंदी भी दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के लिए एक चुनौती है, जिसका समय रहते निदान अर्थात् ऊर्जा के अन्य स्रोतों का उपयोग करना समय की आवश्यकता हो गई है। इसका निदान का फायदा भारत को भी पहुंचेगा।
4. अमेरिका का प्रशांत-महासागर की ओर बढ़ता कदम भी दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के लिए एक गंभीर चुनौती है जो इन देशों की एकता व अखण्डता के लिए गंभीर चुनौती है जो इन देशों के बीच वैमनस्यता का भी कारण बन सकता है, भारत के व्यापार पर इसका प्रभाव अछूता नहीं हो सकता।

इन उपरोक्त चुनौतियों के बावजूद “पूर्व की ओर देखा नीति” से भारत पूर्व एशिया क्षेत्र के देशों के साथ उच्च स्तरीय संबंध स्थापित करना चाहता है, और कर रहा है। वियतनाम तथा इंडोनेशिया दोनों ही पूर्व एशिया के देश हैं साथ ही आसियान के सदस्य भी हैं। आसियान के अन्य सदस्य देशों के साथ भारत ने कई सफल यात्राएं की हैं, और इन देशों के शासनाध्यक्षों ने भी भारत का दौरा किया है। इन यात्राओं के दौरान विभिन्न समझौतों पर हस्ताक्षर किए हैं, जो भारत के और दक्षिण पूर्व क्षेत्र के विकास के संबंध में महत्वपूर्ण योगदान निभा रहे हैं।

12.6 आसियान तथा भारत

“पूर्व की ओर देखो” भारत की नीति के परिणामस्वरूप ही भारत आसियान की ओर कदम बढ़ाया है। यह कदम भारतीय आर्थिक सुधारों और भूमण्डलीयकरण के विस्तार का परिणाम माना जाता है। पूर्व की ओर देखो नीति में दक्षिण पूर्वी एशिया और पूर्वी एशिया विशेषतः इनके क्षेत्रीय संगठनों पर ध्यान दिया गया है।

आज अक्सर क्षेत्रीय सहयोग के सफल प्रयोजकों में आसियान का जिक्र होता है। सौभाग्यवश इंडोनेशिया खनिज तेल के निर्यात से जल्द ही मालामाल हो गया और ब्रनेई की दशा भी पलक झपकते बदल गई। मलेशिया में डॉ. महादेव और सिंगापुर में ली कुआन यू की जनहितकारी तानाशाही ने इन दो देशों की आर्थिक प्रगति की गति तेज की। खुशहाली बढ़ने के साथ इन देशों में सामाजिक, राजनैतिक तनाव घटे और सहयोग की बात सोची जाने लगी। यह बात भी भुलाई नहीं जा सकती कि वियतनाम युद्ध के अंत के बाद आसियान के लिए नई भूमिका ढूंढना जरूरी हुआ, जिसमें साम्यवाद विरोध की जगह नहीं बची थी। इस प्रकार 11 वर्षों के अंतराल के बाद आसियान के प्रधान छः देशों का विस्तार हुआ और वियतनाम आसियान का 7वां सदस्य बना पर यह आसियान का पहला साम्यवादी सदस्य था।

अतः निकट संबंधों के लिए आर्थिक महत्व को पहचानते हुए भारत और आसियान ने व्यापारिक व निवेश संबंधों को गहरा करने के लिए अवसरों की पहचान की तथा आसियान भारत मुक्त व्यापार क्षेत्र की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करने के लिए संचनात्मक समझौते पर हस्ताक्षर पर सहमति व्यक्त की है।

भारत 1991 में (दक्षिण पूर्व एशियन राष्ट्रों के संगठन) आसियान का “प्रभागीय वार्ता भागीदार” (Sectoral Dialogue Partner) बन गया था। इसके परिणामस्वरूप, जैसा कि भूतपूर्व विदेश सचिव जे.एन. दीक्षित ने कहा, इस महत्वपूर्ण क्षेत्रीय समूह के साथ “सहकारी संबंधों” की प्रक्रिया आरंभ हो गई। इस व्यवस्था का अर्थ है कि भारत को उन क्षेत्रों में सीमित भागीदारी प्राप्त होगी जिनकी आसियान अनुमति देगा। वे क्षेत्र थे: संस्कृति, पर्यटन और कुछ वस्तुओं में व्यापार। सन् 1994 में इस सूची में विज्ञान और प्रौद्योगिकी को भी शामिल कर दिया गया। परंतु, 1995 में आसियान के पांचवे शिखर सम्मेलन में भार को “पूर्व वार्ता भागीदारी” (थनसस कंसवहनम चंतजदमत) का स्थान दे दिया गया। इसका अर्थ हुआ कि भारत अब दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों के साथ बहुमुखी और व्यापक सहयोग कर सकेगा।

12.6.1 आसियान में भारत की भूमिका

भारत-आसियान के बीच सन् 2007 तक (13वां शिखर सम्मेलन) तक 30 अरब डॉलर के व्यापार के लक्ष्य को समय से पहले हासिल कर लिया गया और 2010 तक इस व्यापार को 50 अरब डॉलर तक बढ़ाने का लक्ष्य रखा गया।

भारत व आसियान देशों के मध्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास संबंधी शोध को बढ़ावा देने के लिए 10 लाख डॉलर की प्रारंभिक राशि से भारत आसियान विज्ञान एवं तकनीकी कोष की स्थापना की घोषणा भारत ने की है।

इंडिया आसियान नेटवर्क ऑन क्लाइमेट चेज की स्थापना का आह्वान करते हुए इसकी पायलट परियोजनाओं के लिए 50 लाख डॉलर की प्रारंभिक राशि वाले एक इंडिया आसियान फंड की पेशकश भी की है।

भारत ने स्वास्थ्य के क्षेत्र में भारत आसियान संयुक्त कार्यदल के गठन का प्रस्ताव रखा है। भारत ने आशा व्यक्त की है कि आसियान के साथ मुक्त व्यापार क्षेत्र जल्द ही संपन्न होगा।

12.6.2 आसियान देशों के साथ भारत व्यापार संबंध

भारत फिलिपीन्स के साथ फिक्की के अनुसार 2010 तक लगभग 2 मिलियन अमेरिकी डॉलर तक व्यापार को बढ़ाया है।

भारत थाइलैंड के साथ द्विपक्षीय व्यापार वर्ष 2006-07 में 3189.96 मिलियन डॉलर का हो गया।

वर्ष 2007 से वियतनाम के साथ द्विपक्षीय संबंधों के लिहाज से एक महत्वपूर्ण वर्ष रहा, इसमें महत्वपूर्ण घटना थी वियतनाम के प्रधानमंत्री न्यूयेन तान हुंड की भारत यात्रा और दोनों देशों ने आपसी व्यापारिक संबंध स्थापित किए हैं।

आसियान क्षेत्र के देशों के साथ हमारा सालाना व्यापार 80 अरब अमेरिका डॉलर की सामान्य दर पर चल रहा है।

इंडोनेशिया के साथ उभयपक्षीय लाभप्रद व्यापार तक तकनीकी सहकार की अपरिमित संभावनाएं मौजूद हैं।

यात्राएं दो देशों के मध्य मैत्रीपूर्ण संबंधों को और संवर्धित करती हैं। भारत के 2007 में विदेश मंत्री का सिंगापुर दौर से नई पहल कदमियां की गईं, जिसके फलस्वरूप 2005-06 से 2006-07 तक भारत सिंगापुर व्यापार 30 प्रतिशत बढ़ा है।

12.6.3 आसियान में भारत की चुनौतियां

आसियान क्षेत्र में भारत की अधिकतर वही चुनौतियां हैं जो “पूर्व की ओर देखा” नीति में बतायी गई हैं, क्योंकि आसियान भारत की पूर्व दिशा में स्थित ही क्षेत्रीय सहयोग संगठन है जो पूर्व क्षेत्र के देश है वह आसियान के सदस्य देशों के रूप में अधिकतर जाने जाते हैं। फर्क मात्र दक्षिण क्षेत्र का है, इसी को ध्यान में रखते हुए हम आसियान में भारत की व्यापारिक चुनौतियों (जो बाकी रह जाती या छुट गई हैं) को देखते हैं।

1. हाल ही में आसियान देशों के संदर्भ में भारत की ‘नरम ताकत’-सांस्कृतिक-आर्थिक संसाधनों का उल्लेख जोशो-खरोश के साथ किया जाने लगा है। इस सिलसिले में यह बात भुलना नादानी ही होगा कि भारत के साथ सहयोग में अभी तक खास उत्साह आसियान देशों की सरकार या निजी उद्यमियों ने नहीं दर्शाया है।
2. जब बड़ी महत्वाकांक्षी परियोजना का जिक्र होता है जैसे गंगा मी कौंग परियोजना या बिम्सटैक तक जरूर कुछ समय तक बहुपक्षीय सहकार, खुशहाली की साझेदारी जैसे मुहावरे सुर्खियों में रहते हैं, फिर बात आई गई हो जाती है।
3. आसियान की असली सामरिक राजनयिक संवेदनशीलता चीन के संदर्भ में है। म्यांमार से जुड़ा हिंद महासागर के उत्तर में स्थित यह वह भौगोलिक क्षेत्र है, जहां भारत तथा चीन के पारंपारिक प्रभाव क्षेत्र टकराते हैं।

फिर भी आसियान भारत की ही तरह चीन के लिए भी संलग्न मर्मस्थल है। यह देखने लायक होगा कि आसियान में भारत की सक्रियता के बारे में चीन की क्या प्रतिक्रिया दिखलाई है। क्षेत्रीय संगठन सदस्य देशों के साथ राजनयिक यात्रा आयोजित होती है तो यह यात्राएं महत्वपूर्ण बतलाई जाती हैं। भारत तथा आसियान देशों के साथ कई राजनयिक यात्राएं हो रही हैं जैसे 2012 में प्रधानमंत्री का कंबोडिया दौरा।

12.7 सारांश

सार्क में यू तो भारत की विशिष्ट भूमिका है, परंतु सार्क देशों को आपस में पारस्परिक विश्वास और सहयोग को बढ़ाना होगा। सार्क देशों की 1.6 अरब जनता विश्व का पांचवां हिस्सा है। भूगोल, इतिहास और संस्कृति ने हमें साथ जोड़ा है, हमारा भविष्य और समृद्धि एक दूसरे से जुड़ी हुई है। इसी के साथ सभी का भविष्य उज्ज्वल होगा।

हमें याद रखना होगा कि आसियान वाले पूरब का रास्ता म्यांमार तथा बांग्लादेश से होकर ही गुजरता है। छह देशों से गुजरने वाला प्रस्तावित एशियाई राजमार्ग हो अथवा समुद्रीपथ से व्यापार का प्रोत्साहन भार का प्रयास आसियान के बहाने अपने पड़ोस को चीन की दैत्याकार छाया से बाहर रखने का है।

12.8 शब्दावली

सार्क - सार्क (दक्षेस) का पूरा नाम 'साउथ एशियन एसोसिएशन फॉर रीजनल कॉऑपरेशन' है। वर्ष 1985 को ढाका में दक्षिण एशिया के 7 देशों के राष्ट्राध्यक्षों का सम्मेलन हुआ तथा सार्क की स्थापना हुई। सार्क का 8वां देश अफगानिस्तान है।

आसियान - आसियान (एसियान) का पूरा नाम 'दक्षिण पूर्वी एशियाई राष्ट्र संघ' है। 1967 में दक्षिण पूर्वी एशिया के पांच देशों ने क्षेत्रीय सहयोग के उद्देश्य से 'आसियान' नामक संगठन का निर्माण किया। आसियान में अब 10 देश शामिल है।

आतंकवाद - आतंकवाद एक प्रकार का धर्म युद्ध या जिहाद है। आतंकवादी हिंसा का प्रयोग द्वारा सरकार पर दबाव बनाकर अपनी मांगें मनवाना चाहते हैं तथा लोगों के मन में आतंक बैठाना चाहते हैं।

कन्टेनमेंट - राजनीति में किसी देश या विचारधारा के प्रभाव को फैलाने से रोकने को कन्टेनमेंट कहते हैं।

खाड़ी देश - खाड़ी देश वह देश है, जो कच्चे तेल के उत्पादक हैं और सन् 1959 में खाड़ी देशों ने बगदाद में ओपेक की स्थापना की।

12.9 संदर्भ ग्रंथ

चौधरी, बी.बी. 2003-04. राजनीति विज्ञान: सिद्धांत एवं अवधारणाएं, दिल्ली: श्रीमहावीर बुक डिपो (पब्लिशर्स).

खना, वी.एन और अरोडा, एल. 2006. भारत की विदेश नीति, नई दिल्ली: विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि.

पंत, 2012. 'पूरब की ओर देखने की पहल' दैनिक भास्कर, 20 नवंबर, पृ. 13

शर्मा, जे.सी. 2011. 'सार्क सम्मेलन से उम्मीदे' दैनिक भास्कर, 10 नवंबर, पृ. 7.

12.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

<<http://navbharattimes.indiatimes.com/articleshow/1330887.cm>>

<<http://money.bhaskar.com/news/DYK-EA-what-is-look-east-policy-4608394-NOR.html>>

<<https://books.google.co.in/books?isbn=8125924051>>

<[http://www.dw.de/ भारत -और-पूर्व-की-और-देखो-नीति /a-16864564](http://www.dw.de/भारत-और-पूर्व-की-और-देखो-नीति/a-16864564)>

<<https://books.google.co.in/books?isbn=0230327877>>

<<https://books.google.co.in/books?id=2G7p1ih8UKoC>>

12.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. सार्क में भारत की भूमिका पर निबंध लिखिए।
2. भारत में 'पूर्वी क्षेत्र' को लेकर अपनी विदेश नीति में परिवर्तन किया?
3. आसियान में भारत के क्या हित हैं, वह आसियान की ओर क्यों आकर्षितमुख है?

इकाई 13 क्षेत्रीय संगठन: सार्क, आसियान , यूरोपियन यूनियन

इकाई की रूपरेखा

- 13.1 प्रस्तावना
- 13.2 उद्देश्य
- 13.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- 13.4 क्षेत्रवाद अर्थ एवं प्रकृति
- 13.5 सार्क
 - 13.5.1 स्थापना, उद्देश्य, सदस्य देश
 - 13.5.2 प्रमुख सम्मेलन और समझौते
 - 13.5.3 सार्क के विशेष निकाय एवं उपलब्धियां
 - 13.5.4 सार्क के समक्ष प्रमुख चुनौतियाँ
 - 13.5.5 सार्क की प्रासंगिकता और भविष्य
- 13.6 आसियान
 - 13.6.1 आसियान: गठन एवं संरचना
 - 13.6.2 आसियान के प्रमुख उद्देश्य एवं सिद्धांत
 - 13.6.3 आसियान के विशेष निकाय, संस्थागत ढाँचा एवं प्रमुख मंच
 - 13.6.4 आसियान की प्रासंगिकता एवं चुनौतियाँ
- 13.7 यूरोपीय संघ
 - 13.7.1 यूरोपीय संघ का उद्भव एवं परिचय
 - 13.7.2 यूरोपीय संघ की प्रमुख संधियाँ
 - 13.7.3 यूरोपीय संघ के संगठन
- 13.8 अभ्यास प्रश्न
- 13.9 शब्दावली
- 13.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 13.11 संदर्भ ग्रंथ
- 13.12 सहायक - उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 13.13 निबंधात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

क्षेत्रीय संगठन क्या हैं?

विऔपनिवेशीकरण की प्रक्रिया और द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका के पश्चात विश्व पटल पर उभरते नए देशों ने ऐसी अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों की पुनरावृत्ति से बचने के लिए सामूहिक प्रयासों की अनिवार्यता महसूस हुई। इन नव स्वतंत्र देशों ने परस्पर सहयोग, सामूहिक विकास और क्षेत्रीय स्थिरता को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से विविध क्षेत्रीय संगठनों की स्थापना की। इन संगठनों का निर्माण मुख्यतः भौगोलिक निकटता, ऐतिहासिक-सांस्कृतिक समानताओं एवं परस्पर हितों के आधार पर किया गया। क्षेत्रीय संगठनों के कुछ प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं: 1. मानवाधिकारों और लोकतांत्रिक मूल्यों को बढ़ावा देना, 2. सदस्य राष्ट्रों की संप्रभुता, एकता एवं सुरक्षा की रक्षा करना, 3. आर्थिक विकास हेतु सामूहिक प्रयासों का समन्वय, 4. सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण 5. पर्यावरणीय चुनौतियों का संयुक्त रूप से समाधान करना आदि।

इस प्रकार, क्षेत्रीय संगठन वैश्विक शासन प्रणाली में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, जो न केवल आर्थिक और राजनीतिक सहयोग को सुदृढ़ करते हैं, बल्कि क्षेत्रीय एकजुटता एवं शांति को भी प्रोत्साहित करते हैं।

13.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम

- क्षेत्रीय संगठनों एवं क्षेत्रवाद के विकास, प्रकृति उनके महत्व को समझ सकेंगे
- SAARC, ASEAN और EU की संरचना, कार्यप्रणाली और उपलब्धियों को जान सकेंगे
- यूरोपीय संघ और उसके संगठन में सहायक तत्वों का अध्ययन कर सकेंगे।
- यूरोपीय संघ में कार्यरत संगठनों का अध्ययन कर सकेंगे।

13.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

क्षेत्रीय संगठन को समझने से पहले यदि हम 'क्षेत्र' को परिभाषित करें, तो प्रथम दृष्टि में यह एक भौगोलिक इकाई के रूप में समझ आता है, जैसे—एशिया, अफ्रीका आदि। किन्तु यदि हम विभिन्न क्षेत्रीय संगठनों पर दृष्टि डालें, तो पाते हैं कि कुछ संगठन उपमहाद्वीपीय हैं—जैसे सार्क और आसियान; कुछ महाद्वीपीय—जैसे अफ्रीकन यूनियन, यूरोपीय संघ, तथा OAS (Organization

of American States); और कुछ अंतर-महाद्वीपीय संगठन भी विद्यमान हैं—जैसे BRICS, SCO, G20, NAM आदि।

वास्तव में, क्षेत्र मुख्यतः एक सामाजिक एवं राजनीतिक रूप से निर्मित इकाई होता है। राष्ट्र की भाँति, क्षेत्र भी एक कल्पित समुदाय (imagined community) है (एंडरसन, 1983)। क्षेत्र राजनीतिक, आर्थिक, भौगोलिक अथवा सांस्कृतिक आधारों पर निर्मित होते हैं, जो अंतःहीन एवं तरल स्वरूप रखते हैं। ये समयानुसार आपसी सहयोग, साझा हितों, उद्देश्यों तथा नए सदस्य देशों के जुड़ने के साथ स्वयं को पुनर्परिभाषित एवं पुनर्गठित करते रहते हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के पहले दो दशकों में 1945 में अरब लीग, 1947 में प्रशांत समुदाय, 1948 में अमेरिकी राज्यों का संगठन (OAS), 1949 में यूरोप की परिषद (Council of Europe), 1949 में उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (NATO), 1951 में यूरोपीय संघ (EU), 1951 में ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका सुरक्षा संधि (ANZUS), 1952 में नॉर्डिक परिषद, 1954 में पश्चिमी यूरोपीय संघ, 1963 में अफ्रीकी एकता संगठन (अब अफ्रीकी संघ) और 1967 में दक्षिण पूर्व एशियाई राष्ट्रों का संगठन आसियान का उदय हुआ।

अंततः, हम कह सकते हैं कि क्षेत्रवाद अपने प्राथमिक क्षेत्रों के आधार पर विभिन्न रूपों में प्रकट होता है, जिन पर सदस्य देश सहयोग और सह-अस्तित्व का चयन करते हैं।

13.4 क्षेत्रवाद अर्थ एवं प्रकृति

क्षेत्रवाद की परिभाषा- सैद्धांतिक स्तर(Theoretical Level) पर हम देखें तो क्षेत्रवाद वह सिद्धांत अथवा व्यवहार है, जिसके अंतर्गत एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के भीतर स्थित विभिन्न राज्य अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कार्यकलापों में आपसी सहयोग, समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित करते हैं, ताकि क्षेत्रीय हितों की रक्षा और साझा विकास सुनिश्चित किया जा सके। संस्थागत स्तर(Institutional Level) पर क्षेत्रवाद में वह मानदंड, नियम, औपचारिक ढांचे विकसित होते हैं जिनके माध्यम से सदस्य देशों के मध्य आपसी सहयोग एवं संयोजन सुनिश्चित किया जाता है। भावात्मक स्तर (Affective Level) पर जब लोगों की निष्ठा एवं राजनीतिक पहचान अपने देश से हटकर क्षेत्रीय स्तर पर केंद्रित होने लगती है। उदाहरणतः जब जर्मनी के नागरिक स्वयं को जर्मन कहने से पहले यूरोपीय होना महसूस करते हैं।

क्षेत्रीय एकीकरण के विभिन्न स्तर पाए जाते हैं जैसे पहला सरकारों के बीच सहयोग (इंटरगवर्नमेंटलिज्म) इसमें स्वतंत्र देश अपने संप्रभु अधिकार बनाए रखते हैं पर कुछ मामलों में आपसी सहयोग एवं सर्वसम्मति द्वारा निर्णय लिए जाते हैं, इसमें कोई भी केंद्रीय शक्ति या संस्था का अभाव होता है उदाहरण के तौर पर सार्क। दूसरा अधिराष्ट्रीयता (सुप्रा नेशनलिज्म) जिसमें सभी राष्ट्र अपने कुछ अधिकारों को किसी केंद्रीय संस्था को हस्तांतरित कर देते हैं। उस संस्था के निर्णयों के माध्यम से सभी सदस्य देश संचालित किए जाते हैं भले ही कई बार उसमें सभी की सहमति ना हो।

उदाहरण के तौर पर यूरोपियन यूनियन जो नीतियां बनाता है एवं सभी सदस्य देशों को संचालित करता है।

क्षेत्रवाद मुख्यतः तीन श्रेणियों में परिभाषित किया जाता है आर्थिक क्षेत्रवाद, सुरक्षात्मक क्षेत्रवाद और राजनीतिक क्षेत्रवाद।

1. **आर्थिक क्षेत्रवाद (Economic Regionalism)** का मुख्य उद्देश्य सदस्य देशों की अर्थव्यवस्थाओं को आपसी सहयोग के माध्यम से सशक्त बनाना और अधिक से अधिक आर्थिक अवसरों की खोज करना होता है। यह क्षेत्रीय एकीकरण मुख्यतः मुक्त व्यापार क्षेत्र, कस्टम यूनियन, और साझा बाजार जैसी संरचनाओं के निर्माण के माध्यम से सम्पन्नता को बढ़ावा देने का कार्य करता है। इस प्रकार के क्षेत्रीय प्रयासों का उद्देश्य आंतरिक व्यापार बाधाओं को समाप्त करना, निवेश को प्रोत्साहित करना, तथा संसाधनों का कुशलतम उपयोग करना होता है, जिससे सदस्य राष्ट्र वैश्विक प्रतिस्पर्धा में अधिक सक्षम बन सकें। एक महत्वपूर्ण उदाहरण विश्व व्यापार संगठन (WTO) है।
2. **सुरक्षात्मक क्षेत्रवाद (Security Regionalism)** का तात्पर्य उन क्षेत्रीय व्यवस्थाओं से है, जिनका उद्देश्य संभावित बाहरी शत्रु या किसी सामूहिक सुरक्षा संकट से बचाव सुनिश्चित करना होता है। इस प्रकार का क्षेत्रीय एकीकरण पारंपरिक सैन्य गठबंधनों से भिन्न होते हुए सुरक्षा समुदाय (Security Community) की अवधारणा को जन्म देता है, जिसे सर्वप्रथम कार्ल ड्युएश (Karl Deutsch) ने प्रतिपादित किया था। सुरक्षा समुदाय दो प्रकार से कार्य करता है: **a)** सहयोग आधारित शांति की स्थापना: जब क्षेत्रीय सदस्य देशों के मध्य परस्पर सहयोग और विशेषतः आर्थिक निर्भरता इतनी गहन हो जाती है कि युद्ध की कल्पना भी असंभव प्रतीत होती है। उदाहरणस्वरूप, 1952 में यूरोपीय कोयला और इस्पात समुदाय (ECSC) तथा 1958 में यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) की स्थापना का उद्देश्य फ्रांस और जर्मनी के बीच भविष्य में संभावित संघर्ष को रोकना था। इस मॉडल ने युद्ध की संभावना को कम करते हुए स्थायी शांति की दिशा में मार्ग प्रशस्त किया। **b)** बाहरी साझा शत्रु से रक्षा: जब क्षेत्रीय संगठन किसी बाहरी शक्ति या विचारधारा के विस्तार से स्वयं की रक्षा के लिए गठित होते हैं।
उदाहरणस्वरूप, यूरोपीय संघ (EU) के एकीकरण को शीत युद्ध काल में सोवियत संघ के विस्तारवादी रुख से सुरक्षा पाने की रणनीति के रूप में देखा गया। इसी प्रकार, आसियान

(ASEAN) के प्रारंभिक सदस्यों का एक उद्देश्य क्षेत्र में स्थायित्व बनाए रखना और साम्यवाद के प्रसार को रोकना भी था।

3. **राजनीतिक क्षेत्रवाद (Political Regionalism)** का तात्पर्य उन प्रयासों से है, जिनके माध्यम से विभिन्न राष्ट्र एक विशिष्ट क्षेत्र में साझा मूल्यों, परंपराओं और राजनीतिक प्रथाओं को संरक्षित करने एवं उनका प्रचार-प्रसार करने का कार्य करते हैं। ऐसे प्रयास न केवल क्षेत्रीय एकजुटता को सुदृढ़ करते हैं, बल्कि अंतरराष्ट्रीय मंच पर संबंधित राष्ट्रों की छवि और स्वीकृति को भी सशक्त बनाते हैं। उदाहरणस्वरूप, 1949 में यूरोपीय महाद्वीप में 'यूरोप की परिषद' (Council of Europe) की स्थापना एक सामान्य लोकतांत्रिक और विधिक क्षेत्र के निर्माण हेतु की गई थी, जिसका मुख्य उद्देश्य मानवाधिकारों, लोकतंत्र, और कानून के शासन के प्रति सम्मान सुनिश्चित करना था।

क्षेत्रीय एकीकरण विशिष्ट ऐतिहासिक एवं भू-राजनीतिक कारकों पर भी निर्भर रहा है। उदाहरणस्वरूप, अफ्रीका और एशिया में उपनिवेशवाद से मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात नवस्वतंत्र राष्ट्रों ने क्षेत्रवाद को इस रूप में अपनाया कि वह उनके बीच आपसी संबंधों को स्थिर करने तथा पूर्व औपनिवेशिक शक्तियों के साथ अपने संबंधों को पुनर्परिभाषित करने का एक माध्यम बन सके। इसके अतिरिक्त, व्यापक स्तर पर व्याप्त आर्थिक पिछड़ेपन और विकास की धीमी गति ने अनेक देशों को इस दिशा में प्रेरित किया कि वे क्षेत्रीय सहयोग के माध्यम से आर्थिक वृद्धि को प्रोत्साहित करें और वैश्विक प्रतिस्पर्धा के बढ़ते दबाव से सामूहिक रूप से निपट सकें।

इन प्रवृत्तियों ने यह स्पष्ट किया है कि क्षेत्रवाद और वैश्वीकरण के मध्य जटिल, और कई बार परस्पर विरोधाभासी, संबंध विद्यमान हैं। जहाँ एक ओर वैश्वीकरण ने आर्थिक खुलापन और अंतरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा दिया, वहीं दूसरी ओर क्षेत्रवाद ने सामूहिक संरक्षणवाद और क्षेत्रीय पहचानों को भी बल प्रदान किया।

13.5 सार्क

13.5.1 स्थापना, उद्देश्य, सदस्य देश

दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ (South Asian Association for Regional Cooperation – SAARC) की अवधारणा सर्वप्रथम वर्ष 1980 में बांग्लादेश के तत्कालीन राष्ट्रपति ज़िया-उर-रहमान द्वारा प्रस्तुत की गई। उनका उद्देश्य था कि दक्षिण एशिया के राष्ट्र आपसी सहयोग के माध्यम से क्षेत्रीय शांति, स्थिरता और आर्थिक विकास को सुनिश्चित करें। इस विचार को औपचारिक स्वरूप 8 दिसंबर 1985 को बांग्लादेश की राजधानी ढाका में मिला, जहाँ बांग्लादेश,

भूटान, भारत, मालदीव, नेपाल, पाकिस्तान और श्रीलंका—इन सात देशों ने मिलकर सार्क की स्थापना की। बाद में, वर्ष 2007 में अफगानिस्तान को आठवें सदस्य के रूप में शामिल किया गया सार्क (SAARC) के प्रमुख उद्देश्य -

1. **क्षेत्रीय सहयोग और शांति का संवर्धन** - दक्षिण एशियाई देशों के बीच आपसी सहयोग, संवाद और विश्वास को बढ़ाकर क्षेत्र में शांति, स्थायित्व और पारस्परिक समझ का विकास करना।
2. **आर्थिक विकास और एकीकरण को बढ़ावा देना** - मुक्त व्यापार, संयुक्त परियोजनाओं और क्षेत्रीय आर्थिक नीतियों के माध्यम से आर्थिक वृद्धि, आत्मनिर्भरता और एकीकरण को प्रोत्साहित करना।
3. **सामाजिक कल्याण और जीवन स्तर में सुधार** - गरीबी उन्मूलन, शिक्षा, स्वास्थ्य और सांस्कृतिक विकास के माध्यम से लोगों के जीवन की गुणवत्ता में सुधार करना।
4. **सांस्कृतिक और सामाजिक आदान-प्रदान का विस्तार** - साझा सांस्कृतिक पहचान को मजबूत करते हुए जनसंपर्क और विविधता में एकता को बढ़ावा देना।
5. **प्रौद्योगिकी, विज्ञान और पर्यावरणीय चुनौतियों पर सहयोग** - जलवायु परिवर्तन, आपदा प्रबंधन, ऊर्जा सुरक्षा और वैज्ञानिक अनुसंधान जैसे क्षेत्रीय मुद्दों पर सामूहिक प्रयास करना।
6. **अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का विस्तार** - अन्य विकासशील देशों और वैश्विक संगठनों के साथ साझेदारी स्थापित करना ताकि वैश्विक स्तर पर दक्षिण एशिया की भूमिका को सुदृढ़ किया जा सके।

तकनीकी, वित्तीय और विकासात्मक सहयोग प्रदान करने हेतु कुछ अंतर्राष्ट्रीय संगठन एवं देश पर्यवेक्षक के रूप में भी इससे जुड़े हुए हैं - ऑस्ट्रेलिया, चीन, यूरोपीय संघ, ईरान, जापान, दक्षिण कोरिया, संयुक्त राज्य अमेरिका, म्यांमार, मोरीसस।

13.5.2 प्रमुख सम्मेलन और समझौते

SAARC शिखर सम्मेलन सामान्यतः हर दो वर्ष आयोजित किए जाते हैं। इन सम्मेलनों की मेजबानी सदस्य देशों द्वारा अंग्रेजी वर्णमाला के अनुसार की जाती है। हालांकि यह क्रम राजनीतिक परिस्थितियों के कारण कई बार बाधित भी हुआ है। 2016 में इस्लामाबाद में प्रस्तावित 19वां सम्मेलन पाकिस्तान समर्थित उरी आतंकवादी हमले के विरोध में भारत समेत सभी (नेपाल को छोड़कर) देशों के बहिष्कार के कारण स्थगित हो गया। प्रमुख शिखर सम्मेलन और उपलब्धियां:

क्रम	वर्ष	स्थान	मुख्य उपलब्धियाँ
1	1985	ढाका (बांग्लादेश)	SAARC की औपचारिक स्थापना
2	1986	बेंगलुरु (भारत)	सार्क सचिवालय को काठमांडू (नेपाल) में स्थापित करने का निर्णय
7	1993	ढाका (बांग्लादेश)	SAPTA को स्वीकृति प्रदान की गई
8	1995	नई दिल्ली (भारत)	SAPTA को लागू करने की सहमति, 1995 को "दक्षेस गरीबी उन्मूलन वर्ष" और 1996 को "दक्षेस साक्षरता वर्ष" घोषित किया गया।
12	2004	इस्लामाबाद (पाकिस्तान)	SAFTA समझौते पर हस्ताक्षर
14	2007	नई दिल्ली (भारत)	SAU की घोषणा, SDF पर सहमति, अफगानिस्तान को सार्क में शामिल करने की संयुक्त घोषणा।
17	2011	आदू/अतोल द्वीप, मालदीव	थीम: "सेतु निर्माण (Building Bridges)"
18	2014	काठमांडू (नेपाल)	थीम: "शांति व समृद्धि के लिए मजबूत एकीकरण" (Deeper Integration for Peace and Prosperity), संपर्क और ऊर्जा सहयोग प्रस्तावित, वर्ष 2016 "दक्षेस सांस्कृतिक विरासत वर्ष" घोषित।

भारत ने अब तक तीन सम्मेलनों की मेजबानी की है- 1986 – बेंगलुरु, 1995 – नई दिल्ली, 2007 – नई दिल्ली

13.5.3 सार्क के विशेष निकाय एवं उपलब्धियां

1. **सार्क विकास कोष (SDF - SAARC Development Fund)** - सार्क विकास कोष की स्थापना वर्ष 2010 में थिम्पू, भूटान में सोलहवें सार्क शिखर सम्मेलन के दौरान की गई। इसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक, आर्थिक व अवसंरचनात्मक विकास से संबंधित क्षेत्रीय परियोजनाओं को वित्तपोषण प्रदान करना है, विशेष रूप से गरीबी उन्मूलन और सामाजिक

सहयोग जैसे क्षेत्रों में। इसका संचालन सदस्य देशों के वित्त मंत्रालयों के प्रतिनिधियों से बने बोर्ड द्वारा किया जाता है, जिसकी निगरानी गवर्निंग काउंसिल करती है। SDF के तीन प्रमुख कार्यक्षेत्र हैं: सामाजिक, आर्थिक और अवसंरचनात्मक विकास।

2. **दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय मानक संगठन (SARSO - South Asian Regional Standards Organization)** - इसकी स्थापना सार्क देशों के बीच मानकीकरण और अनुरूपता मूल्यांकन के क्षेत्र में समन्वय और सहयोग को बढ़ाने हेतु की गई। इसका सचिवालय ढाका, बांग्लादेश में स्थित है। SARSO पर समझौता 25 अगस्त, 2011 से प्रभावी हुआ और यह संगठन क्षेत्रीय व्यापार को सुगम बनाने के लिए साझा मानकों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
3. **दक्षिण एशिया विश्वविद्यालय (South Asian University - SAU)** - दक्षिण एशिया विश्वविद्यालय (SAU) एक अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय है, जिसकी स्थापना भारत के प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह द्वारा 2005 में 13वें सार्क शिखर सम्मेलन में प्रस्तावित की गई थी। इसका उद्देश्य सार्क देशों के छात्रों को उच्च गुणवत्ता की शिक्षा और शोध का अवसर प्रदान करना है। यह विश्वविद्यालय नई दिल्ली, भारत में स्थित है और अगस्त 2010 से कार्यरत है। 4 अप्रैल 2007 को 14वें सार्क शिखर सम्मेलन में इसके लिए अंतर-मंत्रालयी समझौता हुआ था। SAU की डिग्रियाँ सदस्य देशों के राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों के समकक्ष मानी जाती हैं। इसकी संकल्पना बांग्लादेश के विद्वान प्रो. गौहर रिजवी ने तैयार की थी, और बांग्लादेश में SAU का एक परियोजना कार्यालय भी स्थापित है।
4. **सार्क मध्यस्थता परिषद् (SARCO - SAARC Arbitration Council)** - सार्क मध्यस्थता परिषद् (SARCO) एक अंतरसरकारी निकाय है, जिसकी स्थापना पाकिस्तान में की गई है। इसका उद्देश्य सार्क क्षेत्र में वाणिज्यिक, औद्योगिक, व्यापारिक, बैंकिंग, निवेश तथा अन्य संबंधित विवादों के निष्पक्ष और कुशल निपटान के लिए एक कानूनी मंच प्रदान करना है। SARCO के लिए समझौते पर 2005 में ढाका में तेरहवें सार्क शिखर सम्मेलन में हस्ताक्षर किए गए, और यह जुलाई 2007 से प्रभावी हुआ।
5. **सार्क अधिमान्य व्यापार व्यवस्था (SAPTA) South Asian Preferential Trade Arrangement** - इसकी शुरुआत 1993 में हुई थी, जिसका उद्देश्य सदस्य देशों के बीच व्यापार को प्रोत्साहित करना था। यह श्रीलंका की पहल पर 1991 के कोलम्बो

सम्मेलन में प्रस्तावित हुआ था और व्यापार उदारीकरण की दिशा में पहला कदम था। बाद में 2006 में SAPTA की जगह SAFTA ने ली।

6. **दक्षिण एशियाई मुक्त व्यापार क्षेत्र SAFTA (South Asian Free Trade Area)**
- इसे 2004 के इस्लामाबाद शिखर सम्मेलन में अपनाया गया। यह एक मुक्त व्यापार क्षेत्र स्थापित करता है, जिससे क्षेत्रीय व्यापार को बढ़ावा मिला और व्यापार घाटा कम करने में सहायता मिली।
7. **सेवाओं में व्यापार पर सार्क समझौता/SAARC Agreement on Trade in Services (SATIS)** – इसे 2012 में लागू किया गया, जिसका उद्देश्य सेवा क्षेत्र में व्यापार उदारीकरण और अंतर-क्षेत्रीय निवेश को प्रोत्साहन देना है। मुख्या रूप से कम विकसित देश अफगानिस्तान, बांग्लादेश, भूटान, मालदीव और नेपाल को विशेष और विभेदक उपचार दिया गया है। यह समझौता GATS-Plus के सकारात्मक सूची दृष्टिकोण पर आधारित है।
8. **मुद्रा अदला-बदली व्यवस्था (Currency Swap Arrangement):** वर्ष 2019 में भारत ने सार्क देशों के लिए 400 मिलियन अमेरिकी डॉलर की स्थायी मुद्रा विनिमय सुविधा (Standby Swap) को स्वीकृति प्रदान की, जिसका उद्देश्य सदस्य देशों को भुगतान संतुलन संकट से निपटने में सहायता प्रदान करना था।
9. **राष्ट्रीय ज्ञान नेटवर्क (National Knowledge Network – NKN):** भारत द्वारा श्रीलंका, बांग्लादेश और भूटान को इससे जोड़ा गया, जिसका लक्ष्य उच्च शिक्षा और अनुसंधान को बढ़ावा देना है।
10. **दक्षिण एशिया सेटेलाइट South Asian Satellite (SAS):** भारत द्वारा 2017 में प्रक्षेपित यह उपग्रह संचार, शिक्षा, टेलीमेडिसिन और आपदा प्रबंधन सेवाएं उपलब्ध कराता है, पकिस्तान इसमें शामिल नहीं है इसलिए इसका नाम दक्षिण एशिया सेटेलाइट रखा गया।
11. **सार्क आपदा प्रबंधन केंद्र (SDMC) -** नई दिल्ली, भारत में सार्क आपदा प्रबंधन केंद्र (SAARC Disaster Management Centre – SDMC) को नवंबर 2016 में पुनः स्थापित किया गया ताकि यह एक विस्तृत दायित्व के साथ कार्य कर सके। इस प्रक्रिया में चार पूर्ववर्ती सार्क केंद्रों का एकीकरण किया गया, जो निम्नलिखित हैं: सार्क आपदा

प्रबंधन केंद्र (SDMC – नई दिल्ली, भारत) , सार्क मौसम विज्ञान अनुसंधान केंद्र (SMRC – ढाका, बांग्लादेश) , सार्क वानिकी केंद्र (SFC – थिम्फू, भूटान) , सार्क तटीय क्षेत्र प्रबंधन केंद्र (SCZMC – माले, मालदीव) ।

12. **सार्क सचिवालय** SAARC Secretariat: मुख्यालय की स्थापना 17 जनवरी, 1987 को नेपाल की राजधानी काठमांडू में की गई थी। यह सचिवालय संगठन की विभिन्न गतिविधियों के समन्वय और निगरानी की प्रमुख संस्था है। महासचिव इसका नेतृत्व करते हैं। सार्क के पहले महासचिव अब्दुल अहसान थे, जो बांग्लादेश से थे। भारत से अब तक दो व्यक्ति सार्क के महासचिव पद पर नियुक्त हो चुके हैं- श्रीकांत किशोर भार्गव (1989 से 1991) और शीलकान्त शर्मा (2008 से 2011 तक)।

1989 से क्षेत्रीय सहयोग को मजबूत करने के लिए निम्न केन्द्र भी स्थापित किए गए:-

सार्क के क्षेत्रीय कार्यालय (Regional Centers)		मुख्यालय
1.	सार्क सांस्कृतिक केन्द्र (SAARC Cultural Centre - SCC)	कोलम्बो (श्रीलंका)
2.	सार्क ऊर्जा केन्द्र (SAARC Energy Centre - SEC)	इस्लामाबाद (पाकिस्तान)
3.	सार्क तपेदिक और एचआईवी / एडस केन्द्र (SAARC Tuberculosis and HIV/AIDS Center STAC)	काठमाण्डु (नेपाल)
4.	सार्क आपदा प्रबंधन केन्द्र (SAARC Disaster Management Centre -SDMC)	नई दिल्ली (भारत)
5.	सार्क कृषि केन्द्र (SAARC Agriculture Centre - SAC)	ढाका (बांग्लादेश)
6.	SAARC Information Center	काठमाण्डु (नेपाल)
7.	SAARC Human Resources Development Centre	इस्लामाबाद (पाकिस्तान)

13.5.4 सार्क के समक्ष प्रमुख चुनौतियाँ

1. **भारत-पाकिस्तान के मध्य राजनीतिक तनाव** - कश्मीर, सीमा पार आतंकवाद, और ऐतिहासिक विवादों के कारण इन दोनों देशों के संबंधों में लगातार तनाव रहा है। भारत ने

2016 में पाकिस्तान द्वारा आतंकवाद पर सहयोग न करने के कारण 19वें सार्क शिखर सम्मेलन का बहिष्कार किया, जिससे वह सम्मेलन स्थगित हो गया। जिस कारण भारत ने BIMSTEC और BBIN जैसे वैकल्पिक क्षेत्रीय मंचों को प्राथमिकता दी, जिससे सार्क की प्रासंगिकता कम हुई।

2. **संस्थागत ढांचे की कमजोरी-** सर्वसम्मति के सिद्धांत पर आधारित निर्णय प्रणाली धीमी और अवरुद्ध हो जाती है, विशेषतः जब कोई सदस्य आपत्ति करता है। पाकिस्तान ने SAARC मोटर व्हीकल्स समझौता और रेलवे समझौता जैसे प्रस्तावों को बार-बार रोका। पर्यवेक्षक देशों (जैसे चीन, EU, अमेरिका) की भूमिका स्पष्ट नहीं है, जिससे बाहरी समर्थन सीमित रहता है।
3. **आर्थिक विषमता एवं "बड़े भाई" सिंड्रोम-** भारत की विशाल अर्थव्यवस्था और प्रभुत्व के कारण छोटे सदस्य देश (जैसे नेपाल, भूटान, मालदीव) अक्सर असहज महसूस करते हैं। यह “बड़े भाई की मानसिकता” (Big Brother Syndrome) आपसी अविश्वास को जन्म देता है और सामूहिक प्रयासों को बाधित करता है। असमानुपातिक विकास और संसाधनों की असमान उपलब्धता भी दीर्घकालिक योजनाओं में बाधा बनती है।
4. **क्षेत्रीय व्यापार और आर्थिक एकीकरण की कमी -** SAFTA के बावजूद आंतरिक व्यापार केवल 5% के आसपास है, जबकि EU में 65% और ASEAN में 26% है। गैर-शुल्क बाधाएँ (Non-Tariff Barriers), कमजोर बुनियादी ढांचा और उत्पाद विविधता की कमी भी व्यापार को सीमित करती है।
5. **बुनियादी ढांचे और कनेक्टिविटी की कमी -** परिवहन, संचार और ऊर्जा संपर्क की सीमाएँ क्षेत्रीय एकीकरण को अवरुद्ध करती हैं। SAARC स्तर पर कई परियोजनाएँ शुरू होने के बावजूद क्रियान्वयन धीमा है।
6. **सदस्य देशों में राजनीतिक अस्थिरता -** पाकिस्तान, अफगानिस्तान, बांग्लादेश जैसे देशों में राजनीतिक अस्थिरता और कमजोर शासन व्यवस्था से क्षेत्रीय योजना प्रभावित होती है। इससे सहयोग की निरंतरता और दीर्घकालिक समझौते अस्थिर हो जाते हैं।
7. **अन्य क्षेत्रीय मंचों का उदय -** BIMSTEC, BBIN, और IORA जैसे संगठनों के उदय ने SAARC की प्रासंगिकता को चुनौती दी है। कई सदस्य देश अब वैकल्पिक मंचों पर अधिक सक्रिय हो गए हैं।

8. बाहरी शक्तियों का प्रभाव और भू-राजनीतिक हस्तक्षेप - चीन की बढ़ती उपस्थिति, विशेष रूप से BRI, CPEC, और श्रीलंका के हम्बनटोटा बंदरगाह जैसे निवेश SAARC के अंदरूनी संतुलन को प्रभावित करते हैं। कई छोटे देश अब भारत के बजाय चीन से आर्थिक एवं रणनीतिक सहयोग प्राप्त कर रहे हैं, जिससे क्षेत्रीय ध्रुवीकरण बढ़ता है।

13.5.5 सार्क की प्रासंगिकता और भविष्य

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विशेषज्ञों के अनुसार (SAARC) की भावी दिशा क्षेत्रीय सहयोग को पुनः सक्रिय करने पर केंद्रित होनी चाहिए। इसके लिए आर्थिक एकीकरण को प्राथमिकता दी जानी चाहिए, जैसे कि SATIS को लागू करना और SDF का विस्तार करना। राजनीतिक तनावों को कम करने के लिए ट्रैक टू (Track-II) कूटनीति और मध्यस्थता तंत्र को बढ़ावा देना आवश्यक है। उप-क्षेत्रीय मंच जैसे BBIN और BIMSTEC सार्क के उद्देश्यों को सहयोग से पूरा कर सकते हैं। आतंकवाद, साइबर सुरक्षा और आपदा प्रबंधन जैसे गैर-पारंपरिक खतरों से सामूहिक रूप से निपटने की आवश्यकता है। सार्क सचिवालय को स्वायत्तता और संसाधन देकर उसकी कार्यक्षमता बढ़ाई जा सकती है। निर्णय प्रक्रिया में बहुमत आधारित प्रणाली अपनाकर गतिरोध को दूर किया जा सकता है। युवाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिए छात्रवृत्तियाँ, विनिमय कार्यक्रम और दक्षिण एशियाई विश्वविद्यालय को सशक्त किया जाए। पारस्परिक विश्वास और राजनीतिक इच्छाशक्ति ही सार्क की सफलता की कुंजी है। यदि सदस्य देश अपने मतभेदों को दरकिनार कर साझा विकास को प्राथमिकता दें, तो सार्क एक प्रभावी क्षेत्रीय संगठन बन सकता है।

13.6 आसियान

13.6.1 आसियान: गठन एवं संरचना

दक्षिण-पूर्व एशियाई राष्ट्रों का संगठन आसियान (ASEAN - Association of South East Asian Nations) एक प्रभावशाली क्षेत्रीय संगठन है, जिसकी स्थापना 8 अगस्त 1967 को थाईलैण्ड की राजधानी बैंकॉक में की गई। इस संगठन का उद्देश्य क्षेत्रीय शांति, स्थिरता और आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देना है। इसके गठन से पूर्व क्षेत्र में दो प्रयास हुए: 1961 में ASEA (मलेशिया, फिलीपींस, थाईलैण्ड) और 1966 में ASPAC, जो 1975 में समाप्त हो गया। थाईलैण्ड के तत्कालीन विदेश मंत्री थानाट खोमान ने आसियान की संकल्पना दी, जिन्हें इसका संस्थापक पिता कहा जाता है। संगठन का नाम इंडोनेशिया के विदेश मंत्री एडम मलिक द्वारा सुझाया गया।

आसियान के पाँच संस्थापक सदस्य हैं: इंडोनेशिया, मलेशिया, फिलीपींस, सिंगापुर और थाईलैण्ड। बाद में इसमें ब्रुनेई (1984), वियतनाम (1995), म्यांमार (1997), लाओस (1997) और कंबोडिया (1999) जुड़े, जिससे वर्तमान में इसके 10 सदस्य देश हो गए हैं। संगठन का मुख्यालय जकार्ता (इंडोनेशिया) में स्थित है और 8 अगस्त को आसियान दिवस मनाया जाता है।

1976 में आसियान की पहली बैठक में बंधुत्व और सहयोग की संधि पर हस्ताक्षर किए गए। आसियान के 11 वार्ताकार राष्ट्र एवं संगठन हैं: ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, चीन, यूरोपीय संघ, भारत, जापान, दक्षिण कोरिया, न्यूजीलैंड, रूस, अमेरिका और संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP)।

आसियान का आदर्श वाक्य है: "एक दृष्टि, एक पहचान, एक समुदाय" (One Vision, One Identity, One Community), और इसकी नीति को **आसियान शैली** कहा जाता है – जो सहयोग, संवाद और टकराव से बचाव पर आधारित है। संगठन की सर्वोच्च संस्था शिखर सम्मेलन होती है, जिसमें सदस्य देशों के शीर्ष नेता भाग लेते हैं। इसके अंतर्गत मंत्री-स्तरीय बैठकें, स्थायी समिति, और आर्थिक एवं सामाजिक सहयोग समितियाँ कार्य करती हैं। महासचिव, जिसका कार्यकाल 5 वर्ष का होता है, संगठन के निर्णयों के क्रियान्वयन का उत्तरदायी होता है। आज, 662 मिलियन से अधिक जनसंख्या और विश्व की एक बड़ी अर्थव्यवस्था के साथ, आसियान एक प्रभावशाली वैश्विक शक्ति केंद्र बन चुका है।

13.6.2 आसियान के प्रमुख उद्देश्य एवं सिद्धांत

आसियान चार्टर के अनुच्छेद-1 में वर्णित उद्देश्यों का मुख्य उद्देश्य दक्षिण-पूर्व एशियाई क्षेत्र में शांति, सुरक्षा, स्थिरता और साझा समृद्धि को बढ़ावा देना है। संगठन परमाणु और सामूहिक विनाश के अन्य हथियारों से मुक्त क्षेत्र की स्थापना हेतु प्रतिबद्ध है, और यह अपने नागरिकों को एक न्यायपूर्ण, लोकतांत्रिक और सामंजस्यपूर्ण वातावरण में सुरक्षित जीवन देने का प्रयास करता है। यह एकल आर्थिक बाजार और उत्पादन आधार की स्थापना को प्रोत्साहित करता है, जिसमें वस्तुओं, सेवाओं, पूँजी और श्रमिकों की निर्बाध आवाजाही संभव हो। आसियान का लक्ष्य गरीबी उन्मूलन, शिक्षा, विज्ञान-प्रौद्योगिकी में सहयोग, सतत विकास, मानवाधिकारों की रक्षा और जन-उन्मुख शासन को सशक्त करना है। यह सदस्य देशों को समान अवसरों के साथ संवेदनशीलता, सांस्कृतिक विरासत की रक्षा, और आसियान की एकीकृत पहचान को मजबूत करने के लिए प्रेरित करता है।

आसियान चार्टर के अनुच्छेद-2 में उल्लिखित सिद्धांतों के अनुसार संगठन सभी सदस्य देशों की संप्रभुता, समानता, स्वतंत्रता और राष्ट्रीय पहचान का सम्मान करता है। इसमें

आक्रमण के त्याग, शांतिपूर्ण विवाद समाधान, बाहरी हस्तक्षेप से परहेज, और सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना निहित है। आसियान कानून के शासन, लोकतंत्र, सुशासन, मानवाधिकारों और सामाजिक न्याय को बढ़ावा देता है। यह अंतर्राष्ट्रीय कानून और संयुक्त राष्ट्र चार्टर के पालन को प्राथमिकता देता है। सदस्य देशों की सांस्कृतिक और धार्मिक विविधता को आदर के साथ अपनाकर 'विविधता में एकता' की भावना को मजबूती दी जाती है। इसके साथ ही, आसियान नियम आधारित क्षेत्रीय आर्थिक एकीकरण के लिए कार्य करता है और मुक्त व निष्पक्ष व्यापार को बढ़ावा देता है।

13.6.3 आसियान के विशेष निकाय, संस्थागत ढाँचा एवं प्रमुख मंच

- **आसियान राजनीतिक-सुरक्षा समुदाय (ASEAN Political-Security Community – APSC):** इसका उद्देश्य क्षेत्र में शांति, सुरक्षा, स्थिरता और न्यायपूर्ण, लोकतांत्रिक एवं सामंजस्यपूर्ण वातावरण की स्थापना करना है। यह सामूहिक सुरक्षा, आपसी विश्वास, और शांतिपूर्ण विवाद समाधान की दिशा में कार्य करता है।
- **आसियान आर्थिक समुदाय (ASEAN Economic Community – AEC):** AEC का लक्ष्य आर्थिक एकीकरण को साकार करना है। यह वस्तुओं, सेवाओं, पूंजी, निवेश और श्रम के मुक्त प्रवाह को प्रोत्साहित करता है।
- **आसियान सामाजिक-सांस्कृतिक समुदाय (ASEAN Socio-Cultural Community – ASCC):** ASCC का उद्देश्य आसियान नागरिकों की पूर्ण क्षमता के विकास को साकार करना है। यह शिक्षा, सामाजिक न्याय, सतत विकास, समानता, और सांस्कृतिक सहयोग को बढ़ावा देता है। 2015 में ASCC ब्लूप्रिंट 2025 को 27वें आसियान शिखर सम्मेलन (कुआलालंपुर) में अपनाया गया।
- **आसियान शिखर सम्मेलन (ASEAN Summit):** यह आसियान का सर्वोच्च नीति-निर्धारण निकाय है, जो वर्ष में दो बार बैठकों के माध्यम से क्षेत्रीय मुद्दों और दिशा-निर्देशों पर निर्णय लेता है। इसकी अध्यक्षता सदस्य देशों के वार्षिक घूर्णन आधार पर होती है। आसियान का पहला शिखर सम्मलेन 23-24 फ़रवरी, 1976 को बाली (इंडोनेशिया) में हुआ।
- **आसियान समन्वय परिषद (ASEAN Coordinating Council – ACC):** यह परिषद शिखर सम्मेलन में लिए गए निर्णयों और दस्तावेजों के विकास एवं कार्यान्वयन की

निगरानी करता है। यह तीन समुदाय परिषदों (APSC, AEC, ASCC) से इनपुट लेकर दस्तावेजों को अनुमोदन हेतु शिखर सम्मेलन में प्रस्तुत करता है।

- **आसियान सचिवालय (ASEAN Secretariat):** इसका मुख्यालय जकार्ता, इंडोनेशिया में है। यह सभी कार्यक्रमों का समन्वय, प्रबंधन तथा निर्णयों के कार्यान्वयन में सहायता करता है।
- **आसियान क्षेत्रीय फोरम (ASEAN Regional Forum – ARF):** इसकी स्थापना का निर्णय जुलाई 1993 में सिंगापुर में आयोजित 26वें आसियान मंत्री स्तरीय सम्मेलन में लिया गया और इसकी पहली बैठक 25 जुलाई 1994 को बैंकॉक में आयोजित हुई। वर्तमान में इसके 27 सदस्य हैं, जिनमें अमेरिका, भारत, चीन, जापान जैसे प्रमुख देश शामिल हैं। भारत वर्ष 1996 में इस मंच का सदस्य बना। ARF की स्थापना का उद्देश्य एशिया-प्रशांत क्षेत्र में राजनीतिक और सुरक्षा मुद्दों पर साझा हितों व चिंताओं को ध्यान में रखते हुए रचनात्मक संवाद और परामर्श को बढ़ावा देना है। जुलाई 1996 में ARF ने भागीदारी के लिए चार मानदंड निर्धारित किए: प्रतिबद्धता (Commitment), प्रासंगिकता (Relevance), क्रमिक विस्तार (Gradual Expansion), और परामर्श (Consultations)।
- **आसियान प्लस थ्री (ASEAN Plus Three - APT) -** एक परामर्श और सहयोग समूह है, जिसमें आसियान के दस सदस्य देशों के साथ-साथ चीन, जापान और दक्षिण कोरिया शामिल हैं। इसकी शुरुआत दिसंबर 1997 में हुई थी, जबकि इसे औपचारिक रूप से वर्ष 1999 में मनीला शिखर सम्मेलन के दौरान संस्थागत रूप प्रदान किया गया। यह मंच क्षेत्रीय सहयोग के सबसे व्यापक ढांचों में से एक है, जो राजनीतिक-सुरक्षा, व्यापार एवं निवेश, वित्त, ऊर्जा, पर्यटन, कृषि एवं वानिकी, पर्यावरण, शिक्षा, स्वास्थ्य, संस्कृति और कला जैसे अनेक क्षेत्रों में सक्रिय सहयोग को बढ़ावा देता है।
- **पूर्वी एशिया शिखर सम्मेलन (EAS) -** यह एक प्रमुख मंच है जिसकी शुरुआत 14 दिसंबर 2005 को मलेशिया के कुआलालंपुर में आयोजित पहले सम्मेलन से हुई। इसका उद्देश्य क्षेत्रीय शांति, स्थिरता और समृद्धि को बढ़ावा देना है, और इसका आदर्श वाक्य है —“शांति, स्थिरता और समृद्धि को बढ़ावा” (“Promoting Peace, Stability and

Prosperity)।” प्रारंभ में इसमें 16 देश शामिल थे — आसियान के दस सदस्य, और ऑस्ट्रेलिया, चीन, भारत, जापान, दक्षिण कोरिया तथा न्यूजीलैंड। बाद में अमेरिका और रूस ने 2011 में बाली (इंडोनेशिया) में आयोजित छठे EAS में भाग लेकर इस मंच को ASEAN+8 यानी कुल 18 सदस्यीय समूह बना दिया।

- **ASEAN + 6** – इसमें ASEAN + 3 (चीन, जापान और दक्षिण कोरिया), ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, भारत देश है। ASEAN+6 के अंतर्गत क्षेत्रीय व्यापक आर्थिक भागीदारी (RCEP) एक प्रस्तावित मुक्त व्यापार समझौता (FTA) है, इसका उद्देश्य सदस्य देशों के बीच वस्तुओं, सेवाओं, निवेश, मानव संसाधन, और बौद्धिक संपदा अधिकार जैसे क्षेत्रों में व्यापार को बढ़ावा देना था। RCEP की परिकल्पना वर्ष 2012 में कंबोडिया में हुई ASEAN शिखर सम्मेलन में की गई थी, और इसकी प्रथम बैठक नवंबर 2017 में मनीला (फिलीपींस) में आयोजित हुई। हालांकि, भारत ने 4 नवंबर 2019 को प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी द्वारा बैंकॉक में RCEP से बाहर होने की घोषणा की। भारत ने RCEP से बाहर रहने का निर्णय मुख्यतः चीन से सस्ते आयात बढ़ने की आशंका और ASEAN देशों के साथ व्यापार असंतुलन, ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड से डेयरी आयात, बौद्धिक संपदा के कठोर नियम, और सेवाओं के क्षेत्र में बाजार पहुंच न मिलना भी प्रमुख चिंताएं थीं। इन कारणों से भारत ने अपने घरेलू उद्योग और रणनीतिक हितों की रक्षा के लिए समझौते में शामिल न होने का फैसला किया।
- **ASEM (एशिया-यूरोप बैठक)** - एशिया-यूरोप बैठक (ASEM) की स्थापना 1996 में एशिया और यूरोप के बीच संवाद व सहयोग बढ़ाने के लिए की गई थी। यह एक अनौपचारिक बहुपक्षीय मंच है, जिसमें वर्तमान में 53 साझेदार (51 देश, EU और ASEAN) शामिल हैं। इसका उद्देश्य राजनीतिक संवाद को बढ़ावा देना, आर्थिक सहयोग को मजबूत करना, और वैश्विक चुनौतियों जैसे जलवायु परिवर्तन, आतंकवाद, साइबर सुरक्षा व प्रवासन आदि पर संयुक्त रूप से विचार करना है।
- **ASEAN +1** - आसियान प्लस वन उन देशों को सम्बोधित करता है जो आसियान के साथ मुक्त व्यापार समझौता (FTA) रखते हैं जैसे आसियान – हांगकांग, आसियान-भारत।

निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया: आसियान में निर्णय परामर्श और सर्वसम्मति से लिए जाते हैं। हालाँकि, ASEAN-एक्स सिद्धांत के अंतर्गत लचीलेपन की नीति अपनाई गई है, जिसमें यदि कुछ देश तैयार हों, तो वे आगे बढ़ सकते हैं, जबकि अन्य देश अपने समय के अनुसार कार्यान्वयन कर सकते हैं।

इस समन्वित ढाँचे के माध्यम से आसियान अपने लक्ष्यों की दिशा में संगठित, समावेशी और प्रभावशाली ढंग से आगे बढ़ता है।

13.6.4 आसियान की प्रासंगिकता एवं चुनौतियाँ

आसियान (ASEAN) आज वैश्विक स्तर पर एक प्रभावशाली क्षेत्रीय संगठन बन चुका है, जिसकी प्रासंगिकता इसके बढ़ते आर्थिक सहयोग, मुक्त व्यापार समझौतों और एशिया-प्रशांत क्षेत्र में गहराते रिश्तों से सिद्ध होती है। भारत की "एक्ट ईस्ट पॉलिसी", चीन-आसियान मुक्त व्यापार क्षेत्र, और अंतर-क्षेत्रीय व्यापार की तेजी से वृद्धि इसकी सफलता के उदाहरण हैं। 1.9 अरब आबादी वाला यह दुनिया का तीसरा सबसे बड़ा मुक्त व्यापार क्षेत्र है, जिससे सदस्य देशों की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ हो रही है।

किन्तु इसके समक्ष कई चुनौतियाँ भी हैं—जैसे सदस्य देशों के बीच आर्थिक असमानता, मुद्रा संकट, सीमावर्ती विवाद, लोकतंत्र और मानवाधिकारों के प्रति उदासीनता तथा बाहरी महाशक्तियों के बढ़ते प्रभाव। संगठन के पास कोई केंद्रीय निर्णयकारी शक्ति नहीं है और आपसी विश्वास की कमी के कारण क्षेत्रीय एकता को खतरा बना रहता है। इसके अतिरिक्त, यूरोपीय संघ और APEC जैसे अन्य क्षेत्रीय संगठनों की तुलना में आसियान का संस्थागत ढाँचा अपेक्षाकृत कमजोर है।

13.7 यूरोपीय संघ

13.7.1 यूरोपीय संघ का उद्भव एवं परिचय

यूरोपीय संघ एक उत्तर-उत्तर सहयोग का उदाहरण है, जो एक अंतरसरकारी संगठन (Intergovernmental Organization) होते हुए भी एक अधिराष्ट्रीय संगठन (Supranational Organization) की विशेषताएँ रखता है। इसका आदर्श वाक्य “विविधता में एकता” है, और यह संगठन आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही रूपों में सक्रिय है। चर्चिल ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद “संयुक्त राज्य यूरोप” की कल्पना की थी, जो EU के स्वरूप में आगे साकार होती दिखती है। इसकी प्रमुख विशेषताओं में इसका अपना झंडा, गान, स्थापना दिवस, संसद, मुद्रा (यूरो) और केन्द्रीय बैंक शामिल हैं, हालाँकि इसका स्वतंत्र संविधान नहीं है। यूरोपीय संघ का मुख्यालय ब्रुसेल्स (बेल्जियम) में है और इसे विधिक दृष्टि से एक स्वतंत्र वैधानिक व्यक्तित्व प्राप्त है, जो इसे एक राष्ट्र की भांति व्यवहार करने में सक्षम बनाता है। इसके सदस्य देशों की साझा विदेश और रक्षा नीतियाँ होती हैं।

यूरोपीय संघ की सबसे विशिष्ट अवधारणा है **एकत्रित सम्प्रभुता**, जिसके अंतर्गत 27 सदस्य देशों ने अपनी कुछ संप्रभु शक्तियाँ EU की संस्थाओं को सौंप दी हैं। हालांकि, इस प्रक्रिया के कारण सदस्य राष्ट्रों में **लोकतांत्रिक घाटा** की स्थिति उत्पन्न होती है, जिसमें नागरिकों की पारंपरिक संस्थाओं (जैसे संसद या कार्यपालिका) पर पकड़ कमजोर होती जाती है क्योंकि नीति निर्माण अब यूरोपीय संघ के स्तर पर होता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यूरोपीय आर्थिक एकीकरण की आवश्यकता कई ऐतिहासिक, राजनीतिक और आर्थिक कारणों से उत्पन्न हुई। दो महायुद्धों की त्रासदी और संकीर्ण राष्ट्रवाद की विफलता ने यह स्पष्ट कर दिया कि शांति, स्थिरता और विकास के लिए क्षेत्रीय सहयोग अपरिहार्य है। युद्ध से प्रभावित अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण, अमेरिका पर अत्यधिक निर्भरता को घटाने, साम्यवादी प्रभाव को सीमित करने और यूरोप की खोई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने हेतु सहयोग की भावना ने जोर पकड़ा। मार्शल योजना की सहायता के साथ-साथ यूरोपीय राष्ट्र अपनी स्वायत्तता को बनाए रखते हुए विकास की ओर अग्रसर होना चाहते थे। इन्हीं प्रयासों की परिणति 1944 में बेनीलक्स समझौते (बेल्जियम, नीदरलैंड और लक्जमबर्ग) से हुई, जिसने एकीकरण की नींव रखी। 9 मई 1950 को रॉबर्ट शूमैन ने यूरोपीय कोयला और इस्पात समुदाय (ECSC) की योजना प्रस्तुत की, जिससे 1951 में पेरिस संधि द्वारा छह देशों (बेल्जियम, नीदरलैंड, लक्जमबर्ग, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी और इटली) का साझा आर्थिक ढाँचा बना, जिन्हें 'इनर सिक्स' (Inner Six) कहा गया। 1952 में ECSC की स्थापना हुई और 1957 में रोम संधि के तहत यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) तथा EURATOM की स्थापना ने आर्थिक सहयोग का नया युग प्रारंभ किया। 1958 में स्ट्रासबर्ग में यूरोपीय संसदीय सभा की पहली बैठक हुई, जिसे 1962 में यूरोपीय संसद का नाम दिया गया। 1965 की विलिय संधि (ब्रुसेल्स संधि) ने ECSC, EEC और EURATOM की प्रशासनिक संरचनाओं को एकीकृत कर दिया। 1986 का एकल यूरोपीय अधिनियम और 1993 की मास्ट्रिख संधि ने साझा बाजार और मुद्रा संघ की नींव रखी, जबकि 2009 की लिस्बन संधि ने यूरोपीय संघ को एक एकीकृत वैधानिक इकाई के रूप में परिवर्तित कर दिया। समय के साथ इसकी सदस्यता 6 से बढ़कर 27 देशों तक पहुँची और EU वैश्विक मंच पर एक सशक्त राजनीतिक-सामरिक शक्ति बनकर उभरा। हेलिस्टाइन ने इसकी तुलना तीन अवस्था वाले रॉकेट से की है—जिसमें पहली अवस्था तटकर संघ (कस्टम यूनियन), दूसरी आर्थिक संघ (इकनोमिक यूनियन), और तीसरी अवस्था राजनीतिक संघ (पॉलिटिकल यूनियन) को दर्शाती है। इस सतत विकास और संस्थागत सुधार के कारण यूरोपीय संघ आज विश्व का सबसे अनूठा राजनीतिक-संस्थागत प्रयोग बन गया है।

13.7.2 यूरोपीय संघ की प्रमुख संधियाँ

1. **मेस्ट्रिच संधि (Maastricht Treaty)**- 7 फरवरी, 1992 को नीदरलैंड के मैस्ट्रिच नगर में यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) के 12 सदस्य देशों द्वारा हस्ताक्षर किए गए और यह संधि 1 नवम्बर 1993 को प्रभाव में आई। यह संधि शीतयुद्धोत्तर काल में यूरोपीय राजनीतिक और मौद्रिक एकता की दिशा में एक निर्णायक कदम थी, जिसके अंतर्गत EEC का पुनर्गठन कर उसे यूरोपीय संघ (European Union) में परिवर्तित किया गया। इसका प्रमुख उद्देश्य एक मौद्रिक संघ की स्थापना तथा नागरिकता, सामान्य विदेश नीति और आंतरिक मामलों पर आधारित राजनीतिक संघ की नींव रखना था। 1 जनवरी 2002 से तत्कालीन 15 में से 12 सदस्य देशों ने स्वीकार किया। इससे पहले, 1999 में यूरोपीय केन्द्रीय बैंक की स्थापना फ्रैंकफर्ट (जर्मनी) में की गई। इस संधि ने एकल संसद, साझा विदेश नीति, और एक रक्षा नीति का भी प्रस्ताव दिया। 1995 में स्वीडन, फिनलैंड और ऑस्ट्रिया यूरोपीय संघ में शामिल हुए। अंततः, 1999 में मौद्रिक संघ स्थापित हुआ जो 2002 में पूरी तरह लागू होकर EU को एक संगठित आर्थिक शक्ति के रूप में सामने लाया।
2. **कोपनहेगेन मानदण्ड (Copenhagen Criteria)** – यूरोपीय संघ की सदस्यता हेतु निर्धारित ये मानदंड विशेष रूप से मध्य और पूर्वी यूरोपीय देशों के प्रवेश को ध्यान में रखते हुए बनाए गए थे। इनमें तीन मुख्य शर्तें शामिल हैं: (1) लोकतंत्र, कानून का शासन, मानवाधिकार और अल्पसंख्यकों के सम्मान की गारंटी देने वाली स्थिर संस्थाएं, (2) कार्यशील बाजार अर्थव्यवस्था और प्रतिस्पर्धा से निपटने की क्षमता, तथा (3) EU के विधिक ढांचे, नियमों और नीतियों को स्वीकारने और लागू करने की योग्यता।
3. **यूरोपीय आर्थिक क्षेत्र (EEA)** – यह जनवरी 1994 से लागू हुआ, जिससे EFTA देशों को EU के एकल बाजार तक पहुँच मिली। वर्तमान में EEA के 30 देशों (EU-27 + नॉर्वे, लिक्टेनस्टीन, आइसलैंड) में व्यक्तियों, सेवाओं व पूंजी का मुक्त आवागमन संभव है। स्विट्जरलैंड EEA का सदस्य नहीं, पर उसे बाजार की पहुँच प्राप्त है।
4. **शेंगेन संधि** - 1985 की इस संधि के अंतर्गत शेंगेन वीजा की व्यवस्था हुई, जो 1995 में लागू हुई। इसके अंतर्गत यूरोपीय संघ (EU) और शेंगेन क्षेत्र के नागरिक सदस्य देशों के बीच बिना पासपोर्ट के स्वतंत्र आवागमन कर सकते हैं।

5. **एथेंस संधि (2003)**- इसके तहत 1 मई 2004 को 10 नए देश—साइप्रस, माल्टा और 8 मध्य व पूर्वी यूरोपीय राष्ट्र—यूरोपीय संघ में शामिल हुए, जो अब तक का सबसे बड़ा विस्तार था।
6. **लिस्बन संधि** – इस संधि पर दिसम्बर 2007 में हस्ताक्षर हुए और यह 1 दिसम्बर 2009 से लागू हुई। यह 1957 की रोम संधि और 1993 की मैस्ट्रिच संधि को संशोधित कर लाई गई थी, जब साझा संविधान की योजना विफल रही। इस संधि ने यूरोपीय संसद की भूमिका को मजबूत करते हुए आयोग के अध्यक्ष की नियुक्ति, सह-निर्णय प्रक्रिया का विस्तार, और बजट, कृषि, न्याय आदि क्षेत्रों में संसद को परिषद के समकक्ष अधिकार दिए।

13.7.3 यूरोपीय संघ के प्रमुख संगठन

1. **यूरोपीय परिषद् (European Council):** यूरोपीय परिषद् यूरोपीय संघ की निर्णय लेने वाली सर्वोच्च राजनीतिक संस्था है, जो सदस्य देशों के शासन प्रमुखों, यूरोपीय आयोग और यूरोपीय संसद के अध्यक्षों से मिलकर बनती है। यह संघ को राजनीतिक दिशा देती है, प्राथमिकताएँ तय करती है और सुरक्षा नीति सहित प्रमुख निर्णयों का मार्गदर्शन करती है। इसकी बैठकें वर्ष में चार बार होती हैं।
2. **यूरोपीय आयोग (European Commission):** यूरोपीय आयोग यूरोपीय संघ की राजनीतिक रूप से स्वतंत्र कार्यकारी शाखा है, जिसे 'संधियों का संरक्षक' (Guardian of the Treaties) कहा जाता है। इसमें प्रत्येक सदस्य देश से एक कमिश्नर शामिल होता है, और अध्यक्ष का कार्यकाल 5 वर्ष का होता है। यह नए कानूनों का प्रस्ताव तैयार करता है, संधियों का पालन सुनिश्चित करता है, नीतियों को लागू करता है और यूरोपीय संघ का वैश्विक प्रतिनिधित्व करता है। इसका मुख्यालय ब्रुसेल्स (बेल्जियम) में है।
3. **यूरोपीय संसद (European Parliament)** - यूरोपीय संघ की एक प्रमुख विधायी और लोकतांत्रिक संस्था है, जिसमें सभी सदस्य देशों के नागरिकों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने गए प्रतिनिधि शामिल होते हैं। यह राजनीतिक समूहों के आधार पर बैठते हैं, न कि राष्ट्रीयता के आधार पर। इसका कार्यकाल पाँच वर्ष का होता है। यह संसद यूरोपीय आयोग और मंत्रिपरिषद के साथ मिलकर कानून निर्माण में भाग लेती है, बजट को स्वीकृति देती है तथा यह सुनिश्चित करती है कि अन्य संस्थाएँ लोकतांत्रिक ढंग से

कार्य कर रही हैं। संसद को यूरोपीय संघ के बजट को अस्वीकार करने और यूरोपीय आयोग को बर्खास्त करने जैसी शक्तियाँ भी प्राप्त हैं, यद्यपि इनका उपयोग विरले ही होता है। इसका मुख्यालय स्ट्रासबर्ग में स्थित है। इसे एक अधिराष्ट्रीय निकाय माना जाता है, जो यूरोपीय संघ के स्तर पर राजनीतिक बहस और निर्णय-निर्माण का एक प्रमुख मंच है।

4. **यूरोपीय संघ का न्यायालय (The Court of Justice of the European Union):** यूरोपीय संघ की सर्वोच्च न्यायिक संस्था है, जिसकी स्थापना 1952 में की गई थी। इसका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि यूरोपीय संघ के कानूनों की व्याख्या और अनुप्रयोग सभी सदस्य देशों में समान रूप से हो, तथा सदस्य देश और संघ की संस्थाएँ इन कानूनों का पालन करें। यह न्यायालय दो भागों में विभाजित है: 1. न्याय का न्यायालय (Court of Justice) और 2. सामान्य न्यायालय (General Court)। इसका मुख्यालय लक्जमबर्ग में स्थित है। यूरोपीय संघ के कानून को सदस्य देशों के घरेलू कानून पर वरीयता प्राप्त है, अतः यह न्यायालय किसी देश के घरेलू कानून को अमान्य कर सकता है। प्रत्येक न्यायालय में एक अध्यक्ष होता है, जिसे न्यायाधीशों द्वारा तीन वर्ष के लिए चुना जाता है। यह भी एक अधिराष्ट्रीय निकाय के रूप में कार्य करता है।
5. **यूरोपीय सेंट्रल बैंक (The European Central Bank - ECB):** यूरोपीय संघ की अधिराष्ट्रीय मौद्रिक संस्था है, जिसका मुख्यालय फ्रैंकफर्ट (जर्मनी) में स्थित है। यह बैंक यूरोपीय संघ की एकल मुद्रा 'यूरो' के लिए केंद्रीय बैंक के रूप में कार्य करता है। इसका मुख्य कार्य मूल्य स्थिरता बनाए रखना और यूरो की क्रय शक्ति को संरक्षित करना है। यह नीति निर्धारण के माध्यम से मुद्रास्फीति को नियंत्रित करता है और यूरो क्षेत्र (Eurozone) की मौद्रिक स्थिरता सुनिश्चित करता है। यूरो क्षेत्र में वे 19 यूरोपीय संघ देश शामिल हैं जिन्होंने 1999 से यूरो को अपनाया है।

13.7.4 यूरोपीय संघ की प्रासंगिकता और चुनौतियाँ

यूरोपीय संघ को अमेरिका की वैश्विक प्रभुत्वता के प्रमुख प्रतिस्पर्धी के रूप में देखा जाता है हालांकि आर्थिक रूप से शक्तिशाली होते हुए भी, यूरोपीय संघ की वैश्विक राजनीतिक भूमिका सीमित रही है। साझा विदेश और सुरक्षा नीति को प्रभावी रूप में लागू करने के प्रयास अभी भी अधूरे हैं, क्योंकि सदस्य देशों के बीच असहमति इन प्रयासों को कमजोर

बनाती रही है। 'आतंक के खिलाफ युद्ध', मानवाधिकार और तिब्बत जैसे मुद्दों पर चीन से संबंध, तथा रूस के साथ व्यापार और ऊर्जा निर्भरता को लेकर मतभेद इसके उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त, वर्ष 2020 में ब्रिटेन के यूरोपीय संघ से बाहर निकलने (ब्रेकिंगट) ने संघ की आर्थिक और सैन्य शक्ति को उल्लेखनीय रूप से प्रभावित किया है। यूरोस्केप्टिसिज़्म जैसे विचारों ने यूरोपीय एकीकरण के प्रति संशय बढ़ाया है, इसके अलावा, शरणार्थी संकट, कम आर्थिक वृद्धि, और ग्रीस जैसे देशों की आर्थिक बदहाली जैसी चुनौतियाँ भी EU के समक्ष बनी हुई हैं। यूरोपीय संघ आर्थिक महाशक्ति तो है, लेकिन राजनीतिक और सामरिक क्षेत्रों में इसकी भूमिका अभी सीमित और विभाजित बनी हुई है।

13.8 अभ्यास प्रश्न

1. यूरोपीय संघ का आदर्श वाक्य क्या है?
A. सबका साथ, सबका विकास, B. विविधता में एकता, C. स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, D. न्याय और समता
2. मैस्ट्रिच संधि किस वर्ष लागू हुई थी?
A. 1991, B. 1992, C. 1993, D. 1995
3. यूरोपीय संसद का मुख्यालय कहाँ स्थित है?
A. ब्रसेल्स, B. लक्ज़मबर्ग, C. स्ट्रासबर्ग, D. जिनेवा
4. आसियान की स्थापना कब हुई थी?
A. 1975, B. 1967, C. 1984, D. 1994
5. आसियान का मुख्यालय कहाँ स्थित है?
A. बैंकॉक, B. हनोई, C. कुआलालंपुर, D. जकार्ता
6. आसियान प्लस थ्री में कौन-कौन से देश शामिल हैं?
A. भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, B. चीन, जापान, दक्षिण कोरिया, C. ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, भारत, D. रूस, अमेरिका, कनाडा
7. अफगानिस्तान को SAARC की सदस्यता कब प्राप्त हुई?
A. 2005, B. 2006, C. 2007, D. 2008
8. SAARC का पहला सम्मेलन कहाँ आयोजित हुआ था?
A. नई दिल्ली, B. काठमांडू, C. कोलंबो, D. ढाका

13.9 शब्दावली

- आसियान शैली (ASEAN Way) - संगठन की नीति, जो संवाद, सहयोग व टकराव से बचाव पर आधारित है
- ब्रेक्जिट (Brexit)- ब्रिटेन का यूरोपीय संघ से बाहर निकलना।
- अधिराष्ट्रीय संगठन (Supranational Organization)- ऐसा संगठन जिसमें सदस्य देश अपनी कुछ संप्रभुता साझा करते हैं और निर्णय एक केंद्रीय संस्था द्वारा लिए जाते हैं।
- एकत्रित सम्प्रभुता (Pooled Sovereignty)- वह स्थिति जब कई देश अपने अधिकार एक साझा संस्था को सौंपते हैं ताकि सामूहिक निर्णय लिए जा सकें।
- लोकतांत्रिक घाटा (Democratic Deficit)- जब निर्णय लेने वाली संस्थाएं सीधे जनता द्वारा चुनी नहीं जातीं या उनकी जवाबदेही नागरिकों के प्रति कम होती है।
- लिए ट्रैक टू (Track-II) कूटनीति- जब दो देशों के बीच कोई गैर-सरकारी लेकिन प्रभावशाली व्यक्ति या समूह बातचीत करता है ताकि तनाव या विवाद को कम किया जा सके

13.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1-B, 2-C, 3-C, 4-B, 5-D, 6-B, 7-C, 8-D

13.11 संदर्भ ग्रंथ

1. Heywood, A., & Whitham, B. (प्रकाशन वर्ष). Global Politics (3rd ed.). Bloomsbury.
2. बेलिस, जे., स्मिथ, एस., और ओवेन्स, पी. (2014)। द ग्लोबलाइजेशन ऑफ़ वर्ल्ड पॉलिटिक्स: एन इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल रिलेशंस (छठा संस्करण)। ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क।
3. <https://european-union.europa.eu>
4. <https://asean.org>
5. <https://saarc-sec.org>

13.12 सहायक पाठ्य सामग्री

1. वरमानी, आर. सी. (2007) “समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध”, गीतांजलि पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
2. फड़िआ, बी. एल. (2013) “अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति”, साहित्यिक भवन पब्लिकेशन, ।
3. बीस्वाल, तपन (2010), “अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध”, मैकमिलन पब्लिशर्स इंडिया लि., नई दिल्ली।
4. एडिटेड बी जॉन बेलीज़, स्टीव स्मिथ, एंड पत्रिका ओवेंस. (2013)

13.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. आसियान (ASEAN) की स्थापना, संरचना और उद्देश्य का वर्णन कीजिए।
2. भारत-पाकिस्तान संबंधों का SAARC की कार्यप्रणाली पर क्या प्रभाव पड़ा है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
3. यूरोपीय संघ के उद्भव एवं विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए।
4. ASEAN के प्रमुख निकायों और संस्थागत ढांचे का वर्णन कीजिए।
5. SAARC की सफलताएँ एवं विफलताएँ किन कारणों से जुड़ी हैं? वर्तमान समय में इसकी प्रासंगिकता का मूल्यांकन कीजिए।
6. यूरोपीय संघ की संस्थागत संरचना का वर्णन कीजिए।

इकाई 14: मानवाधिकार: मानवाधिकार घोषणा पत्र और मुद्दे

इकाई संरचना

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि – मानवाधिकार की संकल्पना का विकास

14.3.1 प्राचीन यूनान और रोम – प्रकृति के कानून

14.3.2 पुनर्जागरण और प्रकृतिक अधिकारों का उद्भव

14.3.3 प्रबोधन काल और प्रकृतिक अधिकार

14.3.4 बिल ऑफ राइट्स, अमरीकी स्वतंत्रता की घोषणा, फ्रांसीसी क्रांति एवं मनुष्य और नागरिक अधिकार घोषणा पत्र

14.3.5 प्राकृतिक अधिकारों के आलोचक

14.4 मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा

14.5 प्रावधान

14.6 नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय संधि एवं आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय संधि

14.7 मानवाधिकार संबन्धित समकालीन मुद्दे

14.7.1 मानवाधिकार एवं सशस्त्र संघर्ष

14.7.2 नस्लीय भेदभाव

14.7.3 महिला अधिकार

14.7.4 बाल अधिकार

14.7.5 मानव तस्करी

14.7.6 पर्यावरण और मानवाधिकार

14.9 सारांश

14.10 शब्दावली

14.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

14.12 सहायक/उपयोगी सामग्री

14.13 निबंधात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

मानवाधिकार वह मूलभूत अधिकार हैं जो हर मनुष्य को मानव होने के नाते प्राप्त होते हैं। जैक डोनेली के अनुसार, 'मानवाधिकार वे अधिकार हैं जो किसी व्यक्ति को केवल मानव होने के कारण प्राप्त होते हैं, और ये मानव गरिमा तथा समानता पर आधारित होते हैं'।

मानवाधिकार का वर्तमान स्वरूप अपेक्षाकृत नया है और उसका उद्भव द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के शांति समझौतों में हुआ है। द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका से त्रस्त राष्ट्रों द्वारा मानवमात्र के लिए कुछ मूलभूत और सार्वभौमिक अधिकारों को स्थापित करने और उन्हें मान्यता देने के प्रयास किया। संयुक्त राष्ट्र जनरल असेम्बली द्वारा 10 दिसम्बर 1948 को मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (Universal Declaration of Human Rights) की गयी। इस घोषणा का लक्ष्य था अधिकारों के क्षेत्र में वैश्विक स्तर पर मान्यता प्राप्त एवं सार्वभौमिक रूप से लागू हो सकने वाले नियमों के समूह का विकास जिनका सभी राष्ट्र अनुकरण एवं अनुपालन करें।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करके हम-

1. मानवाधिकारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझा सकेंगे और मानवाधिकारों के विकास के बारे में जानेंगे।
2. मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के बारे में जानेंगे।
3. मानवाधिकार से संबन्धित अन्य अंतर्राष्ट्रीय संधियों के बारे में जानेंगे।
4. मानवाधिकार के समकालीन मुद्दों को समझ सकेंगे।

14.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि – मानवाधिकार की संकल्पना का विकास

14.3.1 प्राचीन यूनान और रोम – प्रकृति के कानून

मानवाधिकार भले ही अपने वर्तमान नामकरण एवं प्रारूप में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विकसित हुए हों पर मानवाधिकार की धारणा का अस्तित्व पश्चिमी एवं भारतीय दर्शन शास्त्रों में काफी प्राचीन है। प्रकृति के कानून की अवधारणा प्राचीन यूनान के स्टोइक दर्शन की देन है। स्टोइक विचारकों के अनुसार राज्य द्वारा विनिर्मित विधि से ऊपर कुछ कानून हैं जिन्हें वह प्रकृति के कानून की संज्ञा देते हैं। प्रकृति के कानून सभी मनुष्यों पर समानता से लागू होते हैं, वह राष्ट्र एवं राज्य द्वारा विनिर्मित कानून से इतर देश, काल के सीमाओं में सीमित न हो कर सार्वभौमिक होते हैं। रोमन विधि का इयुस

सिवील (jus civile) और इयुस जेंटियम (jus gentium) के सिद्धान्त भी स्टोइक दर्शन के प्रकृति के कानून की अवधारणा पर आधारित हैं।

14.3.2 पुनर्जागरण और प्राकृतिक अधिकारों का उद्भव

प्रकृति के कानूनों से प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का विकास यूरोप में मध्यकाल के बाद पुनर्जागरण काल में मानवतावादी चिंतन के उद्भव के साथ हुआ। यूरोप में मध्यकाल में राजा की अधिनायकवादी शक्तियों के विरुद्ध विभिन्न समूहों के संघर्ष के फलस्वरूप मानव के आधारभूत अधिकारों की चरणों में नीव पड़ी। इस प्रक्रिया में मुख्य मील के पथर रहे 1215 की इंग्लैंड की मैग्ना कार्टा, 1628 का पेटिशन ऑफ राइट्स और 1689 का बिल ऑफ राइट्स जिनसे राजशाही के निरंकुश अधिकारों पर कुछ सीमाएं लगाई गयीं। साथ ही चिंतन के क्षेत्र में मानवतावादी चिंतन आगे बढ़ने लगा। एकवीनास से ग्रेवियस तक मानवतावादी चिंतन का विकास हम पुनर्जागरण काल के चिंतन में देख सकते हैं। इस मानवतावादी चिंतन ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को जन्म दिया जो आना वाले समय में अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध हुआ।

14.3.3 प्रबोधन काल और प्राकृतिक अधिकार

पुनर्जागरण के बाद आई बौद्धिक क्रांति से वैज्ञानिक सोच का प्रसार हुआ। देकार्त एवं लाइब्निज़ के तर्कवाद अथवा बेकन एवं लॉक के अनुभववाद से बौद्धिक विश्व में एक नया दौर आया जिसे प्रबोधन काल (एज ऑफ एनलाइटेंमेंट) के नाम से जाना जाता है। इस दौरान प्राकृतिक कानून की विचारधारा को और बल मिला। लॉक एवं फ्रांसीसी बौद्धिक आंदोलन फिलोसोफे से जुड़े विचारक जैसे वोल्टेयर, मोंटेस्क, दिदेरो, रूसो, कोंडीलेक, कोंडोरसेट और तुर्गो जैसे विचारकों ने प्राकृतिक कानून की संकल्पना को विस्तार दिया। उसी समय के सामाजिक अनुबंध विचारकों ने राजा और राज्य की दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध राज्य की उत्पत्ति और उसकी शक्तियों का स्रोत मनुष्यों द्वारा राज्य स्थापना के लिए किए गए अनुबंध को माना। इस प्रकार राजनीतिक विचार को धार्मिक विचारधारा से मुक्त कराने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। लॉक के अनुसार हर मनुष्य कुछ स्वतःसिद्ध अधिकारों को लेकर जन्म लेता है। जब मनुष्य प्रकृति की स्थिति (स्टेट ऑफ नेचर) से राज्य में सामाजिक अनुबंध (सोशियल कांट्रैक्ट) के तहत राज्य की स्थिति में प्रवेश करता है तो वह इन अधिकारों का समर्पण नहीं करता सिर्फ इन अधिकारों को स्वयं लागू कराने के अधिकार का समर्पण करता है। अगर राज्य उसके इन अधिकारों का हनन करता है तो उसके पास राज्य के खिलाफ विद्रोह का विकल्प भी रहता है। मनुष्य के मनुष्य होने के नाते कुछ मूलभूत अधिकार प्राप्त होते हैं इस सिद्धान्त की संकल्पना धीरे धीरे प्राकृतिक कानून के सिद्धान्तों से उभरने लगी। तर्कवाद एवं वैज्ञानिक सोच के हितैषी प्रबोधन काल के विचारक भौतिक विश्व में भौतिकी के सर्वमान्य वैज्ञानिक नियमों की तरह ही अधिकारों के क्षेत्र में भी सार्वभौमिक और सर्वमान्य अधिकारों की खोज करने लगे।

14.3.4 बिल ऑफ राइट्स, अमरीकी स्वतंत्रता की घोषणा, फ्रांसीसी क्रांति एवं मनुष्य और नागरिक अधिकार घोषणा पत्र

इन्हीं उदारवादी विचारों का वास्तविक जगत में प्रभाव हम ब्रिटेन 1688 में हुई गौरवशाली क्रांति और 1689 में पारित बिल ऑफ राइट्स के तहत राजशाही की शक्तियों पर लगाई गई सीमाओं के रूप में देखते हैं। इन विचारों के प्रसार के फलस्वरूप ही ब्रिटेन की 13 अमरीकी उपनिवेशों द्वारा 4 जुलाई 1776 को स्वतन्त्रता की घोषणा की गयी जिसमें साफ शब्दों में यह उद्घोष किया कि

“हम इन सिद्धांतों को स्वयंसिद्ध मानते हैं कि सभी मनुष्य समान पैदा हुए हैं और उन्हें अपने स्रष्टा द्वारा कुछ अविच्छिन्न अधिकार मिले हैं। जीवन, स्वतंत्रता और सुख की खोज इन्हीं अधिकारों में है।”

यह उद्घोष मानवाधिकार के इतिहास में एक ऐतिहासिक क्षण था। प्रकृतिक कानून के विमर्श से जन्मे मनुष्य के अधिकारों का यह एक अत्यंत संक्षिप्त और सटीक कथन है। इस घोषणा के प्रमुख प्रारूपकर थॉमस जेफरसन के विचारों पर लॉक और मोंटेस्क का गहरा प्रभाव था।

अमरीकी स्वतन्त्रता युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमरीका की स्थापना हुई। संयुक्त राज्य अमरीका के नवीन संविधान में प्रथम दस संशोधन 1789 से 1791 के दौरान पारित किए गए। इन संशोधनों को बिल ऑफ राइट्स के नाम से भी जाना जाता है। बिल ऑफ राइट्स के माध्यम से नागरिकों के मूल अधिकारों को संवैधानिक मान्यता दी गयी।

फ्रांस में क्रांति 1789 में फ्रांस में हुई क्रांति ने वहाँ राजशाही का अंत किया। फ्रांसीसी क्रांति के आदर्श थे लिबर्टी, एक्वोलिटि एवं फ्रेटेर्निटी अर्थात स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्वा। फ्रांसीसी क्रांति का प्रारम्भ हुआ 26 अगस्त 1789 में ‘ मनुष्य एवं नागरिक अधिकार घोषणा पत्र ’ से जिसकी प्रथम पंक्तियाँ कुछ इस प्रकार हैं-

“सभी मनुष्य जन्म से स्वतंत्र एवं समान हैं”

इस उद्घोषणा की रचना लाफ़ेयेट और एब्बे सेइस ने की। इसमें थॉमस जेफरसन का भी योगदान माना जाता है। तो हम देखते हैं की विश्व पटल पर हुई क्रांतिकारी घटनाओं की पृष्ठभूमि मनुष्य के अधिकारों का विमर्श था।

14.3.5 प्राकृतिक अधिकारों के आलोचक

प्राकृतिक अधिकारों की संकल्पना का विरोध विभिन्न विचारधारा के विचारकों ने किया। रूढ़िवादी विचारक जैसे की बर्क एवं ह्यूम ने प्राकृतिक अधिकारों को मिथ्या विचार एवं व्यर्थ आकांक्षाओं के

रूप में चरितार्थ किया। वहीं उपयोगितावाद के प्रवर्तक जेरेमी बेंथम का मानना था की विधि द्वारा दिये गए अधिकार ही वास्तव में अधिकार की श्रेणी में आ सकते हैं। बिना विधि या कानूनी आधार के अधिकार का कोई अस्तित्व नहीं है अथवा जन्मजात और सार्वभौमिक अधिकारों की बात करना व्यर्थ है। ऐसे अधिकारों को बेंथम, नॉनसेन्स ऑन स्टील्ट्स की संज्ञा देता है।

14.3.6 द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका एवं विश्व पटल पर मानवाधिकार का उद्भव

द्वितीय विश्व युद्ध की वैश्विक रक्त-रंजीत संघर्ष में अनुमानित 7.5 से 8 करोड़ लोगों की मृत्यु हुई। इस संघर्ष में इंसान द्वारा इंसान पर प्रयुक्त क्रूरता जैसे की निहत्थी नागरिक आबादी पर अनियंत्रित बमबारी, नाज़ियों द्वारा यहूदियों का नरसंहार और अन्य अमानवीय कृत्यों ने वैश्विक समुदाय को आत्मावलोकन की ओर उन्मुख किया। इसका एक परिणाम हुआ संयुक्त राष्ट्र की स्थापना। संयुक्त राष्ट्र के आधारभूत दस्तावेज़ अर्थात संयुक्त राष्ट्र अधिकारपत्र (चार्टर) प्रथम अध्याय का शीर्षक है – संयुक्त राज्य का प्रयोजन। इसके प्रथम अनुच्छेद का तीसरा भाग यह उद्घोषणा करता है की संयुक्त राष्ट्र संघ के गठन का एक प्रयोजन बिना किसी भेदभाव के मानवाधिकारों एवं और मूलभूत स्वतंत्रताओं का प्रोत्साहन एवं उनके प्रति आदर की भावना के प्रचार भी है। यह दर्शाता है की मानवाधिकार संयुक्त राष्ट्र संघ के मूलभूत सिद्धांतों में से एक है। वैश्विक समाज द्वारा मानवाधिकारों को मान्यता दिलाना और उनके अनुसरण का प्रचार करना द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद शांति के संरक्षण के लिए अपरिहार्य माना गया।

14.4 मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा

संयुक्त राष्ट्र के प्रार्थमिक अंगों में से एक आर्थिक एवं सामाजिक परिषद (इकॉनॉमिक एंड सोशल काउंसिल) द्वारा मानवाधिकारों के एक अधिकारपत्र के प्रारूपण के लिए एक समिति का गठन किया। इस समिति की अध्यक्ष एल्यानोर रूज़वेल्ट थीं जो की प्रसिद्ध अमरीकी राजनीतिज्ञ एवं सामाजिक कार्यकर्ता थीं। वह अमरीका के राष्ट्रपति थियोडोर रूज़वेल्ट की पत्नी थीं। जॉन पीटर हंफ्री, पी सी चेंग, चार्ल्स मालिक एवं रुने केसीन समिति के कुछ अन्य प्रतिष्ठित सदस्यों में थे। समिति में भारत का प्रतिनिधित्व हंसा मेहता एवं लक्ष्मी मेनन ने किया।

समिति द्वारा निर्मित प्रारूप को संयुक्त राष्ट्र की जनरल एसम्बली ने रेज़ोल्यूशन 217 के रूप में 10 दिसंबर 1948 को पारित किया। इस घोषणा को मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के रूप में जाना जाता है। 10 दिसंबर को विश्व मानवाधिकार दिवस के रूप में मनाया जाता है।

यह ध्यान देने की बात है की मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा संयुक्त राष्ट्र के सदस्य राष्ट्रों पर कोई विधिक रूप से अनिवार्य बाध्यता नहीं जनित करता। अतः संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग

त्वरित ही मानवाधिकार पर विधिक रूप से बाध्यकारी संधियों के प्रारूपण के कार्य में जुट गया। इसके फलस्वरूप दो अंतर्राष्ट्रीय संधियों का प्रारूपण किया गया। नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय संधि और आर्थिक, सामाजिक एवं सामाजिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय संधि। दोनों ही संधियों पर भारत ने हस्ताक्षर एवं अनुसमर्थन किया है।

मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा इतिहास में पहली बार विश्व के राष्ट्रों की द्वारा मानवाधिकारों के लिए प्रतिबद्धता की घोषणा करता है। साथ ही वह मानवाधिकारों को वैश्विक मान्यता दिलाने और उनके अनुसरण को सुनिश्चित करने के संकल्प को भी निरूपित करता है।

14.5 प्रावधान

प्रस्तावना

मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की प्रस्तावना घोषणा दार्शनिक एवं नैतिक आधार को परिलक्षित करती है। वह मनुष्यों की जन्मजात गरिमा एवं समान और अविच्छिन्न अधिकारों का विश्व शांति, न्याय और स्वतन्त्रता की बुनियाद मानता है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जाते हुए वह मानवाधिकारों की उपेक्षा को हाल में हुए बर्बर कृत्यों एवं अत्याचारों के कारण मानता है। मानवाधिकार की रक्षा को वह विश्व शांति एवं मैत्रीपूर्ण संबंधों का आधार मानता है। इस प्रकार प्रस्तावना उन मूल्यों को स्पष्ट करती है जो आने वाले प्रावधानों में विस्तृत रूप से दिये गए हैं

अनुच्छेद 1

सभी मनुष्यों को गौरव और अधिकारों के मामले में जन्मजात स्वतन्त्रता और समानता प्राप्त है। उन्हें बुद्धि और अन्तरात्मा की देन प्राप्त है और परस्पर उन्हें भाईचारे के भाव से बर्ताव करना चाहिए। उपरोक्त अनुच्छेद मानवाधिकारों के आधारभूत मूल्यों – स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व - को लक्षित करता है।

अनुच्छेद 2

सभी को इस घोषणा में सन्निहित सभी अधिकारों और आज्ञादियों को प्राप्त करने का हक है और इस मामले में जाति, वर्ण, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीति या अन्य विचार-प्रणाली, किसी देश या समाज विशेष में जन्म, सम्पत्ति या किसी प्रकार की अन्य मर्यादा आदि के कारण भेदभाव का विचार न किया जाएगा। इसके अतिरिक्त, चाहे कोई देश या प्रदेश स्वतन्त्र हो, संरक्षित हो, या स्वशासन रहित हो या परिमित प्रभुसत्ता वाला हो, उस देश या प्रदेश की राजनैतिक, क्षेत्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के आधार पर वहां के निवासियों के प्रति कोई फरक न रखा जाएगा।

उपरोक्त अनुच्छेद मानवाधिकारों के क्षेत्र में भेदभाव का निषेध करता है। यह अधिकार हर किसी को बिना किसी प्रकार के भेदभाव के उपलब्ध होंगे। यह पुनः मानवाधिकारों की सार्वभौमिकता पर जोर देता है।

अनुच्छेद 3

प्रत्येक व्यक्ति को जीवन, स्वाधीनता और वैयक्तिक सुरक्षा का अधिकार है।

अनुच्छेद 4

कोई भी गुलामी या दासता की हालत में न रखा जाएगा, गुलामी-प्रथा और गुलामों का व्यापार अपने सभी रूपों में निषिद्ध होगा।

अनुच्छेद 5

किसी को भी शारीरिक यातना न दी जाएगी और न किसी के भी प्रति निर्दय, अमानुषिक या अपमानजनक व्यवहार होगा।

अनुच्छेद 6

हर किसी को हर जगह कानून की निगाह में व्यक्ति के रूप में स्वीकृति-प्राप्ति का अधिकार है।

अनुच्छेद 7

कानून की निगाह में सभी समान हैं और सभी बिना भेदभाव के समान कानूनी सुरक्षा के अधिकारी हैं। यदि इस घोषणा का अतिक्रमण करके कोई भी भेद-भाव किया जाया उस प्रकार के भेद-भाव को किसी प्रकार से उकसाया जाया, तो उसके विरुद्ध समान संरक्षण का अधिकार सभी को प्राप्त है।

अनुच्छेद 8

सभी को संविधान या कानून द्वारा प्राप्त बुनियादी अधिकारों का अतिक्रमण करने वाले कार्यों के विरुद्ध समुचित राष्ट्रीय अदालतों की कारगर सहायता पाने का हक है।

अनुच्छेद 9

किसी की भी मनमाने ढंग से गिरफ्तार, नजरबन्द या देश-निष्कासित न किया जाएगा।

अनुच्छेद 10

सभी को पूर्णतः समान रूप से हक है कि उनके अधिकारों और कर्तव्यों के निश्चय करने के मामले में और उन पर आरोपित फौजदारी के किसी मामले में उनकी सुनवाई न्यायोचित और सार्वजनिक रूप से निरपेक्ष एवं निष्पक्ष अदालत द्वारा हो।

अनुच्छेद 11

(1) प्रत्येक व्यक्ति, जिस पर दण्डनीय अपराध का आरोप किया गया हो, तब तक निरपराध माना जाएगा, जब तक उसे ऐसी खुली अदालत में, जहां उसे अपनी सफाई की सभी आवश्यक सुविधाएं प्राप्त हों, कानून के अनुसार अपराधी न सिद्ध कर दिया जाया।

(2) कोई भी व्यक्ति किसी भी ऐसे कृत या अकृत (अपराध) के कारण उस दण्डनीय अपराध का अपराधी न माना जाएगा, जिसे तत्कालीन प्रचलित राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार दण्डनीय अपराध न माना जाए और न उससे अधिक भारी दण्ड दिया जा सकेगा, जो उस समय दिया जाता जिस समय वह दण्डनीय अपराध किया गया था।

अनुच्छेद 12

किसी व्यक्ति की एकान्तता, परिवार, घर या पत्रव्यवहार के प्रति कोई मनमाना हस्तक्षेप न किया जाएगा, न किसी के सम्मान और ख्याति पर कोई आक्षेप हो सकेगा। ऐसे हस्तक्षेप या आधेपों के विरुद्ध प्रत्येक को कानूनी रक्षा का अधिकार प्राप्त है।

अनुच्छेद 13

- (1) प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक देश की सीमाओं के अन्दर स्वतन्त्रतापूर्वक आने, जाने और बसने का अधिकार है।
- (2) प्रत्येक व्यक्ति को अपने या पराये किसी भी देश को छोड़नी और अपने देश को वापस आने का अधिकार है।

अनुच्छेद 14

- (1) प्रत्येक व्यक्ति को सताये जाने पर दूसरे देशों में शरण लेने और रहने का अधिकार है।
- (2) इस अधिकार का लाभ ऐसे मामलों में नहीं मिलेगा जो वास्तव में गैर-राजनीतिक अपराधों से सम्बन्धित है, या जो संयुक्त राष्ट्रों के उद्देश्यों और सिद्धान्तों के विरुद्ध कार्य है।

अनुच्छेद 15

- (1) प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी राष्ट्र-विशेष को नागरिकता का अधिकार है।
- (2) किसी को भी मनमाने ढंग से अपने राष्ट्र की नागरिकता से वंचित न किया जाएगा या नागरिकता का परिवर्तन करने से मना न किया जाएगा।

अनुच्छेद 16

- (1) बालिग स्त्री-पुरुषों की बिना किसी जाति, राष्ट्रीयता या धर्म की रुकावटों के आपस में विवाह करने और परिवार को स्थापन करने का अधिकार है। उन्हें विवाह के विषय में वैवाहिक जीवन में, तथा विवाह विच्छेद के बारे में समान अधिकार है।
- (2) विवाह का इरादा रखने वाले स्त्री-पुरुषों की पूर्ण और खतभा सहमित पर ही विवाह हो सकेगा।
- (3) परिवार समाज की स्वाभाविक और बुनियादी सामूहिक इकाई है और उसे समाज तथा राज्य द्वारा संरक्षण पाने का अधिकार है।

अनुच्छेद 17

- (1) प्रत्येक व्यक्ति को अकेले और दूसरों के साथ मिलकर सम्मति रखने का अधिकार है।
- (2) किसी को भी मनमाने ढंग से अपनी सम्मति से वंचित न किया जाएगा।

अनुच्छेद 18

प्रत्येक व्यक्ति को विचार, अन्तरात्मा और धर्म की आजादी का अधिकार है। इस अधिकार के अन्तर्गत अपना धर्म या विश्वास बदलने और अकेले या दूसरों के साथ मिलकर तथा सार्वजनिक रूप में अथवा निजी तौर पर अपने धर्म या विश्वास को शिक्षा, क्रिया, उपासना, तथा व्यवहार के द्वारा प्रकट करने की खतमाता है।

अनुच्छेद 19.

प्रत्येक व्यक्ति को विचार और उसकी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार है। इसके अन्तर्गत बिमा हस्तक्षेप के कोई राय रखना और किसी भी माध्यम के जरिए से तथा सीमाओं की परवाह न कर के किसी की मृचना और धारणा का अन्वेषण, प्रहण तथा प्रदान सम्मिलित है।

अनुच्छेद 20

- (१) प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति पूर्ण सभा करने या समिति बनाने की स्वतन्त्रता का अधिकार है।
- (२) किसी को भी किसी संस्था का सदस्य बनने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता।

अनुच्छेद 21

- (१) प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश के शासन में प्रत्यक्ष रूप से या स्वतन्त्र रूप से चुने गए प्रतिनिधियों के जरिए हिस्सा लेने का अधिकार है।
- (२) प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश की सरकारी नौकरियों को प्राप्त करने का समान अधिकार है।
- (३) सरकार की सत्ता का आधार जनता की दृच्छा होगी। इस इच्छा का प्रकटन समय-समय पर और असली चुनावों द्वारा होगा। ये चुनाव सार्वभौम और समान मताधिकार द्वारा होंगे और गुप्त मतदान द्वारा या किसी अन्य समान स्वतन्त्र मतदान पद्धति से कराये जाएंगे।

अनुच्छेद 22.

समाज के एक सदस्य के रूप में प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा का अधिकार है और प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के उस स्वतन्त्र विकास तथा गौरव के लिए जो राष्ट्रीय प्रयत्न या अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा प्रत्येक राज्य के संगठन एवं साधनों के अनुकूल हो- अनिवार्यतः आवश्यक आर्थिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक अधिकारों की प्राप्ति का हक है। अनुच्छेद

अनुच्छेद 23.

- (१) प्रत्येक व्यक्ति को काम करने, इच्छानुसार रोजगार के चुनाव, काम की उचित और सुविधाजनक परिस्थितियों को प्राप्त करने और बेकारी से संरक्षण पाने का हक है।
- (२) प्रत्येक व्यक्ति को समान कार्य के लिए बिना किसी भेदभाव के समान मजदूरी पाने का अधिकार है।
- (३) प्रत्येक व्यक्ति को जो काम करता है, अधिकार है कि वह इतनी उचित और अनुकूल मजदूरी पाए, जिससे वह अपने लिए और अपने परिवार के लिए ऐसी आजीविका का प्रबन्ध कर सके, जो मानवीय गौरव के योग्य हो तथा आवश्यकता होने पर उसकी पूर्ति अन्य प्रकार के सामाजिक संरक्षणों द्वारा हो सके।
- (४) प्रत्येक व्यक्ति को अपने हितों की रक्षा के लिए श्रमजीवी संघ बनाने और उनमें भाग लेने का अधिकार है।

अनुच्छेद 24.

प्रत्येक व्यक्ति को विश्राम और अवकाश का अधिकार है। इसके अन्तर्गत काम के घंटों की उचित हदबन्दी और समय-समय पर मजदूरी सहित छुट्टियां सम्मिलित है।

अनुच्छेद 25.

(१) प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे जीवनस्तर को प्राप्त करने का अधिकार है जो उसके और उसके परिवार के स्वास्थ्य एवं कल्याण के लिए पर्याप्त हो। इसके अन्तर्गत खाना, कपड़ा, मकान, चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाएं और आवश्यक सामाजिक सेवाएं सम्मिलित है। सभी को बेकारी, बीमारी, असमर्थता, वैधव्य, बुढ़ापे या अन्य किसी ऐसी परिस्थिति में आजीविका का साधन न होने पर जो उसके काबू के बाहर हो, सुरक्षा का अधिकार प्राप्त है।

(२) जच्चा और बच्चा को खास सहायता और सुविधा का हक है। प्रत्येक बच्चे को चाहे वह विवाहिता माता से जन्मा हो या अविवाहिता से, समान सामाजिक संरक्षण प्राप्त होगा।

अनुच्छेद 26.

(१) प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा का अधिकार है। शिक्षा कम से कम प्रारम्भिक और बुनियादी अवस्थाओं में निःशुल्क होगी। प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य होगी। टेक्निकल, यांत्रिक और पेशी-सम्बन्धी शिक्षा साधारण रूप से प्राप्त होगी और उच्चतर शिक्षा सभी को योग्यता के आधार पर समान रूप से उपलब्ध होगी।

(२) शिक्षा का उद्देश्य होगा मानव व्यक्तित्व का पूर्ण विकास और मानव अधिकारी तथा बुनियादी खतन्त्रताओं के प्रति सम्मान को पुष्टि। शिक्षा द्वारा राष्ट्रों, जातियों अथवा धार्मिक समूहों के बीच आपसी सद्भावना, सहिष्णुता और मंत्री का विकास होगा और शांति बनाए रखने के लिए संयुक्त राष्ट्रों के प्रयत्नों के आगे बाया जाएगा।

(३) माता-पिता को सबसे पहले इस बात का अधिकार है कि वे चुनाव कर सकें कि किस किस्म की शिक्षा उनके बच्चों को दी जाएगी।

अनुच्छेद 27.

(१) प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक समाज के सांस्कृतिक जीवन में हिस्सा लेने, कलाओं का आनन्द लेने, तथा वैज्ञानिक उन्नति और उसकी सुविधाओं में भाग लेने का हक है।

२) प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी ऐसी वैज्ञानिक, साहित्यिक या कलात्मक कृति में उत्पन्न नैतिक और आर्थिक हितों की रक्षा का अधिकार है जिसका रचयिता वह स्वयं हो।

अनुच्छेद 28.

प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की प्राप्ति का अधिकार है जिसमें इस घोषणा में उल्लिखित अधिकारों और खतन्त्रताओं को पूर्णतः प्राप्त किया जा सके।

अनुच्छेद 29.

(१) प्रत्येक व्यक्ति का उसी समाज के प्रति कर्तव्य है जिसमें रहकर उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र और पूर्ण विकास संभव हो।

(२) अपने अधिकारों और खतन्त्रताओं का उपयोग करते हुए प्रत्येक व्यक्ति केवल ऐसी ही सीमाओं द्वारा बद्ध होगा, जो कानून द्वारा निश्चित की जाएंगी और जिनका एकमात्र उद्देश्य दूसरों के अधिकारी और स्वतन्त्रताओं के लिये आदर और समुचित स्वीकृति की प्राप्ति होगा तथा जिनकी आवश्यकता एक प्रजातन्त्रात्मक समाज में नैतिकता, सार्वजनिक व्यवस्था और सामान्य कल्याण की उचित आवश्यकताओं को पूरा करना होगा।

(३) इन अधिकारी और खतन्त्रताओं का उपयोग किसी प्रकार से भी संयुक्त राष्ट्री के सिद्धान्तों और उद्देश्यों के विरुद्ध नहीं किया जायगा।

अनुच्छेद 30.

इस घोषणा में उल्लिखित किसी भी बात का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए जिससे यह प्रतीत हो कि किसी भी राज्य, समूह, या व्यक्ति की किसी ऐसे प्रयत्न में संलग्न होने या ऐसा कार्य करने का अधिकार है, जिसका उद्देश्य यहां बताये गए अधिकारों और स्वतन्त्रताओं में से किसी का भी विनाश करना हो।

14.6 अन्य प्रमुख मानवाधिकार संधियाँ

अंतर्राष्ट्रीय नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार संधि (International Covenant on Civil and Political Rights - ICCPR)

अंतर्राष्ट्रीय नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार संधि संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा 1966 में पारित बहुपक्षीय अनुबंध है, जो 1976 में प्रभावी हुआ। यह संधि हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों को प्रतिबद्ध करती है की वह सभी व्यक्तियों के नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों की रक्षा करें और उनके उल्लंघन की

स्थिति में प्रभावी उपाय सुनिश्चित करें। इस अनुबंध के अंतर्गत जीवन का अधिकार, धार्मिक स्वतन्त्रता, अभिव्यक्ति की आजादी, शांतिपूर्ण सभा और संघ की स्वतन्त्रता, खुले निष्पक्ष चुनाव, सम्यक विधि प्रक्रिया और निष्पक्ष सुनवाई जैसे अधिकार शामिल हैं। यह संधि आधुनिक मानवाधिकार के ढांचे का एक अधरस्तंभ मनी जाती है। भारत भी इस संधि के 174 हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों में से एक है।

अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार संधि (International Covenant on Economic, Social and Cultural Rights – ICESCR)

अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार संधि, संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा 1966 में पारित दूसरी प्रमुख बहुपक्षीय मानवाधिकार संधि है जो 1976 से लागू हुई। यह संधि हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों को आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों को मान्यता देने के लिए प्रतिबद्ध करती है। इस संधि के अंतर्गत शिक्षा का अधिकार, श्रमिकों के अधिकार, सामाजिक सुरक्षा, भोजन, आवास और स्वस्थ के अधिकार अथवा सांस्कृतिक जीवन में भागीदारी जैसे अधिकार शामिल हैं। यह संधि सामाजिक न्याय, समानता और मानवीय गरिमा के सिद्धांतों पर आधारित हैं। यह सभी हस्ताक्षरी राष्ट्रों को इन अधिकारों की पूर्ति के लिए आवश्यक विधिक, नीतिगत और संस्थागत ढांचे को स्थापित करने के लिए उत्तरदाई बनाता है। ये संधि इस बात को रेखांकित करती है की मानव विकास की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति को हस्ताक्षरी राष्ट्रों की प्रार्थमिक ज़िम्मेदारी है।

14.7 मानवाधिकार: समकालीन मुद्दे

14.7.1 सशस्त्र संघर्ष और मानवाधिकार

सशस्त्र संघर्ष के मध्य मानवाधिकारों की क्या स्थिति रहती है? कैसे युद्ध की स्थिति में आम नागरिकों का संरक्षण किया जाए? युद्ध में प्रतिभागी सैनिकों के अधिकारों का संरक्षण कैसे किया जाए? घायल और समर्पण कर चुके सैनिकों के साथ कैसा व्यवहार किया जाए? पराजित पक्ष के व्यक्तियों के साथ विजयी पक्ष का कैसा व्यवहार होना चाहिए? इन कुछ प्रश्नों के उत्तर के रूप में अंतर्राष्ट्रीय विधि में न्यायोचित युद्ध (जस्ट वार) के सिद्धान्त का विकास हुआ जो की आगे चल कर अंतर्राष्ट्रीय मानवीय कानून (इंटरनेशनल ह्यूमेनीटेरियन लॉ) के रूप में सामने आया।

अंतर्राष्ट्रीय मानवीय कानून (आईएचएल) अंतर्राष्ट्रीय विधि की एक शाखा है जो की सशस्त्र संघर्षों में प्रतिभागियों एवं उसमे उलझे आम नागरिकों के अधिकारों का निर्धारण एवं नियमन करता है। वैसे अंतर्राष्ट्रीय मानवीय कानून को अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार (इंटरनेशनल ह्यूमन राइट्स) का एक उपविषय माना जा सकता है परंतु अंतर्राष्ट्रीय मानवीय कानून के कई विशेषज्ञों का मानना है की

अंतर्राष्ट्रीय मानवीय कानून (आईएचएल) अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकारों (आईएचआर) से पुराना विषय है और मानाधिकारों का वर्तमान स्वरूप में विकास अंतर्राष्ट्रीय मानवीय कानून से ही हुआ है।

जेनेवा कोन्वेंशन और उसके वैकल्पिक प्रोटोकॉल आईएचएल के मुख्य आधार हैं। यह अंतर्राष्ट्रीय संधियाँ सशस्त्र संघर्ष में मानवाधिकारों की रक्षा के प्रमुख उपकरण हैं।

समसामयिक विश्व में रूस-यूक्रेन युद्ध, इज्राइल-गाजा युद्ध, सुदान गृह युद्ध जैसे सशस्त्र संघर्षों में अंतर्राष्ट्रीय मानवीय कानून के उल्लंघन की कई घटनाएँ सामने आयीं हैं जो की अंतर्राष्ट्रीय मानवीय कानून के लिए बड़ा संकट बन कर उभर रही हैं।

14.7.2 नस्लीय भेदभाव

नस्लीय भेदभाव, व्यक्ति के मानवाधिकारों का घोर उल्लंघन है। नस्लीय भेदभाव का अर्थ है किसी व्यक्ति को उसकी नस्ल, जाती और रंग के आधार पर हीन समझना और इस आधार पर उसके साथ भेदभाव करना। नस्लीय भेदभाव मनुष्य की गरिमा के विरुद्ध है और सामाजिक असमानता को बढ़ावा देता है। नस्लीय भेदभाव की समाप्ति के उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र ने 1965 में नस्लीय भेदभाव के सभी रूपों के उन्मूलन के लिए अंतर्राष्ट्रीय संधि (International Convention on the Elimination of All Forms of Racial Discrimination - ICERD) पारित करी, जो की 1969 से प्रभाव में आई। यह संधि अपने सभी हस्ताक्षरी राष्ट्रों को वचन-बद्ध करती है की वह नस्लीय भेदभाव के खिलाफ विधिक और नीतिगत उपाय अपनाएँगे और शिक्षा के बल पर नस्लीय वैमनस्य और पूर्वाग्रहों के उन्मूलन का प्रयास करेंगे।

समसामयिक जगत में पश्चिमी देशों में प्रवासियों और शरणार्थियों के प्रति भेदभाव और हिंसा, अमरीकी पुलिस प्रशासन में अश्वेतों के प्रति नस्लीय पूर्वाग्रह (#blacklivesmatter आंदोलन) एवं कई राष्ट्रों में नस्लीय अल्पसंख्यकों के खिलाफ संस्थागत पूर्वाग्रह और हिंसा, नस्लीय भेदभाव से जुड़े कुछ बड़े समकालीन मुद्दे हैं।

14.7.3 महिला अधिकार

महिला अधिकार, मानवाधिकार का एक अभिन्न अंग हैं। लैंगिक समानता और समता (gender equality and equity) मानवाधिकार क्षेत्र का एक प्रमुख मुद्दा रहा है। मानवाधिकार की सार्वभौमिक घोषणा पत्र के प्रारूप का जब निर्माण हो रहा था तब प्रथम अनुच्छेद में 'सभी पुरुष' शब्द प्रयुक्त किया गया था तब भारतीय प्रतिनिधि हंसा मेहता के सुझाव पर इसे बादल कर ' सभी मनुष्य' किया गया ताकि मानवाधिकार की इस अभूतपूर्व दस्तावेज़ में भी लैंगिक समानता के आदर्श की सपष्ट अभिव्यक्ति हो। ऐतिहासिक रूप से महिलाओं को शिक्षा, व्यवसाय, रोजगार, संपत्ति एवं

राजनीतिक सहभागिता के अवसरों से वंचित रखा गया अतः महिलाओं को सभी क्षेत्रों में समानता दिलवाना मानवाधिकार आंदोलनों का एक प्रमुख लक्ष्य रहा है। संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 1979 में महिलाओं के खिलाफ सभी प्रकार के भेदभाव उन्मूलन पर संधि (Convention on the Elimination of All Forms of Discrimination Against Women - CEDAW) पारित करी। यह संधि सभी हस्ताक्षरी राष्ट्रों को समाज के हर क्षेत्र में महिलाओं के खिलाफ भेदभाव और लैंगिक हिंसा को समाप्त करने के लिए कानूनी व नीतिगत उपाय करने के लिए प्रतिबद्ध करती है।

संयुक्त राष्ट्र के तत्वधन में चार विश्व महिला सम्मेलनों के भी आयोजन किया गया।

1. **प्रथम सम्मेलन (1975, मेक्सिको सिटी):** यह सम्मेलन "अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष" के दौरान आयोजित किया गया जिसमें पहली बार वैश्विक स्तर पर महिलाओं के अधिकार, लैंगिक-समानता और विकास पर व्यापक चर्चा हुई।
2. **द्वितीय सम्मेलन (1980, कोपेनहेगन):** इसमें महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी, शिक्षा और स्वास्थ्य पर जोर दिया गया और सरकारों से इन क्षेत्रों में नीतिगत प्रतिबद्धता की मांग रखी गई।
3. **तृतीय सम्मेलन (1985, नैरोबी):** इस सम्मेलन में "नैरोबी फॉरवर्ड-लुकिंग स्ट्रेटेजीज" को सामने रखा गया, जो महिला विकास के लिए भविष्य की एक व्यावहारिक रूपरेखा थी। इसमें सम्मेलन में पहली बार महिलाओं के विकास में सांस्कृतिक, कानूनी और आर्थिक बाधाओं पर ध्यान दिया गया।
4. **चतुर्थ सम्मेलन (1995, बीजिंग):** इस सम्मेलन में "बीजिंग घोषणा और कार्ययोजना" (Beijing Declaration and Platform for Action) को अपनाया गया। इसमें 12 प्राथमिक क्षेत्रों की पहचान की गई जिन पर महिला सशक्तिकरण के लिए सरकारों को कार्य करना चाहिए। यह कार्ययोजना आज भी वैश्विक स्तर पर नीति निर्माण का आधार बनी हुई है।

इन सम्मेलनों के माध्यम से महिला अधिकारों को मानवाधिकार विमर्श के केंद्र में लाने का प्रयास किया गया।

समसामयिक जगत में लैंगिक हिंसा और महिला सुरक्षा, घरेलू हिंसा, शिक्षा एवं व्यवसाय के अवसरों में भेदभाव, कार्य स्थल में यौन उत्पीड़न, असमान वेतन जैसे कई मुद्दे हैं जो की अभी भी चिंतन का विषय बने हुए हैं।

14.7.4 बाल अधिकार

बाल अधिकार मानवाधिकारों का एक महत्वपूर्ण आयाम हैं। सभी बच्चों को सुरक्षा, शिक्षा, पोषण और एक सम्मानपूर्ण जीवन का अधिकार है। बच्चे समाज का भविष्य हैं यह समाज का कर्तव्य है की वह उन्हें शोषण, उत्पीड़न, हिंसा और उपेक्षा का शिकार होने से बचाए। न केवल उनका संरक्षण परंतु बच्चों का विकास भी एक सामाजिक दायित्व है।

संयुक्त राष्ट्र ने 1989 में **बाल अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र कन्वेंशन**" (UN Convention on the Rights of the Child - UNCRC) को पारित किया, जो 1990 से प्रभाव में आई। यह संधि बाल-अधिकार क्षेत्र में सबसे विस्तृत और व्यापक संधि है। यह संधि निम्न मूल सिद्धांतों पर आधारित है-

- गैर-भेदभाव – यह सभी अधिकार समान रूप से सभी बच्चों को उपलब्ध हैं।
- बच्चों के सर्वोत्तम हित को प्रार्थमिका
- जीवन और विकास का अधिकार।
- बच्चों को अपनी राय व्यक्त करने का अधिकार है

भारत भी इस संधि का एक हस्ताक्षरी राष्ट्र है। बाल अधिकारों के संरक्षण के लिए भारत में कई विधिक और नीतिगत प्रयास किए गए हैं। संविधान के अनुच्छेद 21A के अंतर्गत 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार दिया गया है।

बाल श्रम (निषेध और विनियमन) संशोधन अधिनियम, 2016, बाल विवाह निषेध अधिनियम, 2006, और यौन अपराधों से बच्चों का संरक्षण अधिनियम (POCSO), 2012 जैसे कानून बच्चों को शोषण से बचाने के लिए लागू किए गए हैं।

2007 में बाल अधिकारों की रक्षा के लिए **राष्ट्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग** (एन.सी.पी.सी.आर) का गठन किया गया जो की बाल अधिकारों का संरक्षण और निगरानी करने वाला एक स्थायी आयोग है।

वैश्विक स्तर पर आज विकासशील राष्ट्रों में बाल श्रम, सशस्त्र संघर्षों और युद्ध क्षेत्र में फंसे बच्चे, शरणार्थी बच्चों की दुर्दशा, मानव तस्करी के शिकार बच्चों के अधिकार और ऑनलाइन शोषण से बच्चों की रक्षा जैसे मुद्दे बाल अधिकारों के समक्ष नई चुनौतियां पेश कर रहे हैं।

14.7.5 मानव तस्करी

मानव तस्करी मनवाधिकारों का घोर उल्लंघन है। मानव तस्करी से अभिप्राय है वह स्थिति जिसमें किसी महिला, पुरुष या बच्चे को बल-प्रयोग, छल-कपट, झूठे वादों के माध्यम से शोषण की विभिन्न स्थितियों में धकेला जाता है। इसमें जबरन श्रम, देह-व्यापार, अंग-व्यापार जैसे उद्देश्य शामिल हैं।

मानव तस्करी एक व्यापक वैश्विक समस्या है। आर्थिक परिस्थिति का फायदा उठाते हुए मानव तस्कर पीड़ितों को झूठे वादे और आश्वासन देकर उन्हें दूसरे देशों में लाते हैं और वहाँ उनसे जबरन श्रम, बंधुआ मजदूरी और देह व्यापार जैसे कृत्य करवाते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर गरीब राष्ट्रों के नागरिक आर्थिक अवसरों की खोज में मानव तस्करों के शिकार होते हैं। यह मानव तस्कर उन्हें विदेश में बेहतर आर्थिक अवसर का झांसा देकर दूसरे राष्ट्रों में लाते हैं और फिर उनके शोषण का दुष्चक्र शुरू होता है। मध्य पूर्व के अमीर खाड़ी देशों में दक्षिण, दक्षिण पूर्व एशिया तथा अफ्रीका के गरीब राष्ट्रों से इस प्रकार लोगों लाया जाता है। वहाँ उनके पासपोर्ट ज़ब्त कर लिए जाते हैं। एक अनजान जगह में यह पीड़ित किसी प्रकार की विधिक सहायता नहीं ले पाते। ऐसी स्थिति में मानव तस्करों का उनके पीड़ितों पर पूर्ण नियंत्रण होता है और वह उनसे मनमाने ढंग से व्यवहार कर सकते हैं। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र अमरीका, कनाडा और पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों में भी तस्कर इस प्रकार गरीब राष्ट्र के लोगों को तस्करी कर लाते हैं। मानव तस्करों का निशाना समाज के कमजोर तबके पर होता है जिन्हें वह आसानी से बल प्रयोग, प्रलोभन, छल इत्यादि से अपने जाल में फंसा लेते हैं। देश के भीतर भी मानव तस्कर यही तरीका अपनाते हैं। मानव तस्कर संगठित अपराध के अंतर्राष्ट्रीय नेटवर्क का अभिन्न अंग हैं, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव तस्करी संगठित अपराधी नेटवर्कों की आय के मुख्य साधनों में से एक हैं।

मानव तस्करी की संपत्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र ने 2000 में पलेर्मो प्रोटोकॉल (Protocol to Prevent, Suppress and Punish Trafficking in Persons, especially Women and Children) पारित किया, जो की संयुक्त राष्ट्र के संगठित अपराध के विरुद्ध कोन्वेंशन (United Nations Convention against Transnational Organized Crime) का भाग है। यह प्रोटोकॉल मानव तस्करी को स्पष्ट रूप से परिभाषित करता है और सदस्य देशों को पीड़ितों की रक्षा, अपराधियों पर कार्रवाई, और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए बाध्य करता है।

भारत में अनुच्छेद 23 के अंतर्गत मौलिक अधिकार मानव तस्करी, बेगार और बंधुआ मजदूरी आदि सभी प्रकार के जबरन श्रमों को प्रतिबंधित करता है। इसके अतिरिक्त **बाल श्रम निषेध अधिनियम, बॉन्डेड लेबर सिस्टम (उन्मूलन) अधिनियम, 1976** जैसे कानून मानव तस्करी के विरुद्ध पारित किए गए हैं। 2016 में सरकार ने **-ट्रैफिकिंग ऑफ पर्सन्स (प्रिवेंशन, प्रोटेक्शन एंड**

रिहैबिलिटेशन) बिल संसद में प्रस्तुत किया गया था, जो एक व्यापक विधेयक था परंतु कुछ कारणों से यह बिल पास नहीं हो पाया।

मानव तस्करी की रोकथाम केवल कानूनी या सुरक्षा का मामला नहीं है, बल्कि यह एक सामाजिक, आर्थिक और नैतिक संघर्ष भी है। पीड़ितों के पुनर्वास, शिक्षा, आर्थिक सशक्तिकरण, और समाज में पुनः सम्मिलन सभी के लिए प्रयास करने ज़रूरी हैं।

14.7.6 पर्यावरण और मानवाधिकार

जलवायु परिवर्तन की चुनौती केवल एक पर्यावरणीय मुद्दा नहीं है बल्कि मानवाधिकारों के लिए भी संकट बनता जा रहा है। बढ़ते जलवायु परिवर्तन के कारण हम आज अतिवृष्टि, बाढ़, भूस्खलन, सूखा, अत्यधिक गर्मी जैसे घटनाओं में तीव्र गति से इजाफ़ा हो रहा है। बदलते जलवायु परिदृश्य के कारण कृषि पर नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है जिससे खाद्य व्यवस्था पर संकट आने की संभावना है। बढ़ते समुद्र स्तर से तटीय इलाकों के निवासियों पर विस्थापन का संकट आ सकता है। कई छोटे द्वीपीय राष्ट्रों पर अस्तित्व का संकट तक मंडरा रहा है। इन सभी घटनाओं का सर्वाधिक प्रभाव समाज के कमजोर तबके पर पड़ेगा। विश्व में भी इन घटनाओं का अधिक प्रभाव हम अधिकांश गरीब राष्ट्र में देखते हैं जो की इस बदलते परिदृश्य का सामना करने के लिए सबसे कम तयार हैं।

जलवायु परिवर्तन का प्रभाव विश्व भर में सभी के आय के साधन, आवास, भोजन और जीवन स्तर पर पड़ने वाला है। 2021 में, संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार परिषद (UNHRC) द्वारा पारित प्रस्ताव में सुरक्षित, स्वच्छ, स्वस्थ पर्यावरण को एक मानवाधिकार के रूप में मान्यता दी गई है। यह निर्णय क्योंकि स्वस्थ पर्यावरण विभिन्न मानवाधिकारों के पूर्ण आनंद के लिए अनिवार्य है।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर, संयुक्त राष्ट्र जलवायु परिवर्तन फ्रेमवर्क कन्वेंशन (UNFCCC), क्योटो प्रोटोकॉल, और पेरिस समझौता (2015) जैसे प्रयासों के ज़रिए जलवायु परिवर्तन को नियंत्रित करने का प्रयास हो रहा है। पेरिस समझौते में भी जलवायु परिवर्तन को एक मानवाधिकार मुद्दे के रूप में स्वीकारा है।

14.8 सारांश

मानवाधिकार वह अधिकार हैं जो मनुष्यों को मनुष्य होने के नाते प्राप्त होने चाहिए, इन अधिकारों का आधार मनावमात्र की अंतर्निहित गरिमा है। मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा से इन अधिकारों को वैश्विक मान्यता दिलाने का एक प्रयास था।

इस घोषणा के पश्चात मानवाधिकार के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई है परंतु समसामयिक जगत में आज दुनिया के कई हिस्सों में युद्ध, आतंकवाद, शरणार्थी संकट, गरीबी, नस्लीय भेदभाव और जलवायु परिवर्तन जैसे संकट मानवाधिकारों को चुनौती दे रहे हैं।

आज मानवाधिकारों के प्रति जागरूक और सजग होना अति आवश्यक है ताकि मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के आदर्शों का प्रभावी क्रियान्वयन किया जा सके और मनुष्य की अंतर्निहित गरिमा की रक्षा की जा सके।

14.9 शब्दावली

1. **मानवाधिकार (Human Rights)** वे मूलभूत अधिकार होते हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को मानव होने के नाते प्राप्त होने चाहिए। इनमें जीवन, स्वतंत्रता, समानता, गरिमा, और सुरक्षा जैसे अधिकार शामिल हैं जो बिना किसी भेदभाव के सभी को मिलने चाहिए।

2. **मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (UDHR)** वर्ष 1948 में संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा पारित यह एक ऐतिहासिक दस्तावेज है, जिसमें 30 अनुच्छेदों के माध्यम से सभी व्यक्तियों के लिए समान अधिकारों की घोषणा की गई है। यह घोषणा विधिक रूप से बाध्यकारी नहीं है, परंतु अधिकांश देशों की मानवाधिकार नीति का आधार बनती है।

3. **अंतर्राष्ट्रीय नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार संधि (ICCPR)** वर्ष 1966 में पारित और 1976 में प्रभावी हुई यह संधि व्यक्ति के नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की सुरक्षा करती है, जैसे जीवन का अधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, विचार, धर्म और न्यायिक संरक्षण का अधिकार।

4. **अंतर्राष्ट्रीय मानवीय कानून (International Humanitarian Law - IHL)** यह उन कानूनों का समूह है जो सशस्त्र संघर्ष की स्थिति में लागू होते हैं। इसका उद्देश्य युद्ध के दौरान नागरिकों, घायल सैनिकों और युद्ध बंदियों की रक्षा करना है। जेनेवा संधियाँ इसका प्रमुख उदाहरण हैं।

5. सीडॉ (CEDAW) यानी "महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के भेदभाव को समाप्त करने की संधि", जिसे संयुक्त राष्ट्र ने 1979 में पारित किया था। यह महिला अधिकारों के संरक्षण की दिशा में एक महत्वपूर्ण वैश्विक दस्तावेज़ है।

6. अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार संधि (ICESCR) यह भी 1966 में पारित और 1976 में लागू हुई संधि है जो शिक्षा, स्वास्थ्य, श्रम, सामाजिक सुरक्षा और सांस्कृतिक भागीदारी जैसे अधिकारों की रक्षा करती है।

7. प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) ये वे अधिकार हैं जो किसी व्यक्ति को जन्म से प्राप्त होते हैं और राज्य या संस्था द्वारा छीने नहीं जा सकते। जॉन लॉक जैसे विचारकों ने इन्हें जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति के रूप में परिभाषित किया।

8. मानव तस्करी (Human Trafficking) यह एक गंभीर मानवाधिकार हनन है जिसमें व्यक्तियों को धोखे, बल प्रयोग या लालच देकर शोषण के उद्देश्य से लाया-जाया जाता है। इसमें श्रम शोषण, यौन शोषण और अंग तस्करी शामिल हो सकती है।

14.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. रोना के. एम. स्मिथ – टेक्स्टबुक ऑन इंटरनेशनल ह्यूमन राइट्स
2. एस. के. कपूर – ह्यूमन राइट्स अंडर इंटरनेशनल लॉ एंड इंडियन लॉ
3. <https://www.un.org/en/about-us/universal-declaration-of-human-rights>
4. मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा हिन्दी में,
https://www.ohchr.org/sites/default/files/UDHR/Documents/UDHR_Translations/hnd.pdf

14.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. जैक डॉनली – यूनिवर्सल ह्यूमन राइट्स इन थ्योरी एंड प्रैक्टिस

14.12 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उत्तर

1. मानव तस्करी के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र द्वारा पारित पलेर्मो प्रोटोकॉल किस वर्ष आया था?
A. 1998

B. 2000

C. 2005

D. 2010

2. मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (UDHR) किस वर्ष पारित की गई थी?

A. 1945

B. 1947

C. 1948

D. 1950

3. अंतर्राष्ट्रीय नागरिक और राजनीतिक अधिकार संधि (ICCPR) किस वर्ष प्रभावी हुई?

A. 1948

B. 1956

C. 1966

D. 1976

उत्तर: 1. - B. 2000, 2. - C. 1948, 3. - D. 1976

14.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. द्वितीय विश्व युद्ध के बाद मानवाधिकारों के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र के योगदान का वर्णन करें।

2. नस्लीय-भेदभाव मानवाधिकारों के लिए किस प्रकार चुनौती प्रस्तुत करता है? नस्लीय भेदभाव के विरुद्ध अंतरराष्ट्रीय स्तर पर क्या उपाय किए गए हैं?

3. जलवायु परिवर्तन को मानवाधिकार समस्या के रूप में क्यों देखा जाता है? इस संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र और अन्य अंतरराष्ट्रीय प्रयासों की भूमिका पर चर्चा करें।

